तित्थयर भावणा

- मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज

तित्थयर भावणा

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

आचार्य अकलंक देव जैन विद्या शोधालय समिति

१०९, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन (४७६०१०)

लेखक : मुनि प्रणम्यसागर

संस्करण :

आवृति :

वेबसाइट :

मुद्रक

non copy right

अधिकार : किसी को भी प्रकाशित करने का अधिकार है, किन्तु स्वरूप, ग्रन्थ नाम, लेखक, सम्पादक एवं स्तर परिवर्तन न करें, हम आपके सहयोग के लिए तत्पर हैं, प्रकाशन के पूर्व हमसे लिखित अनुमति अवश्य प्राप्त करें। आप इसे डाउनलोड भी कर सकते हैं।

अन्तर्भावना-प्रस्तावना

भाव जीव-अजीव प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं किन्तु भावना मात्र जीव में ही पाई जाती है। 'भाव प्रधान' जैनदर्शन में प्रत्येक क्रिया भाव के साथ जुड़ी है। भावना भवनाशिनी' कही है। इससे स्पष्ट है कि भाव और भावना में अन्तर है। जीव के साथ हमेशा रहने वाले औदयिक आदि पाँच भाव हैं। ये सामान्य भाव हैं। भावना जीव की पुरुषार्थशीलता का द्योतक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ भावना पर आधारित हैं। किसी भी पुरुषार्थ को करने से पहले जो चिन्तन, मनन और तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है वही भावना है। अरिहन्त तीर्थंकरों के द्वारा आगे बढ़ने वाला 'जिनशासन' उस जीव की पूर्व जन्म में भाई हुई तीव्र भावनाओं का फल है। विशिष्ट पुण्य और पाप प्रकृति का बन्ध जीव की विशिष्ट भावनाओं से होता है सामान्य भावों से नहीं। भावना शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती है । अत्यन्त शुभ भावना का फल तीर्थंकर प्रकृति का बंध कहा है।

सिद्धान्त की दृष्टि से इस तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला जीव असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशामक और क्षपक जीव तक होते हैं । अपूर्वकरण गुणस्थान के संख्यात बहुभाग के व्यतीत हो जाने पर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध व्युच्छिन्न हो जाता है।

इस तीर्थंकर कर्म प्रकृति के बन्ध के लिए बाह्य सहयोगी कारण केवली या श्रुतकेवली का पादमूल है। इसके अतिरिक्त अन्तरङ्ग कारण सोलहकारण भावना हैं । षट्खण्डागम सूत्र में कहा है कि

'तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयर णामगोदकम्मं बंधति।'ध.पु. ८ सूत्र ४०

अर्थात् वहाँ इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बंध करते हैं।

मुख्य पुरुषार्थगम्य भावात्मक अन्तरङ्ग कारण तो सोलह भावना हैं। केवलि द्विक का सान्निध्य तो सामान्य कारण है इसलिए उसका कथन सूत्र ग्रन्थ में नहीं कहा है । तत्त्वार्थ सूत्र में भी इन सोलह कारण भावनाओं को तीर्थंकर बंध का कारण कहा है। केवली द्विक का सान्निध्य सामान्य कारण है, इसलिए अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव होने से उसका यहाँ कथन नहीं है।

सोलहकारण भावनाएँ जो तत्त्वार्थ सूत्र के छठवें अध्याय में वर्णित हैं उन्हीं का जन सामान्य में प्रचलन प्रवाहमान है । षट्खण्डागम सूत्रों में भी उन सोलह कारण भावनाओं का वर्णन है । आचार्य उमास्वामी जी से भी प्राचीन आचार्य भूतबली द्वारा रचित उन भावनाओं के क्रम और नाम में कुछ अन्तर है। यह अन्तर जानने के लिए यहाँ प्राकृत और संस्कृत दोनों मूल ग्रन्थों के नाम, क्रम में क्या अन्तर है? यह एक साथ तुलनात्मक रीति से देखते हैं।-

सोलहकारण भावनाओं के नाम एवं क्रम

षट्खण्डागम सूत्र में (प्राकृत)	तत्त्वार्थ सूत्र में (संस्कृत)
१. दर्शनविशुद्धता	१. दर्शनविशुद्धि
२. विनय सम्पन्नता	२. विनय सम्पन्नता
३. शीलव्रतों में निरतिचारता	३. शील, व्रतों में अनतिचार
४. छह आवश्यकों में अपरिहीनता	४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग
५. क्षण-लव-प्रतिबोधनता	५. अभीक्ष्ण संवेग
६. लब्धि संवेग सम्पन्नता	६. शक्तितः त्याग
७. यथाशक्ति तथा तप	७. शक्तितः तप
८. साधुओं की प्रासुक परित्यागता	८. साधु समाधि
९. साधुओं की समाधि संधारणता	९. वैयावृत्यकरण
१०. साधुओं की वैयावृत्य योगयुक्तता	१०. अर्हद्भक्ति
११. अरहन्त भक्ति	११. आचार्य भक्ति
१२. बहुश्रुत भक्ति	१२. बहुश्रुत भक्ति
१३. प्रवचन भक्ति	१३. प्रवचनभक्ति
१४. प्रवचन वत्सलता	१४. आवश्यक अपरिहाणि
१५. प्रवचन प्रभावना	१५. मार्ग प्रभावना
१६. अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता	१६. प्रवचन वत्सलत्व

इस तरह हम देखते हैं कि चौथी भावना से क्रम एवं नाम में अन्तर दिखने लगता है। षट्खण्डागम सूत्र में कुछ नाम ही भिन्न दिखते हैं, इनका अर्थ श्रीधवला टीका में जो लिखा है उसी को यहाँ मात्र लिखते हैं

५. क्षण-लव-प्रतिबोधनता- क्षण और लव ये काल विशेष के नाम हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील गुणों को उज्जवल करने, मल को धोने अथवा जलाने का नाम प्रतिबोधन और इसके भाव का नाम प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण या लव में होने वाले प्रतिबोध को क्षण-लव-प्रतिबुद्धता कहा जाता है।

६. लब्धि संवेग सम्पन्नता- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में जो जीव का समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं। हर्ष और सन्तोष का नाम संवेग है। लब्धि से या लब्धि में संवेग का नाम लब्धि संवेग और उसकी सम्पन्नता का अर्थ सम्प्राप्ति है।

८. साधुओं की प्रासुक परित्यागता- साधुओं के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्य ज्ञान-दर्शन आदिक के त्याग से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। विशेष- छठवीं भावना की दूसरी गाथा में देखें।

शेष भावना के नाम वहीं हैं जो किञ्चित् मात्र अन्तर के साथ हैं किन्तु उनका क्रम आगे-पीछे है।

लब्धि संवेग सम्पन्नता की तुलना अभीक्ष्ण संवेग से, साधुओं की प्रासुक परित्यागता की तुलना शक्तितःत्याग से, प्रवचन प्रभावना की समानता मार्ग प्रभावना से करने में कोई बाधा नहीं है। विशिष्ट अन्तर एक मात्र यह प्रतिभासित होता है कि षट्खण्डागम सूत्र में आचार्य भक्ति नहीं है किन्तु एक नई भावना 'क्षण-लव प्रतिबोधनता' है।

एक और विशिष्ट तथ्य यह है कि षट्खण्डागम सूत्रों में भावनाओं के नाम के अन्त में 'ता' प्रत्यय का प्रयोग किया है। यह 'ता' प्रत्यय उस संज्ञा के भाव पक्ष पर जोर डालता है। तत्त्वार्थ सूत्र में मात्र 'विनय सम्पन्नता के साथ 'ता' प्रत्यय का प्रयोग है और प्रवचन वत्सलत्व' में 'त्व' प्रत्यय का प्रयोग है। यह 'त्व' प्रत्यय भी 'ता' प्रत्यय की तरह भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है। षटखण्डागम सूत्र में अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की जगह अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नाम भी अपनी विशिष्टता रखता है। इसी तरह मार्ग प्रभावना की जगह प्रवचन प्रभावना नाम दिया है। इसका अर्थ धवला टीका में इस तरह है

'आगमार्थ का नाम प्रवचन है। उसके वर्णजनन अर्थात् कीर्ति विस्तार या वृद्धि करने को प्रवचन की प्रभावना और उसके भाव को प्रवचन प्रभावनता कहते हैं।'

इस दोनों परम्पराओं को देखते हुए सर्वत्र प्रचलित और मान्य परम्परा रूप से जो भावनाएँ तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित हैं, उन्हीं के अनुसार इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा में क्रम रखा है। मात्र 'शक्तितःत्याग' भावना का नाम 'पासुग परिच्चागदा' अर्थात् प्रासुक परित्याग भावना नाम दिया है, ताकि षट्खण्डागम सूत्र की परम्परा का समावेश भी हो जाय और भव्य जनों को यह परम्परा भी ज्ञात हो।

जैसे बारह भावनाओं पर 'वारसाणुवेक्खा' ग्रन्थ है उसी तरह सोलहकारण भावना पर कोई भी ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया। इन सोलहकारण भावना की जैनदर्शन में बहुत महत्ता है इसी विचार से अपनी आत्मा को संस्कारित करने के लिए और भव्य जीवों के हित को भी ध्यान में रखते हुए प्राकृत भाषा' में गाथा रूप में यह ग्रन्थ लिखने का अतिपुण्य संयोग से यह कार्य हुआ है।

सम्यग्दृष्टि पुरुषों द्वारा त्रेपन क्रियाओं का पालन किया जाता है। ये क्रियाएँ आदिपुराण में विस्तृत रूप से कही हैं। इन्हीं क्रियाओं में छब्बीसवीं तीर्थकृद्भावना नाम की क्रिया है । इस क्रिया का संस्कार भी बुद्धिपूर्वक भावना करके अपनी आत्मा पर डाला जाता है।

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः।

विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्त्वस्य भावनाम्॥३८/१६४

सातु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी।

सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता॥१६५

अर्थात् 'जिसने समस्त आचार शास्त्र का अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रों के अध्ययन से जिसने समस्त श्रुतज्ञान का विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थंकर पद की भावनाओं का अभ्यास करे। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि रखना आदि जिसके लक्षण हैं, जो महान् ऐश्वर्य को देने वाली हैं तथा पहले जिनका विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है, ऐसी भावनाएँ सोलह मानी गयी हैं। यह छब्बीसवीं(२६वीं) तीर्थकृद्भावना नाम की क्रिया है।'

इस तरह यह ग्रन्थ इस क्रिया का संस्कार डालने में सभी भव्य जीवों को सहयोगी बने इसी भावना से "तित्थयर भावणा' नाम से यह ग्रन्थ प्राकृत की १३० गाथाओं और हिन्दी व्याख्या के साथ लिखा गया है। पद्यानुवाद और अन्वयार्थ करके इसको परिपूर्ण सुगम बनाने का प्रयास किया है। माँ जिनवाणी की प्रसन्नता में यदि यह कृति साधक बन सकी तो यह नन्हा पुत्र अपना जीवन सफल अनुभव करेगा। आचार्य परमेष्ठी श्री विद्यासागर जी की चरण सेवा से यत् किञ्चित् ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और चारित्रमोहनीय की तीन चौकड़ी के अनुदय से जो संयम लब्धिस्थान प्राप्त हुए हैं उसी ज्ञान और संयम का यह परिपाक गुरुदेव के चरणों में ही समर्पित है।

बरेला ग्रीष्मयोग **मुनि प्रणम्यसागर**

३१ मई २०१२

अनुक्रमणिका

विषय		पेज नं0
1.	सम्मत्त विसोही भावणा (सम्यक्त्व विशुद्धि भावना)	1-20
	(i) अरिहंत भगवान् के 34 अतिशयों का वर्णन	
	(ii) अष्ट प्रतिहार्य एवं अनंत चतुष्टय	
	(iii) सुमेरु पर्वत की महिमा	
2.	विणय भावना (विनय भावना)	21-30
	(i) तप के भेद	
3.	णिरदियार सीलभावणा (निरतिचार भावना)	31-44
	(i) अतिक्रम, व्यक्ति व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार की परिभाषा	
4.	णाण भावणा (ज्ञान भावना)	45-50
5.	संवेग भावणा (संवेग भावना)	51-58
	(i) स्थावर पर्याय का वर्णन	
	(ii) गर्भावस्था के दुःख	
	(iii) चार अनुयोगों का वर्णन	
6.	तवो भावणा (तप भावना)	59-71
	(i) राजा अन्धकतत्रष्णि (भगवान ने मिनाथ के दादा) के पूर्व भवों की कथा	
	(ii) तप के 12 भेद	
	(iii) नन्दिषेण मुनिराज का निदान बंध	
	(iv) राजा कंस के पूर्व भव की कथा	
7.	पासुक परिच्चागदा	72-81
	(i) दान का फल	
	(ii) गृहस्थ का मुख्य धर्म क्या?	
8.	हुसमाहि भावणा (साधु समाधि भावना)	82-89
	(i) पराश्ति साधु समाधि	
	(ii) स्वाश्ति साधु समाधि	

9. वेज्जावच्च भावणा 90-96

(i) वैयावृत्य तप में प्रसिद्ध नन्दिषेण मुनिराज की कथा

10. अरिहंत भन्ती (आचार्य भक्ती) 97-105

(i) पुण्य के भेदों का वर्णन

11. आइरिय भन्ती (अरिहंत भक्ती) 106-110

12. बहुसुदभन्ती (बहुश्रुतभक्ती) 111-127

(i) सती सुलोचना का उपसर्ग प्रसंग

13. पवयण भत्ती (प्रवचन भक्ती) 128-161

(i) छः द्रव्यों का कथन

(ii) आस्रव के भेद

(iii) तीन करण परिणाम (अद्यः प्रवृत्तकरण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) की व्याख्या

(iv) अरिहंत परमात्मा के भेद

(v) राजा श्वेतवाहन का उपसर्ग प्रसंग

14. आवस्सयापरिहीण भावणा (आवश्यका पारिहाणि भावना) 162-186

(i) श्रावक के छः आवश्यक

(ii) श्रमण के छः आवश्यक और छः काल

(iii) सुखी जीवन के छः सूत्र
(स्तुति, प्रार्थना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, कार्योत्सर्ग, सामायिक)

(iv) धर्म ध्यान के भेद

15. मग्गपहावण भावणा (मार्गप्रभावना भावना) 187-210

(i) पोदनपुर के राजा का प्रसंग

(ii) 2 प्रकार के सहधर्मी जीव

16. पवयण वच्छलन्त भावणा (प्रवचन वात्सल्य भावना) 221-226

तित्थयर भावणा

1. सम्मत्त-विसोही

तित्थयरं केवलियं पणमिय सिरसा विसुद्धभावेण।
तित्थयरं भावेमि हु अप्प विसोहि कारणटुं य॥१॥

तीर्थंकर केवली भगवन को हाथ जोड़कर झुककर के
मन से, तन से और वचन से भाव शुद्धि को रख करके।
मैं प्रणाम करता हूँ नित ही और उन्हीं को ध्याता हूँ
आत्म विशुद्धि बढ़े हमारी भाव यही मन लाता हूँ॥१॥

अन्वयार्थ : [विसुद्धभावेण] विशुद्ध भाव से **[तित्थयरं केवलियं]** तीर्थंकर केवली को **[सिरसा]** शिर से **[पणमिय]** प्रणाम करके **[हु]** निश्चय से **[तित्थयरं]** तीर्थंकर के स्वरूप की **[अप्पविसोहि कारणटुंय]** आत्मा की विशुद्धि के लिए **[भावेमि]** मैं भावना करता हूँ।

भावार्थ : आत्मा में पुण्य के संयोग से जितनी विशुद्धि है उसी विशुद्धि के भाव से मैं शिर झुकाकर तीर्थंकर केवली को नमस्कार करता हूँ और आत्मा की विशुद्धि के लिए तीर्थंकर की भावना करता हूँ।

यहाँ तीर्थंकर की भावना से ऐसा नहीं समझना कि तीर्थंकर के पद की भावना कर रहा हूँ किन्तु उन तीर्थंकर के स्वरूप, उनकी महिमा को अपने स्मरण में लाकर उनकी भावना करता हूँ , यह अभिप्राय जानना। उन तीर्थंकर के स्वरूप का चिन्तन करना, उनके अतिशयों को भाना, उनके दिव्य स्वरूप को मन में लाना यह आत्मा की विशुद्धि में कारण है। आत्मा की विशुद्धि तीर्थंकर केवली को पुनः पुनः नमस्कार करने से अधिकाधिक होती है। इसी से सम्यक्त्व की विशुद्धि बढ़ती है।

नन्दीश्वर भक्ति में आचार्य पूज्यपाद देव ने जो अतिशयों का वर्णन किया है, उसकी भावना या अन्यत्र ग्रन्थ से, स्तुति के माध्यम से तीर्थंकर को मन से स्पर्श करना, उनकी भक्ति, गुणानुवाद में राग को बढ़ाना सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाता है।

वैसे तो सामान्य केवली, मूक केवली आदि केवली भगवान के सात प्रकार हैं, पर उन सभी में तीर्थंकर केवली ही अतिशय महिमावान और तीर्थ प्रवर्तक होने से महान् उपकारी होते हैं तथा समवशरण में उनके दिव्य स्वरूप का दर्शन मात्र ही असंख्यात भव्यों के कल्याण का एक निमित्त बनता है इसलिए यहाँ मुख्य रूप से तीर्थंकर केवली को नमस्कार करके उनकी ही भावना की है।

हे आत्मन् ! भावना का महत्त्व ज्ञान से ज्यादा है। ज्ञान एक साथ सब कुछ पा जाना चाहता है। भावना धीरेधीरे शक्ति अर्जित करते हुए सब पा जाती है । ज्ञान से कभी भी तीर्थंकर पद नहीं मिल सकता है, भावना से ही तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है । ज्ञान में सिर्फ कार्य दिखता है किन्तु भावना से गुणवत्ता आती है। पाषाण से भगवान की मूर्ति बनाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। पाषाण को समझने के लिए ज्ञान चाहिए, उसे शिल्पकला से मूर्ति का रूप देने में ज्ञान चाहिए। उस पाषाण को सुन्दर कलाकृति ज्ञान के द्वारा बनाया जाता है। किन्तु पाषाण में भगवत् सत्ता ज्ञान के द्वारा नहीं आ सकती है। पाषाण की मूर्ति को भगवान् बनाने के लिए भावना की आवश्यकता है । मन्त्र में शक्ति भी भावना से आती है। एक मन्त्र का उच्चारण कर लेना, पढ़ना, सीख लेना तो ज्ञान है किन्तु उस मन्त्र को सिद्ध करना भावना के बिना सम्भव नहीं है। उन सिद्ध मन्त्रों को उस पाषाण मूर्ति में प्रतिष्ठित किया जाता है तब वह मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है। तभी उस मूर्ति में जीवन्तता आती है। प्राण प्रतिष्ठा इसीलिए कहा जाता है कि उस मूर्ति में प्राण डाल दिये गये हैं। प्राण भावना की प्रगाढ़ता है। भावना की विशुद्धि ही उस पाषाण मूर्ति को जीवन देती है।

एक कर्म कलंकित आत्मा भी संसारी दशा में जब सोलह कारण भावना भाता है तो वह भगवत्पद को प्राप्त कर लेता है। भावनाओं का ही यह महत्त्व है, ज्ञान का नहीं।

भावना पाषाण को भगवान बना देती है
साधना अभिशाप को वरदान बना देती है।
विवेक का स्तर नीचे गिर जाने पर,
वासना इन्सान को शैतान बना देती है।

आयुर्वेद में चौंसठ पहरी पीपल बनाई जाती है। जो औषधि का काम करती है। चौंसठ पहर तक इस पीपल के ऊपर चोट मारी जाती है तब उसमें वह औषधीय गुण प्रकट होता है। यदि कोई ज्ञान से यह गणित लगाए कि एक पहर (यानी ३ घंटे) में इतनी चोटें पड़ती हैं तो मशीन के द्वारा उतनी चोटें कुछ मिनट में देकर उस पीपल को औषधि बना लें। यह सम्भव नहीं है । ज्ञान से काम चलाया जा सकता है किन्तु सही गुणवत्ता तो भावना से ही आती है। ज्ञान से सार तत्त्व की जानकारी होती है किन्तु भावना से उस सार की अनुभूति होती है। भावनाओं का इतना महत्त्व है कि भगवान् महावीर ने मात्र पाँच महाव्रत का ही उपदेश नहीं दिया किन्तु उन महाव्रतों की सुगंधि साधक के जीवन में फैले इसके लिए उन्होंने एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएं भी बताई हैं।

जैन दर्शन में भावनाओं का महत्त्व ज्ञान से ज्यादा है। ज्ञान मुख में रखे ग्रास को निगल जाता है और भावना उस ग्रास को कम से कम ३२ बार चबाता है । चबाने से शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है। आँतों को

काम कम करना पड़ता है। पूरा भोजन सरलता से पचता है और शरीर को पुष्टि देता है। यदि दाँत का काम कम होगा तो आँतों को काम करना पड़ेगा जिससे जल्द ही आँत खराब हो जाएगी।

इसी तरह ज्ञान से ज्यादा समय उस ज्ञान को भावना के रूप में परिवर्तित करने में लगाना चाहिए। इसीलिए आचार्य पूज्यपाद देव सर्वार्थसिद्धि में स्वाध्याय की परिभाषा में लिखते हैं कि–

ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः

अर्थात् आलस्य त्याग के साथ ज्ञान की भावना करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय में अपना अध्ययन होता है। स्व का अध्ययन हो । स्व का अध्याय खुल जाए। स्वयं के गुण-दोषों का निष्पक्ष मूल्यांकन ही स्वाध्याय है।

बहुत गहरी बात कही है यहाँ कि- स्वाध्याय मात्र ज्ञान का नाम नहीं है किन्तु ज्ञान की भावना करो। ऐसी भावना करो कि आलस्य अपने आप छूट जाए। इस पंक्ति का सही अर्थ यह है कि ज्ञान भावना से आलस्य त्याग करके अप्रमत्त बने रहना स्वाध्याय है । ज्ञान का अन्तिम फल अप्रमत्तता यानि सावधानी है। इस सावधानी तक वही ज्ञान पहुँचता है जिस ज्ञान में भावनाओं का निरन्तर पुट दिया जाता है।

खाओ कम पचाओ ज्यादा

पढ़ो कम विचारो ज्यादा

आज कल लोग अध्ययन को, पढ़ाई को बहुत महत्त्व दे रहे हैं किन्तु भावना का महत्त्व नहीं समझ रहे हैं। आज का युग चिन्तनशील होने की बजाय ज्ञान का भार लादे फिर रहा है। चिन्तन-मनन की प्रवृत्ति के लिए बच्चों से लेकर बूढ़ों तक किसी को समय नहीं है। चिन्तन के अभाव में कभी सृजनात्मकता (creativity) नहीं आ सकती है। चिन्तन के अभाव में ज्ञान संवेदना शून्य हो जाता है । भावना का असर जितना अधिक दूसरे पर पड़ता है उतना ज्ञान का नहीं। हिचकी का मनोविज्ञान इसी बात की पुष्टि करता है कि कहीं दूर भी स्थित किसी व्यक्ति को यदि हार्दिक भावनाओं से याद किया जाता है तो उसके शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। आज घर बैठे 'रैकी' पद्धति के माध्यम से हजारों किलोमीटर दूर बैठे व्यक्ति का इलाज भी किया जा रहा है । यह पद्धति मात्र भावनाओं पर आधारित है। भावनाओं का इतना दूरस्पर्शी प्रभाव होता है कि घर में बैठे हुए तीर्थंकर जब वैराग्य भावना भाते हैं तो लौकान्तिक देवों को उसका ज्ञान हो जाता है। वह देव शीघ्र आकर उन तीर्थंकर के वैराग्य की प्रशंसा करते हैं।

भाव से ही व्रत हैं। भाव से ही जिनलिंग है। मात्र वस्त्र रहित होने का नाम जिनलिङ्ग नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि- '**भावेण होइ णग्गो**' भाव से ही नग्नता पूज्य है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने तो इन भावनाओं की प्रधानता को ध्यान में रखकर ही भावपाहुड़ ग्रन्थ बनाया। इस ग्रन्थ में मात्र भावना को तदनुरूप करने के लिए कहा है।

एक माँ बेटे को जब बड़ा करती है तो हर समय उसे भावना देती है। बोलो बेटा- माँ, बोलो बेटा-पापा। बार-बार हजार बार दिन भर में उस बेटे को पापा-मम्मी-भाई-बहिन के शब्द बुलवाकर इतनी भावना उस बेटे में भर देती है कि वह बेटा बड़ा होकर इन सब परिवार के सदस्यों में अपनी ममत्त्व स्वीकारता चला जाता है।

यदि कोई माँ मन्दालसा की तरह अपने बेटे को अध्यात्म की लोरियाँ सुनाए तो वह बेटा अध्यात्मनिष्ठ अवश्य बनेगा। आत्मा की ये भावनाएँ किस माँ को याद हैं? –

सिद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरञ्जनोऽसि
संसार माया परिवर्जितोऽसि ।
शरीरभिन्नस्त्यज सर्वचेष्टां
मन्दालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥

अर्थात्– हे पुत्र! तुम सिद्ध हो, बुद्ध हो, निरञ्जन हो । संसार की माया से रहित हो और शरीर से भिन्न हो। तुम मन्दालसा की बात मानते हो न? तो सर्वचेष्टाओं को छोड़ दो।

अरे ! माँ तूने अनन्तों बार मोह का पाठ पढ़ाया। पिता! तुमने व्यापार-धन्धों में पुत्र को लगाया। कभी भी उस आत्मा का सच्चा उपकार नहीं किया। कभी भी उस आत्मा को परमात्मा बनने की सीख नहीं दी। तीर्थंकरत्व की भावना का लोभ भी यदि पुत्र को दिया होता तो भी वह पुत्र धर्मपुत्र बन जाता और पिता धर्मपिता तथा माँ धर्ममाता कहलाती। मोह का विलास अद्भुत है। अपने पुत्र को धर्मपथ का नेता भी बना सकते हो। ये भावनाएँ विशुद्ध पुण्य से विरले ही जनों में आती हैं।

हे पुण्यात्मन् ! जो भावनाएँ अनादि से इस आत्मा में उत्पन्न होती रही हैं उन भावनाओं को हमने अनन्त बार भाया है। स्वादिष्ट भोजन की इच्छा में आत्मा ने खूब भावना की और राग से मन चाहा खाया। मनचाहा नहीं मिलने पर द्वेष किया। यही आहार संज्ञा की भावना है। मेरा कोई कुछ न कर दे, मेरी इच्छा की पूर्ति कहीं अधूरी न जाय, मेरा परिग्रह कहीं नष्ट न हो जाय, मैं मर न जाऊँ इत्यादि भावना से अनादि से भय संज्ञा बनी रही। स्त्री की पुरुष में और पुरुष की स्त्री में रमने की भावना अनादि से प्रत्येक पर्याय में बनी रही। उत्शृंखल हो स्वतन्त्र रूप से सबके सामने पशु बनकर इस मैथुन संज्ञा को धारण किया। इस भावना का अभाव कभी नहीं हुआ। पर-वस्तुओं को संग्रह करने की वृत्ति चींटी और चिड़िया की तरह इस तरह आत्मा में अविरल रूप से प्रवाहित रही। परिग्रह संज्ञा की भावना अनादिकालीन है।

हे आत्मानुशासक! अब ऐसी भावना भाओ जो कभी भी भायी न हो। जो भावना कभी अच्छी ही न लगी क्योंकि उसके बारे में हमें ज्ञान न रहा। जो भावना कभी भाने की आवश्यकता नहीं महसूस की।

आचार्य गुणभद्र देव ऐसी ही भावना भाने पर जोर डालते हुए कहते हैं

भावयामि भवाऽऽवर्ते भावनाः प्रागभाविता:।

भावये भावितानेति भवाभावाय भावना:॥

–आत्मानुशासन २३८

अर्थात् हे प्रभो ! अब मैं इस संसार की भंवरों में अटकाने वाली पहले भायी हुई भावनाओं को नहीं भाऊँगा। मैं ऐसी भावना भाता हूँ जो पहले कभी नहीं भायी गई। जिन भावनाओं से भव का अभाव हो, वह भावना भाता हूँ।

आत्मविशुद्धि को बढ़ाने वाली ऐसी तीर्थंकर प्रकृति की बन्धकारक भावनाओं को विशुद्धि के साथ भाओ।

इस प्रकार अब दर्शन विशुद्धि आदि भावना का फल कहते हैं–

दंसणसुद्धिप्पहुडि- भावेहिं भावमाण साहुस्स।

तित्थयरं वि य कम्मं बंधदि तेलोक्क-खोहकरं॥२॥

दरश विशुद्धि आदि सोलह का, आतम में रखना सद्भाव

तीर्थंकर से महा पुण्य का, बन्ध कराते हैं यह भाव।

सम दृष्टि वह साधु पुरुष ही पुण्य कर्म का बन्ध करे

स्वयं तिरे अनगिन जन तारे तीन लोक में क्षोभ करे॥२॥

अन्वयार्थ : [दसण-सुद्धिप्पहुडि-भावेहिं] दर्शन विशुद्धि आदि भावों के द्वारा **[भाव-माण-साहुस्स]** भावना करने वाले साधु को **[तेलोक्कखोहकरं]** तीन लोक में क्षोभ करने वाले **[तित्थयरं कम्मं वि य]** तीर्थंकर कर्म का भी **[बंधदि]** बंध होता है।

भावार्थ- तीर्थंकर केवली बनना दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को भाने का फल है। सोलह कारण भावना से तीर्थंकर कर्म प्रकृति का बंध होता है। इस कर्म का उदय तेरहवें गुणस्थान में अरिहन्त अवस्था में होता है। इस कर्म का वैचित्र्य यह है कि इस कर्म के सत्त्व में रहने पर भी तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाले अतिशय होते हैं । गर्भ में आने से पूर्व ही छह महीने पहले से रत्नों की वृष्टि होना, उसके बाद गर्भ, जन्म आदि पाँच कल्याणक मनाया जाना भी त्रैलोक्य में क्षोभकारक है। अधिक क्या कहें? नरक आयु बन्ध के बाद तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके जो जीव नरक में जाते हैं वे नारकी जीव भी अपनी आयु

पूर्ण होने के छह माह पहले सुरक्षित हो जाते हैं। देव लोग उन जीवों के चारों ओर वज्र कपाट का निर्माण कर देते हैं । इतना ही नहीं जब तीर्थंकर बालक का जन्म होता है तो चार निकाय के देवों के यहाँ घण्टानाद, शंख आदि के द्वारा शोर होने लगता है। तीर्थंकर बालक के जन्म के समय नरक में भी एक क्षण के लिए शान्ति हो जाती है। इस तरह मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी चारों गति के जीवों के लिए कल्याणप्रद पद इन दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं से ही फलित होता है । यहाँ मूल गाथा में 'साधु' शब्द आया है, सो उसका अर्थ सामान्यतः सम्यग्दृष्टि आत्मा से है। साधु शब्द अविरत सम्यग्दृष्टि के लिए भी सज्जन या समीचीन अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है- 'चरणं प्रतिपद्यते साधुः।' अर्थात् साधु पुरुष आचरण यानि सम्यग्चारित्र को प्राप्त करता है।

चूँकि अविरत सम्यग्दृष्टि, गृहस्थ जीव भी दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सकता है इसलिए यहाँ साधु शब्द गृहस्थ और यति दोनों को तीर्थंकर कर्म की पात्रता बताता है। राजा श्रेणिक ने अविरत सम्यक्त्व के साथ तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है, यह सर्वप्रसिद्ध है।

क्या इस काल में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, यदि नहीं होता है तो दर्शन विशुद्धि आदि भावना भाने से क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हैं

होदुण होदु य बंधो अप्पविसोही दु जायदे णियमा।
ताए खलु णिज्जरणं णिज्जरणं मोक्खहेदु त्ति॥३॥

तीर्थंकर नामक इस विधि का बन्ध यहाँ हो या ना हो
हमको आतम शुद्धि करना इसी लक्ष्य को ठाना हो।
कर्म निर्जरा भव्य जीव को इस विधि निश्चित होती है
यही निर्जरा धीरे-धीरे बीज मोक्ष का बोती है॥ ३॥

अन्वयार्थ : [बंधो] बंध **[होदु]** होवे **[ण य होदु]** अथवा नहीं होवे **[अप्प विसोही]** आत्म विशुद्धि **[दु]** तो **[णियमा जायदे]** नियम से होती है **[ताए]** विशुद्धि से निश्चित ही **[खलु णिज्जरणं]** कर्म निर्जरा होती है **[णिज्जरणं]** निर्जरा **[इति]** इस प्रकार **[मोक्ख हेदु]** मोक्ष की हेतु है।

भावार्थ- दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली, श्रुत-केवली के पादमूल में होता है। वर्तमान में केवली, श्रुत-केवली भगवन्तों का अभाव है। इसलिए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होगा।

दूसरी ओर आचार्य समन्तभद्र स्वामी के विषय में दक्षिण में एक शिलालेख पर लिखा है कि उन्होंने

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, इस तरह अन्य अभिप्राय से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी स्वीकारा जाता है। यदि बात सही मानें तो, यह भी सिद्ध होगा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली, श्रुत-केवली के पादमूल के बिना ही कर लिया।

ऐसी स्थिति में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो, या न हो, हमें इस लोभ में नहीं पड़ना है। हाँ इतना निश्चित है कि इन भावनाओं से आत्मा में विशुद्धि अवश्य बढ़ती है। आत्म विशुद्धि से ही कर्म निर्जरा होती है। निर्जरा ही मोक्ष का हेतु है। इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य प्राणी को आत्म विशुद्धि के मार्ग पर निरन्तर बढ़ना चाहिए।

जो कोई किसी लालच से भावना करता है उसकी चित्त शुद्धि नहीं होती है। निरपेक्ष होकर भावना करना, निरपेक्ष होकर भक्ति करना ही मोक्ष के लिए कार्यकारी है। यदि कोई मुनि किसी लौकिक इच्छा से या परलोक की इच्छा से संयम ग्रहण करता है तो उसकी भी चित्त शुद्धि नहीं होती है। चित्त शुद्धि से ही आत्म विशुद्धि होती है क्योंकि कथंचित् चित्त, आत्मा एकार्थक हैं । चित् यानि चेतना। उस चेतना की ही परिणति चित्त है। बिना चित्त शुद्धि के आत्मा में बंधे हुए कर्म की निर्जरा नहीं होती है। आचार्य कुन्दकुन्द देव आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रवचनसार में कहते हैं कि **'अविसुद्धस्स य चित्ते कहंणु कम्मक्खयो विहिओ।'** अर्थात् अविशुद्ध चित्त में कर्म का क्षय कैसे हो सकता है ?

इसलिए बिना किसी अपेक्षा से आत्मा की विशुद्धि के लिए श्रमण या श्रावक इन भावनाओं को निरन्तर भाए।

ये भावनाएं एक ऊर्जा देती हैं। मन को सकारात्मक विचारों से जोड़ती हैं। मन को शान्त एवं शक्तिमान् बनाती हैं। प्रत्येक आत्मा में बुरी आदतें स्वभावतः बनी हैं, उन आदतों को बदलना इन भावनाओं के चिन्तन एवं निरन्तर अभ्यास से सम्भव है । हे आत्मन् ! चित्त शुद्धि के बिना ही अनन्त बार मोक्ष पुरुषार्थ करने पर भी मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ। हमारे विचारों, भावनाओं से ही हमारा चरित्र बनता है। जिसका चरित्र दृढ और स्वच्छ है निश्चित ही उसके विचार उच्च होते हैं और वही हमारी आदतों में दिखाई देते हैं। ठीक ही कहा है

'Our thoughts lead to actions, actions lead to habits and habits form character.'

अर्थात् हमारे विचार क्रिया में आते हैं। क्रियाएं आदत बन जाती हैं और आदतें ही चरित्र बनाती हैं।

अब आत्म विशुद्धि का मुख्य कारण कहते हैं

चउतीसातिसयाणं अट्ठ महापाडिहेर सहिदाणं।
तित्थयराणं झाणं हेदू य अप्पविसोहीए ॥४॥

तीर्थंकर भगवान पुरुष के चौंतीस अतिशय होते हैं
प्रातिहार्य आठों ही जिनके दर्शक के मन खोते हैं।
तथा चतुष्टय आतम के जब विषय ध्यान के बनते हैं
आत्म विशुद्धि के कारण ये दरशन शुद्धि करते हैं॥४॥

अन्वयार्थ : [चउतीसातिसयाणं] चौंतीस अतिशय **[अट्टमहापाडिहेर सहिदाणं]** अष्ट महा प्रातिहार्य और अनन्त चतुष्टय से सहित **[तित्थयराणं]** तीर्थंकरों का **[झाणं]** ध्यान **[अप्पविसोहीए]** आत्म विशुद्धि में **[हेदू]** हेतु है।

भावार्थ : चित्त की शुद्धि ध्यान से होती है और आत्मा की विशुद्धि भी ध्यान से होती है। वह ध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का होता है। पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यान मुख्यतः चित्त की एकाग्रता के लिए हैं। एकाग्र चित्त ही शुद्ध हो पाता है। इसलिए पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यान से चित्त को पहले एकाग्र बनाने का अभ्यास करें। इसके बाद रूपस्थ ध्यान में आनन्द आता है। तीर्थंकर केवली के समवशरण में गन्धकुटी पर विराजमान उन अरिहन्तों का ध्यान आत्म विशुद्धि में मुख्य कारण है। अष्ट महाप्रातिहार्य और अनन्त चतुष्टय से सहित उन अरिहन्तों का ध्यान एकाग्रता से करें। विहार काल में उन अरिहन्तों के चौंतीस अतिशयों का चिन्तन भी आत्म विशुद्धि में कारण है। रूपस्थ ध्यान की यही उत्कृष्ट अवस्था है। अरिहन्त सर्वविशुद्ध देहधारी आत्मा हैं, उनसे अधिक विशुद्धि किसी भी आत्मा में नहीं होती है इसलिए ध्यान का विषय उन्हें ही बनाना चाहिए। उनका ध्यान तभी होगा जब उनका श्रद्धान होगा। इसलिए जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है उसकी दर्शन विशुद्धि उनके ध्यान से और अधिक होती है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं है उसे उनके ध्यान से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। जब ध्यान का विषय शुद्ध होगा तो ध्यानी भी शुद्ध बनेगा। कितने ही श्वास-उच्छ्वास से मन को एकाग्र करते हैं, कोई गीतसंगीत से मन लगाता है। कोई मोमबत्ती की लौ का ध्यान करवाते हैं इत्यादि विधियों से थोड़ी देर को मन की एकाग्रता हो सकती है किन्तु मन के भीतर पड़े सुप्त विकृत संस्कारों का समापन नहीं हो सकता है वह तो तभी होगा जब ध्यान का विषय (object) ध्येय शुद्ध हो।

भगवान के उन चौंतीस अतिशयों को एक नजर में देखते हैं–

जन्म के दश अतिशय–(Ten miracles of Birth)

१. पसीना रहित शरीर होना Body without sweat.

२. निर्मल शरीर होना Body without dirtyness.

३. सफेद रुधिर होना Body with white blood like milk.

४. शरीर सुडौल आकृति सहित होना Body with super symetrical shape.

५. शरीर उत्कृष्ट संहनन से सहित होना Body with strong bonding of bones called Vajra Vrishab Narach Sanhanan'.

६. सुरभित शरीर होना Body with Profoundly Perfumed.

७. शुभ लक्षण से सहित शरीर होना Body with one thousand and eightAuspicious Marks.

८. अतुल शक्ति होना Body with Infinite Power.

९. अच्छा रूप होना Body with Marvelous Beauty.

१०. प्रिय हित वचन बोलना To speak Beneficial-short and lovely words.

केवलज्ञान के दश अतिशय–(Ten miracles of omniscience)

१. चार सौ कोस तक सुभिक्ष होना Pleasent atmosphere around four hundred Koses.

२. आकाश में गमन होना Skywalking.

३. प्राणिवध का अभाव होना Nokilling of any creature.

४. भूख-प्यास का अभाव Absence of hunger and thirst.

५. उपसर्ग का अभाव Absence of calamity.

६. चार मुख होना Brilliant face with four directional look.

७. सभी विद्याओं के स्वामी होना Master of omniscient knowledge.

८. छाया रहित शरीर होना Body with the lack of image.

९. नेत्र की पलकों का टिमकार रहित होना Always with the constanteyelid.

१०. नख, केश एक समान रहना Nails and hair remain same without growth.

देवकृत चौदह अतिशय– (Fourteen miracles performed by Devas)

१. अर्धमागधी भाषा Hearing in Ardha Magadhi Dialect

२. सभी जीवों के प्रति मैत्री का वातावरण Frienly atmosphere to all living beings.

३. सभी ऋतुओं के फल एक साथ फलना Appearence of all seasonal fruits simultaneously.

४. दर्पण के समान रत्नमयी भूमि होना Jeweler earth as a mirror.
५. विहार के अनुकूल पवन बहना Blow of air according to way.
६. सुगन्धि से मिश्रित वायु बहना Blow of air mixed with fragrance.
७. धूलि, कांटे, तृण रहित भूमि होना Theearth without dust, thorns and weeds.
८. गंधोदक वृष्टि होना Shower with pleasing smell.
९. चरणों के नीचे कमल की रचना होना Existance of Lotus below the feet.
१०. धन, धान्य से परिपूर्ण भूमि होना The earth fulfilled with all types of prosperity.
११. आकाश सरोवर की तरह निर्मल होना Pure sky like aclean pond.
१२. दिशाएं निर्मल होना To remain clear and true surrounding directions.
१३. देवों के द्वारा देवों को बुलाना To call Devas by Devas.
१४. आगे-आगे धर्म चक्र का चलना Marching ahead of DharmaChakra.

अष्ट प्रातिहार्य–(Eight Pratiharyas Auspicious Emblems)

१. अशोक वृक्ष The Ashoka tree.
२. पुष्प वृष्टि The rain of flowers.
३. चामर ढुलना The pair of fly whisks.
४. भामण्डल The divine holo.
५. दुन्दुभि वादन The divine drum.
६. तीन छत्र The triple canopy.
७. सिंहासन The gem studded throne.
८. दिव्यध्वनि Divine speech.

अनन्त चतुष्टय (Four Infinites)

१. अनन्त ज्ञान Infinite Knowlege.
२. अनन्त दर्शन Infinite Perception.
३. अनन्त सुख Infinite Bliss.
४. अनन्त वीर्य Infinite Power.

ये चौंतीस अतिशय तीर्थंकर केवली के ही होते हैं, सामान्य केवली के नहीं। इसलिए तीर्थंकर केवली उत्कृष्ट विशुद्ध, अतिशयवान महान आत्मा हैं। उनक ध्यान रूपस्थ ध्यान है। रूपस्थ ध्यान में अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर किन्हीं जीवों को रूपातीत ध्यान होता है।

इसके अलावा और भी क्या कारण हैं, यह कहते हैं

तेसिं खलु पडिरूवं सुद्धं तहणिव्वियार णिप्पडयं।
झाणं पुजाकरणं हेदू सम्मत्त-विसोहीए॥५॥

श्री जिनेन्द्र की जिन प्रतिमाएं शुद्ध सदा हैं जिनवर सी
सौम्य रूप हैं निर्विकार हैं वस्त्र रहित हैं मुनिवर सी।
भव्य जीव तुम नित ही इनका पूजन, वन्दन ध्यान करो
समकित भावविशुद्ध बनाकेआत्मशुद्धि काभानकरो॥५॥

अन्वयार्थ : [तेसिं] उन तीर्थंकर केवली के **[पडिरूवं]** प्रतिरूप **[खलु]** निश्चित ही **[सुद्धं]** शुद्ध हैं **[तह]** तथा **[णिव्वियार णिप्पडयं]** निर्विकार, निर्वस्त्र हैं। **[झाणं]** उनका ध्यान **[पुज्जाकरणं]** पूजा करना **[सम्मत्त विसोहीए]** सम्यक्त्व की विशुद्धि में **[हेदू]** हेतु हैं।

भावार्थ : प्रतिरूप अर्थात् जिनबिम्ब, प्रतिमाएं। वर्तमान में तीर्थंकर केवली का सद्भाव नहीं है। उन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं भी पूज्य हैं। पंचकल्याणक की प्रतिष्ठा, मन्त्रों पूजा से उन प्रतिमाओं में सद्भाव स्थापना होती है जिससे प्रतिमा भी कर्म क्षय का हेतु बनती हैं। वह जिनबिम्ब शुद्ध होते हैं। वह जिनबिम्ब नेत्र, मुख आदि के विकार से रहित होते हैं तथा कपड़ा, वस्त्र, आभूषण आदि से रहित होते हैं । ऐसे जिनबिम्बों का ध्यान, उनकी पूजा, अर्चना करना सम्यक्त्व की विशुद्धि का कारण है।

चैत्य भक्ति में आचार्य पूज्यपाद इन चैत्य, चैत्यालयों की वन्दना से विशुद्धि बढ़ाते हैं । चैत्य भक्ति में बहुत बार ऐसे भाव वन्दना का फल बताते हुए कहे हैं।

'प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम्।' चै. भ. १५

मनोहर रूप, आकार वाले जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं को मैं विशुद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ। इसी तरह–

'कीर्तयिष्यामि चैत्यानि यथाबुद्धि विशुद्धये।' चै. भ. १७

मैं जिन चैत्यों का कीर्तन अपनी बुद्धि अनुसार विशुद्धि के लिए करूँगा।

'प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे-'चै. भ.१४

जिन प्रतिमाओं की वन्दना से पाप की शान्ति होती है।

'चैत्यानामस्तु संकीर्तिः सर्वास्त्रवनिरोधिनी-' चै. भ. २३

जिन चैत्यों की स्तुति से समस्त आस्रवों का रुकना होता है।

इसलिए जिन-चैत्यों की वन्दना, स्तुति, ध्यान, पूजा आदि सम्यक्त्व अन्य भी कारण हैं, वह कहते हैं

सम्मेदादि गिरीसु केवलिणं संति सिद्धठाणाणि।
वंदणकरणं तेसिं सम्मत्तविसोहीए हेदू ॥६॥

जहाँ-जहाँ से सिद्ध हुए हैं तीर्थंकर केवली भगवान्
उन सब स्थानों को नित मैं वन्दन करके करता ध्यान।
सम्मेदाचल पर्वत हो या ऊर्जयन्त के शिखर महान
हैंसम्यक्त्व विशुद्धि हेतू आत्म शुद्धि की जो पहिचान॥६॥

अन्वयार्थ : [सम्मेदादि गिरीसु] सम्मेद आदि पर्वतों पर **[केवलिणं]** केवलियों के **[सिद्ध ठाणाणि]** सिद्ध स्थान हैं **[तेसिं]** उनकी **[वंदण-करणं]** वन्दना करना **[सम्मत्त-विसोहिए]** सम्यक्त्व की विशुद्धि में **[हेदू]** कारण है।

भावार्थ : जहाँ से अरिहन्त भगवान का निर्वाण होता है, वह स्थान सिद्धभूमि बन जाती है। वह पवित्र निषीधिका कहलाती है। उस स्थान पर जाकर उन सिद्धों का स्मरण करना, उनकी पवित्र भूमि की वन्दना करना, परिक्रमा करना और भक्ति से सिद्ध-स्तुति करना सम्यग्दर्शन को विशुद्ध बनाता है। सम्मेद शिखर पर्वत तो अनन्तान्त सिद्ध परमात्माओं की मुक्ति भूमि है। उस पर्वत के शिखर पर पहुँचकर अनेकानेक सिद्ध आत्माओं का ज्ञान अपने मतिश्रुतज्ञान से हो जाता है। उस पर्वत पर बने चरणों की वन्दना मानो साक्षात् सिद्ध भगवान की वन्दना है। उन चरणों की परिक्रमा करना सिद्ध भगवान की परिक्रमा करना है। सम्मेद शिखर के अलावा पावापुरी, गिरनार जी आदि की वन्दना से भी ऐसे ही आत्मा की शुद्धि बनती है । जहाँ से सिद्ध भगवान बनते हैं उस क्षेत्र को सिद्ध क्षेत्र कहा जाता है। उस क्षेत्र पर इन्द्र आदि देव आकर निर्वाण कल्याण की पूजा करते हैं। तीर्थंकरों के उस निर्वाण क्षेत्र की वन्दना विशिष्ट रूप से की जाती है और उस स्थान पर इन्द्र कुछ चिह्नों को उत्कीर्ण कर देता है। जैसा कि स्वयंभू स्तोत्र में अरिष्ट नेमिनाथ की स्तुति में लिखा है

'मेघपटल परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।'

इन्द्र ने उस ऊर्जयन्त पर्वत पर भगवान अरिष्ट नेमि के लक्षणों को या चिह्नों को उत्कीर्ण कर दिया था। अथवा उनकी यशः प्रशस्तियों को वज्र से उत्कीर्ण किया था इसलिए ही यहाँ इन्द्र के लिए वज्रिणा' शब्द का प्रयोग किया हैं।

तीर्थंकरों की सिद्ध भूमि के अलावा अन्य सामान्य केवली भगवन्तों की सिद्ध भूमि भी विशुद्धि में कारण है, मंगलकारी है। पर्वत तल, जलगत स्थान, आकाशगत स्थान, गुफा, वन आदि जहाँ-जहाँ से सिद्ध हुए हैं उनकी यहीं रहकर वन्दना करना भी पाप के क्षय का हेतु है। ये सभी स्थान देवेन्द्रों की उत्कृष्ट भक्ति से स्तुत हैं और नमस्कृत हैं। कहा भी है–

मोक्षगति - हेतु-भूत-स्थानानि सुरेन्द्र-रुन्द्रभक्तिनुतानि।

मंगल-भूतान्येतान्यंगीकृतधर्म- कर्मणामस्माकम्॥

सम्मेद पर्वत आदि सिद्ध क्षेत्र की वन्दना का पुण्य तो अलौकिक है ही किन्तु अकृत्रिम चैत्यलयों की वन्दना का पुण्य तो और भी अद्भुत है।

अहो भव्यात्मन्! कितनी अद्भुत है अकृत्रिम चैत्यालयों की महिमा जिनके दर्शन बड़े-बड़े विद्याधर और विभूति सम्पन्न देव भी करने को लालायित रहते हैं। आज हम लोगों का इतना पुण्य नहीं है कि इन जिनालयों के दर्शन साक्षात् कर सकें किन्तु पहले जब देवों का आवागमन इस क्षेत्र में होता था और विद्या सिद्धि सहज थी तब इन जिनालयों के दर्शन करने वाले श्रावक और श्रमण अद्भुत पुण्य अर्जित करते थे। देखो! सेठ जिनदत्त को एकान्त में श्मशान में सामायिक करते देख जब देवों ने इनकी परीक्षा ली तो सेठ जी की दृढ़ता देखकर उन देवों ने उन्हें आकाशगामिनी विद्या दी। इस विद्या से वह सेठ जी सुमेरु पर्वत के अकृत्रिम जिनालयों की वन्दना करने प्रतिदिन जाया करते थे।

विद्या सिद्धि की विधि किसी अन्य को भी हो सकती है, और उस विधि को भी देव लोग सेठ को बताकर चले गये। बाद में अंजन चोर ने इस विद्या को सिद्ध करके सुमेरु पर्वत पर पहुँचकर अद्भुत आश्चर्य से अकृत्रिम जिन बिम्बों के दर्शन किये।

हे पाठकवृन्द! इन जिनालयों की भाव सहित वन्दना यहाँ बैठे-बैठे की जाय तो भी वही लाभ होगा जो साक्षात् दर्शन से होगा। आचार्य समन्तभद्र देव तो अरहंत, सिद्ध भगवान् की भी यहीं बैठकर स्तुति करते हैं तो वही पुण्य लाभ और पुण्य परिणाम प्राप्त कर लेते हैं जो साक्षात् दर्शन से होता है। यही तो जैन धर्म में प्रत्येक जीव की स्वतन्त्रता है।

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामाय स तदा

भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।

कि मेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान् न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥११६॥

अर्थात् भगवान् की स्तुति भक्ति करने वाले भव्य पुरुष के पुण्य परिणाम के लिए होती है। स्तुति के समय वह आराध्यदेव उपस्थित हो अथवा न हो और उस आराध्य से स्तोता को फल की प्राप्ति हो अथवा न हो। इस प्रकार संसार में स्वाधीनता से कल्याण मार्ग के सुलभ होने पर क्या आप नमिनाथ जिनेन्द्र की स्तुति न करें? अपितु अवश्य करें।

समस्त द्वीप-समुद्रों में सबसे बड़ा और सर्वाधिक पूज्य पर्वत सुमेरु पर्वत है । इसे ही सुदर्शन, मेरु, महामेरु, सुरालय, मन्दर, शैलराज, वसन्त, प्रियदर्शन, सुरगिरि, स्वयम्प्रभ आदि अनेक नामों से कहा जाता है।

जम्बुद्वीप के बीचोंबीच में बने इस सुमेरु पर्वत पर नीचे से ऊपर की ओर क्रम से भिन्न-भिन्न ऊँचाई एवं भिन्न-भिन्न आकृति के चार वन हैं । भद्रशाल वन, नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन। इस पाण्डुक वन पर ही पाण्डुक शिला पर भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र, पूर्व-विदेह क्षेत्र और पश्चिम विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का अपनी अलग-अलग दिशाओं में बनी पाण्डुक शिला पर अभिषेक होता है।

सबसे ऊपर पाण्डुक वन की चारों ओर महादिशाओं में चार जिनालय हैं। सभी अनेक प्रकार के रत्नों से बने हैं। अकृत्रिम होने से शाश्वत हैं, नित्य हैं, अविनाशी हैं। अकृत्रिम जिनालय भी उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के जानना। यह भेद इन जिनालयों की लम्बाई, चौड़ाई के आधार से हैं।

पाण्डुक वन के जिनालय पच्चीस (२५) योजन लम्बाई, साढ़े बारह योजन चौड़ाई और आधा कोस गहराई और पौने उन्नीस योजन ऊँचाई के हैं। प्रत्येक मन्दिर में एक बड़ा द्वार होता है और आजु-बाजु में दो लघु द्वार होते हैं। इनमें द्वार की ऊँचाई चार योजन और चौड़ाई दो योजन है । तथा लघु द्वारों की ऊँचाई और चौड़ाई इससे आधी है।

पाण्डुक वन के समान सौमनस वन की चारों दिशाओं में भी चार जिनालय हैं और उनके द्वारों की लम्बाईचौड़ाई आदि पाण्डुक वन के चैत्यालयों से दूनी है।

कुलाचल पर्वत और वक्षार पर्वत पर जो अकृत्रिम जिनालय बने हैं उनकी माप भी सौमनस वन के चैत्यालयों के समान है।

उसके नीचे नन्दन वन और उसके नीचे भद्रशाल वन हैं । इन वनों में भी चारों दिशाओं में एक-एक जिनालय हैं। इन वनों के चार-चार जिनालयों की ऊँचाई तथा चौड़ाई आदि का प्रमाण सौमनस वन के जिनालयों से दूना है।

इन सभी जिनालयों में स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

इन जिनालयों के शिखर सिंह, हंस, गज, कमल, वस्त्र, वृषभ, मयूर, गरुड़, चक्र और माला के चिह्नों से सुशोभित दश प्रकार की तथा पाँच वर्णों की महाध्वजाओं से सहित हैं। उन चैत्यालयों की दशों दिशाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों भव्य जीवों को अपनी ओर बुला रही हों।

इसके अतिरिक्त नन्दीश्वर द्वीप के जिनालयों की वन्दना भक्ति पाठ आदि के माध्यम से करने पर भी चित्त विशुद्धि बढ़ती है। यह परोक्ष वन्दना भी दर्शन विशुद्धि में कारण-भूत है।

नन्दीश्वर के अंजनगिरि, रतिकर और दधिमुख पर्वत के समस्त बावन (५२) चैत्यालय पूर्वाभिमुख हैं जो सौ (१००) योजन लम्बे, पचास (५०) योजन चौड़े और पचहत्तर (७५) योजन ऊँचे हैं। ये जिनालय उत्कृष्ट अवगाहना के हैं । इस आठवें द्वीप के आगे ग्यारहवाँ द्वीप कुण्डलवर द्वीप है। इस द्वीप की चारों महादिशाओं में चार जिनालय हैं जो प्रमाण की अपेक्षा अंजनगिरि के जिनालयों के समान है। इसी के आगे तेरहवाँ द्वीप रुचकवर द्वीप है। इस द्वीप के रुचकवर पर्वत पर चार दिशाओं में चार जिनालय हैं। इनका विस्तार भी अंजनगिरि के समान है। इन अकृत्रिम जिनालयों का स्मरण दर्शन विशुद्धि में कारण है।

और भी सम्यक्त्व की विशुद्धि के हेतु हैं, उन्हें कहते हैं–

पत्ताणं व विहारे गामे खेत्ते जिणिंदबिंबाणं।
भत्तीए थुदि करणं सम्मत्तविसोहीए हेदू॥७॥

जो विहार में मिलते जाएं सिद्ध क्षेत्र तीरथ लघुग्राम
जिनालयों में सदा विराजे बिम्ब अपूर्व सदा अभिराम।
उन सबकी भक्ति से नित ही संस्तुति पूजन वन्दन हो
यही विशुद्धि हेतु बने हैं सदर्शन के भाव अहो! ॥७॥

अन्वयार्थ : [विहारे] विहार में **[गामे]** ग्राम में [व] और **[खेत्ते]** क्षेत्र में **[पत्ताणं]** मिलने वाले **[जिणिंदबिंबाणं]** जिनेन्द्र भगवान के बिंबों की **[भत्तीए]** भक्ति से **[थुदि करणं]** स्तुति करना **[सम्मत्त-विसोहीए]** सम्यक्त्व की विशुद्धि में **[हेदू]** हेतु हैं।

भावार्थ : विहार करते हुए अनेक ग्राम, नगर, क्षेत्रों में पुरातन, नवीन जिनालय मिलते हैं। उन जिनालयों में स्थित जिन बिम्बों का दर्शन अपूर्व होता है। ऐसे अपूर्व चैत्यों की वन्दना करने से अपूर्व विशुद्धि बढ़ती है। आचार्यों ने इन चैत्यों की वन्दना भक्ति का विधान अलग से किया है । चैत्य भक्ति, पंच

गुरु भक्ति, शांति भक्ति पढ़कर ऐसे अपूर्व चैत्यों की वन्दना की जाती है। साधूजनों का विहार करना, सर्वत्र भ्रमण करना भी दर्शन विशुद्धि में कारण है। यह कारण इसीलिए है क्योंकि अपूर्व-अपूर्व अद्भुत जिनालयों के दर्शन होते हैं। उनकी भक्ति से स्तुति करना संसार की परम्परा का नाश करती है।

और भी हेतु कहते हैं

जिणवयणधारणमई पवयणपयासणं जुत्तीए।
सुदसिद्धंतसुपठणं सम्मत्तविसोहीए हेदू॥ ८॥

जिन वचनों को धारण करने की बुद्धि भी हेतु है
युक्ति से श्रुत को समझाना भी शुद्धि का सेतु है।
श्रुत, सिद्धान्त पठन-पाठन से सम-दर्शन दृढ़ होता है
भक्तिभाव से रुचि बढ़ने से मन आतम में खोता है॥८॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण धारणमई] जिनेन्द्र भगवान के वचनों को धारण करने की बुद्धि **[पवयण-पयासणं]** प्रवचन का प्रकाशन **[जुत्तीए]** युक्ति से करना **[य]** तथा **[सुदसिद्धंतसुपठणं]** श्रुत सिद्धान्त का अच्छी तरह अध्ययन **[सम्मत्त-विसोहीए]** सम्यक्त्व की विशुद्धि के **[हेदू]** हेतु हैं।

भावार्थ : जो बुद्धि जिनेन्द्र भगवान के वचनों को अवधारित कर लेती है उससे उस आत्मा की विशुद्धि होती है। जिनेन्द्र भगवान के वचन ही प्रकृष्ट होने से प्रवचन हैं। उन प्रवचनों को अन्य भव्य जीवों को दिखाना अर्थात् समझाना, सुनाना सम्यक्त्व की विशुद्धि में कारण है। इन वचनों से भव्यात्मा को आत्म प्रकाश मिले, इस तरह युक्तियों से समझाना सम्यक्त्व को दृढ बनाता है। युक्ति से आगम को सरल बनाकर हृदयग्राही बनाना भी जिन प्रवचन का प्रकाशन है । युक्ति वही हो जिससे आगम पुष्ट होता हो ।अपनी मनचाही युक्तियों से आगम को प्रस्तुत करना आगम और सम्यक्त्व की विराधना है । जो सरल उदाहरणों से नये ढंग से आगम को समझाकर भव्य जीवों को सन्तुष्ट करता है वह सुधी अपने सम्यक्त्व की विशुद्धि बढ़ाता है। इसके साथ ही जो सिद्धांत श्रुत उपलब्ध है उसको कर्म निर्जरा हेतु, आत्म विशुद्धि हेतु अध्ययन करना सम्यक्त्व की वृद्धि करता है। भक्ति और शुद्धि के साथ सिद्धांत ग्रन्थों का पठन, पाठन असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा को कराता है । षट्खण्डागम, कसायपाहुड़ और इनकी धवला, जयधवला टीका, महाबन्ध आदि ग्रन्थ अत्यधिक श्रद्धा, भक्ति, शान्त भाव से जो मुनिजन पढ़ते हैं उनके परिणामों की विशुद्धि, अप्रमत्तता, सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है । सिद्धांत के रहस्यों को समझे बिना कर्म सिद्धान्त, कैवल्य प्राप्ति और सिद्धत्व की पर्याय पर श्रद्धान नहीं होता है। सर्वज्ञत्व की विशालता

और श्रुत की महिमा का आकलन इन्हीं ग्रन्थों के सम्यक् पठन, पाठन से होता है।

तच्चत्थभावी रुइणेव तत्थ णिस्सकिदादीहि गुणेसु सत्तो।
मोत्तूण दोसंपसमादिचिण्हंसम्मत्तसुद्धस्थ करेदिभव्वो॥९॥

तत्त्व भावना में रुचि रखता निःशंकादि गुणों में लीन
सम्यग्दर्शन के दोषों को तजने में जो बहुत प्रवीण।
शम, संवेग, दया अरु श्रद्धा निकट भव्य के चिह्न रहे
सम दर्शन की शुद्धि हेतु गुण-दोषों का ज्ञान रहे॥९॥

अन्वयार्थ : [तच्चत्थभावी] तत्त्वार्थ की भावना करने वाला **[तत्थ]** उसी तत्त्वार्थ में **[रुइणेव]** रुचि से ही **[णिस्संकिदादीहि]** निःशंकित आदि गुणों के द्वारा **[गुणेसु]** गुणों में **[सत्तो]** आसक्त होता है। **[दोसं]** दोषों को **[मोत्तूण]** छोड़कर **[भव्यो]** वह भव्य **[सम्मत्तसुद्धत्थ]** सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए **[पसमादि-चिण्हं]** प्रशम आदि चिह्नों को **[करेदि]** करता है।

भावार्थ : तत्त्वार्थ को जानना बहुत आवश्यक है । जानकर उसका श्रद्धान करना उससे भी ज्यादा आवश्यक है । ज्ञान हुए बिना श्रद्धान नहीं होता है। ज्ञात हुए उन तत्त्वों की भावना करने से तत्त्व श्रद्धान मजबूत होता है। भव्य आत्मा रुचि के साथ तत्त्वार्थ की भावना करता है। बन्ध, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों की भावना से बन्ध के प्रति हेय भाव और संवर, निर्जरा तत्त्व के प्रति आदर भाव उत्पन्न होते हैं। निरन्तर निःशंकित, निःकांक्षित आदि गुणों की भावना से इन गुणों में वृद्धि होती है। अपनी आत्मा के सम्यग्दर्शन को संभालने के लिए निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टि ये चार गुण हैं। दूसरे की आत्मा के सम्यग्दर्शन की रक्षा करने के लिए उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना अंग हैं। इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव स्व, पर हितकारी जीवन जीता है।

तत्त्व सात हैं । जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बन्ध तत्त्व, संवर तत्त्व, निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व। इन तत्त्वों का अर्थ यानि प्रयोजन जानने की भावना करने वाला तत्त्वार्थ की भावना करने वाला है। हमारी आत्मा में अनादि कालीन मिथ्यात्व कर्म के उदय से इन तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान रहा है । तत्त्वों का प्रयोजन क्या है, इसकी भावना आत्मा ने नहीं की।

हे आत्मन्! सभी तत्त्वों में मूल तत्त्व है- जीव तत्त्व। इस जीव तत्त्व के बिना अन्य तत्त्वों को अवकाश ही कहाँ है? अनादि से इस आत्मा ने जीव तत्त्व के बिना अन्य तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान किया है। आत्मा पुद्गल आदि द्रव्यों से भिन्न पदार्थ है । इस आत्म तत्त्व की सत्ता अनादि काल से है। देखने-जानने का स्वभाव

ही आत्म का तत्त्व है। आत्मा ने स्वयं आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा नहीं माना और ना ही जाना। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म, अदृश्य होने के कारण अपने शरीर को ही आत्मा मानता रहा। अपने शरीरगत सुख-दुःख में हर्ष-विषाद करते रहा है। यही जीव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। राजा-रंक, गरीब-अमीर, मोट-पतला, कुरूप-सुरूप आदि शरीर की और संयोग जन्य बाह्य परिणति को अपना आत्मा मानना ही इस जीव की अनादिकालीन भूल है।

जिसने जीव तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान किया है वह भी जीव कथंचित् शरीर, पुत्र, स्त्री आदि को अपने कहता है किन्तु उसके ज्ञान में इन शरीर आदि से एकरूपता नहीं रहती है। जो ज्ञान प्रमाण-नयों से आत्मा को जाने वह सम्यग्ज्ञान (राइट नॉलिज) है। जो ज्ञान प्रमाण-नय के बिना आत्मा को जानता है, वह मिथ्याज्ञान (फाल्स / रांग नॉलिज) है। सम्यग्दृष्टि जीव के पास सम्यग्ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टि जीव के पास मिथ्याज्ञान होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इन शरीर आदि को कथंचित् जब अपना कहता है तो व्यवहार नय की अपेक्षा से कहता है निश्चय नय से तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला आत्मा ही मैं हूँ, ऐसा श्रद्धान करता है। इस प्रकार नय ज्ञान से जीवआत्मा को समझना चाहिए। पहले आप जिसे सर्वथा, एकमेक रूप से अपना समझते थे उसे व्यवहार नय से अपना समझो। इस तरह बुद्धि में जब व्यवहार और निश्चय इन दो नयों से हम पर-पदार्थों को जानेंगे तो एक भेद रेखा खिंच जाएगी। इसी का नाम भेद विज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है।

तो आज से ही कहना प्रारम्भ करो कि- यह माता-पिता मेरे व्यवहार से हैं निश्चय से आत्मा का कोई मातापिता नहीं है। भाई-बहिन व्यवहार से मेरे हैं, निश्चय से मेरा आत्मा इन सम्बन्धों से अलग है। घर, परिवार, कार, व्यापार सब व्यवहार से मेरे हैं वस्तुतः निश्चय से तो मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला आत्मा ही मेरा है।

इस तरह बुद्धि में निरन्तर अभ्यास करने से मोह कर्म का उपशमन होकर यथार्थ श्रद्धान उत्पन्न होगा।

इसी तरह अजीव तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान करो। अरे! यह शरीर आदि पर तत्त्व अजीव हैं, जड़ हैं और इनको तूने आत्मा माना इतना इन पर-पदार्थों में आत्मपन होने के कारण ही तू दुकान में या मकान में आग लग जाने पर पागल हो गया। तेरी पत्नी-पुत्र आदि आत्मीय जन मर जाने पर तू विक्षिप्त हो गया। तूने अपने शरीर को मृत्यु की शय्या पर पड़ा देखकर अपना मरण मान लिया और शरीर के रहने को अपना जीवन मान लिया।

इस अजीव तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान कर। भावना कर इस शरीर में मेरी आत्मा रह रही है किन्तु यह शरीर मेरा आत्मा नहीं है। शरीर मिट जाने पर भी मेरा आत्मा तो सदैव ज्ञान-दर्शन स्वभावमय बना रहेगा।

शरीर सो आत्मा नहीं है। इसी तरह अन्य स्त्री, पुत्र आदि के शरीर भी उनका आत्मा नहीं है।

प्रियात्मन् ! अजीव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान छोड़कर इस तरह के ज्ञानाभ्यास से सम्यग्ज्ञानी बनो।

हे आत्मन् ! तूने आस्रव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान किया है। जिन कारणों से कर्म का आत्मा में आस्रव (आना) होता है, उन कारणों को तूने अच्छा माना, हितकारी माना। जैसे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मात्सर्य आदि भावों से आत्मा में संसार बढ़ाने वाले कर्म का निरन्तर आस्रव होता है। तूने आस्रव के इन भावों को अच्छा माना। भले ही बाद में इनका फल तुझे दुःख देने वाला मिला हो। देख! जब तूने किसी से राग किया तो तुझे अच्छा लगा, बाद में जब उसका वियोग हुआ तो दुःख ही मिला। इसी तरह जब तुमने क्रोध किया तो उस समय तो उस क्रोध को अच्छा माना तभी तो किया। क्रोध करते समय अपने को दूसरे का सुधारक माना, अपने को दूसरे से बढ़कर ज्ञानी माना, अपने को दूसरे से बढ़कर शक्तिशाली माना, तभी तो क्रोध किया। बाद में उसका फल विचार किया तो लगा कि इससे बहुत हानि हुई है। यही आस्रव का विपरीत श्रद्धान है । इसलिए हे आत्मन् ! इन विकारी भावों को सदैव आत्मा के अहितकर जानो और आत्म स्वभाव का चिन्तन करो कि आत्मा तो शान्त, सुख-आनन्दक्षमा स्वभाव वाला निर्विकार है। क्रोध आदि विकार हैं, यही आस्रव तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान है।

हे निर्बन्ध आत्मन् ! तू सब प्रकार के बन्धनों से रहित है। तूने घर को बन्धन नहीं माना, स्त्री-पुत्र-परिवार को बन्धन नहीं माना। जो तुझे मुक्त कराने के कारणभूत थे ऐसे जिनालय, शास्त्र और गुरु को तूने बन्धन माना, तभी तो उनके पास जाकर भी शान्तभाव धारण नहीं करता है । तुझे मन्दिर से ज्यादा घर अच्छा लगता है । तुझे शास्त्र से ज्यादा उपन्यास, टी.वी. के नाटक और काल्पनिक कथाएं अच्छी लगती हैं । तुझे गुरु से ज्यादा क्रिकेट और सिनेमा के हीरो अच्छे लगते हैं । यही बन्ध तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। अब तू अपनी रुचि को परिवर्तित करके बन्ध तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान कर।

हे संवर इच्छुक आत्मन् ! जो संवर के कारणभूत व्रत, समिति, वैराग्य, परीषह सहना और ज्ञान भावना है वह तुझे कष्टकारी लगती है, यही तेरा विपरीत श्रद्धान है । तुझे असंयम से रहने में सुख लगता है और संयम-नियम धारण करने में अनेक बहाने बनाता है। तू प्रमादी होकर स्वयं आत्मा का अहित कर रहा है। जब तेरी बुद्धि सुलट जाए और तेरा श्रद्धान बन जाए कि संवर तो संयम से ही होगा। कर्मों का रुकना तो वैराग्य-ज्ञान से ही होगा तभी संवर तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान होगा।

हे आत्महितैषिन् ! आत्मा में बैठे कर्मों की निर्जरा सम्यग्ज्ञानपूर्वक तप से ही होती है। इन्द्रियों के विषयों से दूर होकर, अनेक प्रकार के सम्यक् तप को अपनी शक्ति प्रमाण पालन करने से ही कर्म निर्जरा होगी। काललब्धि की प्रतीक्षा करने से नहीं होती है। ऐसी प्रतीक्षा में बैठना निर्जरा तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। आचार्य कहते हैं कि कर्मों की निर्जरा करने के लिए काल का कोई नियम नहीं है।

कालानियमाच्च निर्जरायाः - रा. वा. १/४-९

इसलिए काललब्धि की प्रतीक्षा छोड़कर स्वशक्ति अनुसार सम्यक् तपाचरण करने में ही श्रद्धान कर। यही निर्जरा तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान है।

हे मुमुक्षो! मोक्ष तत्त्व का विपरीत श्रद्धान यह है कि तूने कभी भी निराकुल आत्म परिणति का श्रद्धान नहीं किया है। जब भी तुझे सुख प्रतिभासित हुआ है, वह इन्द्रिय विषयों और मन की आकुलता से हुआ है। निराकुल आत्म सुख की भावना मोक्ष में है, यही मोक्ष तत्त्व का समीचीन श्रद्धान है।

सम्यक्त्व की शुद्धि करने के लिए वह भव्य दोषों को छोड़ता है और जो सराग सम्यक्त्व की पहिचान के लिए लक्षण हैं उन प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिभ्य गुणों से भरपूर रहता है।

शान्त परिणाम रखना प्रशम भाव है। संसार, शरीर, भोगों से रति नहीं करना संवेग भाव है। करुणा, दया से मन का आप्लावित रहना अनुकम्पा है । जिनेन्द्र भगवान के कहे तत्त्वों में आस्था रखना आस्तिक्य है । ये चार गुण सम्यग्दृष्टि में अवश्य होते हैं और इन गुणों की वृद्धि से दर्शनविशुद्धि होती है। इस तरह प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना सभी जीवों का नित्य उपकार करती हुई जयवन्त रहे।

2. विणय भावणा

जो सो सम्मादिट्ठी विणओ भणिदो हि लक्खणो पढमो।
दंसण-णाण-चरित्तं रोचेदि जदो मोक्खमग्गम्मि ॥१॥

मोक्ष मार्ग का नेता वह ही, बनता जिसमें विनय रही
सम्यग्दृष्टि जन का लक्षण सबसे पहले विनय कही।
दर्शन-ज्ञान-चरित्र मयी जो शिव पथ में रुचि रखता हो
शिवपथगामीजनसेकैसेभलाअरुचि रखसकतावो?॥१॥

अन्वयार्थ : [जो सम्मादिट्ठी] जो सम्यग्दृष्टि है उसका **[पढमो]** प्रथम **[लक्खणो]** लक्षण **[विणयो]** विनय **[हि]** ही **[भणिदो]** कहा है **[जदो]** चूंकि **[सो]** वह **[मोक्खमग्गम्मि]** मोक्षमार्ग में **[दसण-णाणचरित्तं]** दर्शन, ज्ञान, चारित्र की **[रोचेदि]** रुचि रखता है।

भावार्थ : तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध की दूसरी भावना विनय सम्पन्नता है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में भावना आवश्यक है। उसके होने पर ही अन्य भावनाएं कार्यकारी हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए उस सम्यग्दृष्टि का प्रथम लक्षण विनय कहा गया है । सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग पे चलता है तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की रुचि, श्रद्धा रखता है। जिसके अन्दर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के प्रति आदर होगा, वह रत्नत्रय धारी की विनय अवश्य करेगा। यह एक सामान्य नियम है जो जहाँ पर रुचि रखता है, वहीं पर आदर भी रखता है। गुण-गुणी में कथंचित् अभिन्नता, एकरूपता होती है । गुणों की विनय गुणी की विनय करने से ही होगी। गुण बिना गुणी के भला कहाँ रहेंगे। रत्नत्रय आत्मा का धर्म है। यह रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है। जैसा कि द्रव्य-संग्रह में कहा है

'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदव्वयम्मि।'

इसलिए रत्नत्रय सहित आत्मा की विनय करना मोक्षपथ के नेता के लिए प्रथम आवश्यक गुण है । जो जितना झुकता है वह भीतर से उतना ही महान होता है। आत्मा जाग गई है, इस बात की पहिचान विनय से, झुकने से ही होती है। अकड़ तो मुर्दा की पहिचान है। जिससे जो गुण प्राप्त करना है तो पहले उसके चरणों में झुकना ही होगा। इसीलिए मूलाचार में **'विनय मोक्ष का द्वार है।'** ऐसा कहा है।

हे मोक्षमार्गिन्! विनय को मोक्षमार्ग में अत्यन्त आवश्यक गुण कहा है। विनय का एक अर्थ नम्रता और समर्पण है तो दूसरा अर्थ वि- विशिष्ट रीति से नय-नयों को जानना। जो व्यक्ति जिनशासन में बताए

हुए नयों को सही ढंग से जानता है वह विनयवान है । यह निर्ग्रन्थ मार्ग विनय गुण की मूल-जड़ को धारण करता है । प्रतिक्रमण पाठ में **'विणय मूलस्स'** कहा है।

प्रथम अर्थ को सभी जानते हैं किन्तु दूसरा अर्थ कुछ नया सा लग रहा होगा। यह नया अर्थ भी हमें विनय-नम्रता के प्रथम अर्थ की ओर ही ले जाता है। और हम यूँ कहें कि वस्तु: सच्ची विनय नयज्ञान से ही आती है, तो बहुत उचित होगा। नयों के परिज्ञान से आत्मा का व्यवहार या निश्चय किसी भी नय के प्रति हठाग्रह नहीं रह जाता है तब आत्मा मोक्षमार्ग सम्बन्धी विनय को सही ढंग से धारण करता है। विनय भी दो प्रकार की है- व्यवहार विनय और निश्चय विनय। साधु परमेष्ठी आदि गुणी जनों को विनय पूर्वक नमस्कार करना, उनके आने पर उठखड़े होना, उनके सामने नम्रता से बात करना, उनके सामने हँसी-मजाक नहीं करना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनको उचित आसन प्रदान करना इत्यादि व्यवहार विनय है।

उन परमेष्ठी जन के आत्मीय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुणों का ध्यान करना और अपनी आत्मा को इन्हीं गुणों से वासित करना निश्चय विनय है।

अन्तरङ्ग आत्मा में जब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों का जब अभाव हो जाता है तो आत्मा अन्तरङ्ग निश्चय विनय को धारण करता है। अन्तरङ्ग में आत्मगुणों की विनय रहने पर जब बाह्य में उन गुणों को धारण करने वाला व्यक्तित्व दिखता है तो आत्मा उनके प्रति भी सहज नम्रीभूत हो जाता है, यही व्यवहार विनय है।

जिन आत्माओं में अनन्तानुबन्धी मान का उदय तीव्रतम रहता है वह व्यवहार विनय नहीं करते हैं। सामान्यतः देखा जाता है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मान आदि का उदय रहने पर भी लोगों में व्यवहार विनय होती है। यह व्यवहार विनय उनके अन्दर की मान कषाय की मन्दता से आती है और पुनः उस मान कषाय को मन्द करने में कारण होती है।

व्यवहार विनय में प्रवृत्त हुआ जीव अपनी मान कषाय को मन्द करते-करते एक दिन अनन्तानुबन्धी मान का भी सर्वथा अभाव कर लेता है।

जिसे निश्चय एकान्त या व्यवहार एकान्त का आग्रह है वह विनय सम्पन्न नहीं है । व्यवहार की उपयोगिता को भूमिका अनुसार स्वीकार करके जो निश्चय की भूमिका में आरोहण करता है वह निश्चय-व्यवहार नय का सही जानकार होता है। ऐसा व्यक्ति ही सही मायने में विनयशील है। इसलिए नयों का सम्यग्ज्ञान हमें वास्तव में विनय सम्पन्न बनाता है, यह सिद्ध होता है।

नय का अर्थ होता है- ले जाना। जो हमें वस्तु या पदार्थ के सही ज्ञान की ओर ले चले वह ज्ञान या अभिप्राय नय कहलाता है । नय हमें किसी अपेक्षा से वस्तु के एक पहलू (धर्म) का ज्ञान कराता है ।

व्यवहार नय हमें दो पदार्थों के मिले-जुले रूप का ज्ञान कराने में काम आता है तो निश्चय नय बिना मिले-जुले शुद्ध पदार्थ का ज्ञान कराने के काम आता है। जैसे- हल्दी और चूना दो पदार्थ हैं। एक का रंग पीला है और दूसरे का रंग सफेद। जब इन दोनों का मिला रूप लाल रंग हमारे सामने आता है तो व्यवहार नय कहता है कि यह लाल रंग है। निश्चय नय कहता है कि यह पीले और सफेद रंग हैं। निश्चय नय कहता है पीला गुण पीला ही रहेगा वह कभी लाल नहीं हो सकता है और सफेद रंग भी सफेद ही रहेगा वह कभी भी लाल नहीं हो सकता है । व्यवहार नय कहता है भैया देखो! यह अब लाल रंग है। दोनों नयों का कथन अपेक्षा भेद से सत्य है। अज्ञानी एक बात को मानकर लड़ता रहता है।

इसी तरह आत्मा और कर्म के संयोग से यह शरीर आदि दशायें दिखती हैं । निश्चय नय आत्मा को आत्मा और कर्म को कर्म, शरीर को पुद्गलात्मक शरीर ही कहता है। व्यवहार नय शरीर और आत्मा की संयोग दशा का ज्ञान कराता है और उसी को कहता है।

मान लो आपसे पूछा कि आत्मा संसारी है, या मुक्त? जो मात्र निश्चय नय से आत्मा का ज्ञान रखता है, वह कहता है आत्मा मुक्त है। जो मात्र व्यवहार नय से आत्मा को जानता है, वह कहता है आत्मा संसारी है। किन्तु जो व्यवहार और निश्चय दोनों को जानता है वह कहता है कि आत्मा व्यवहार नय से संसारी है और निश्चय नय से मुक्त है। इस प्रकार दोनों नयों का अपेक्षा भेद से कथन करने वाला अनेकान्त स्वरूप को जानने वाला है। जहाँ वस्तु के अनेक अन्त (अर्थात् पहलू या धर्म, गुण) को जाना जाता है वह अनेकान्त दर्शन है।

कुछ अन्धे लोगों ने एक बार एक हाथी को पकड़ लिए। जिसने हाथी की पूंछ पकड़ी वह कहता है हाथी रस्सी जैसा मोटा होता है । जिसने हाथी की सूंड पकड़ ली वह कहता है नहीं रे! हाथी तो मूसल जैसा लम्बा होता है । जिसने हाथी के पैर पकड़ लिए वह कहता है तुम लोग कुछ नहीं जानते, हाथी तो किसी खम्भे जैसा भारी होता है, जिसने हाथी का दाँत पकड़ा, वह कहता है अरे! हाथी तो लोहे की छड़ जैसा चिकना-लम्बा होता है।

इस तरह सब लड़ने लगे तो एक आँख वाले व्यक्ति ने कहा आपका कहना कथंचित् (किसी अपेक्षा से) सत्य है सर्वथा (एकान्त रूप से) सत्य नहीं है।

बताओ ज्ञानी आत्माओ! आत्मा खाता है, पीता है कि नहीं? निश्चय एकान्तवादी कहेगा- 'आत्मा खाता नहीं, आत्मा पीता नहीं, आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध छ।' व्यवहार नय को ही मात्र जानने वाला होगा वह कहेगा आत्मा ही खाती है, आत्मा ही पीती है।

व्यवहारनयी निश्चय वाले को तर्क देता है कि यह आत्मा खाती नहीं तो खाना-पीना छोड़ दे, त्याग दे। क्यों अनुकूल नहीं मिलने पर क्रोध करता है? निश्चयनयी व्यवहार वाले को तर्क देता है कि यदि शरीर

खाता है तो मरने के बाद शरीर को खिला तो जानें। दोनों अज्ञानता से लड़ते रहते हैं । जो अनेकान्त दर्शन को जानने वाला है वह कहता है भैया! विवाद मत करो। आप दोनों का कथन अपनी अपनी-अपेक्षा से सत्य है, सर्वथा नहीं। देखो! आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा से खाती नहीं, पीती नहीं बिल्कुल सही। इसी प्रकार आत्मा व्यवहार नय की अपेक्षा से खाती है, पीती है बिल्कुल सही। यदि आप नयों का माध्यम बनाकर दोनों पहलू को स्वीकार करें तो आप जैन दर्शन के ज्ञाता कहलाएँगे, नहीं तो दोनों ही मिथ्याज्ञानी हैं।

नय ज्ञान विवाद को सुलझा देता है। यदि निश्चयनय से आत्मा खाती होती तो अभी तक बहुत मोटी बन गई होती। उसके असंख्यात प्रदेश बढ़ गये होते या उन प्रदेशों में स्थूलता आ गयी होती। किन्तु अनादि काल से तीन लोक का सारा अनाज खाकर भी आत्मा वैसी ही है। इसलिए निश्चय नय से आत्मा का यह ज्ञान सत्य है।

यदि व्यवहार नय से आत्मा खाती नहीं है तो फिर कौन खाता है? कौन सन्तुष्ट होता है। शरीर तो जड़ है उसे तो कोई संवेदना है नहीं, उसमें क्रिया है नहीं तो फिर खाने वाला कौन? और अच्छा-बुरा कहकर हर्ष-विषाद करने वाला कौन?

इससे स्पष्ट है कि हम जब दोनों नयों को यथार्थ मानेंगे तभी पदार्थ का सही ज्ञान होगा।

इसी तरह आत्मा कषायी है या कषाय रहित है, आत्मा बन्धनबद्ध है या मुक्त है? आत्मा कर्माधीन है या कर्मरहित है? आत्मा पुरुषार्थ अधीन है या भाग्याधीन है? इत्यादि अनेक प्रश्न अनेकान्त धर्म के माध्यम से नय ज्ञान का सहारा लेकर अपनी बुद्धि में स्वीकारोगे तभी मान कषाय का अभाव होगा। विनय सम्पन्नता आएगी और सम्यग्ज्ञान की ओर आत्मा बढ़ेगा। यह विनय मुक्तिपथ पर ले जाएगी और तीर्थंकर जैसा महान नेता बनाने में समर्थ होगी।

यह विनय सहज है, यह दिखाते हैं

जेंसि वि य रयणत्तं तेसिं णिच्छं य भावणाधम्मे।
जे णिरवेक्खा लोए तेसिंचरणेसुलग्गदे दिट्ठी॥२॥

जो रत्नत्रय धारण करके नित उसका पालन करते
वही धर्म है जिसको धरके धार्मिक सब जन हैं कहते।
जग में रहकर भी जो जग से नहीं अपेक्षा कुछ रखते
उनके चरण कमल में दृष्टि लगी सहज वो मद हरते ॥२॥

अन्वयार्थ : [जेसिं वि य] जिनके पास **[रयणत्तं]** रत्नत्रय है **[तेसिं]** उनकी **[णिच्चं य]** नित्य ही **[धम्मे]** धर्म में **[भावणा]** भावना रहती है। **[जो]** और जो **[लोए]** लोक में **[णिरवेक्खा]** निरपेक्ष हैं **[तेसिं]** उनके **[चरणेसु]** चरणों में **[दिट्ठी]** दृष्टि **[लग्गदे]** लग जाती है।

भावार्थ : जिसके पास रत्नत्रय है, वह मुनिराज धर्म में ही भावना रखते हैं। क्योंकि रत्नत्रय को ही धर्म कहा है। जो धार्मिक है, उसकी विनय धर्म को चाहने वाला करता ही है । यदि वह धार्मिक लोक में निरपेक्ष है, अर्थात् लोकैषणा से दूर है तो उसके चरणों में दृष्टि अपने आप उस सम्यग्दृष्टि की लग ही जाती है। यह आत्मा का सहज गुण बन जाता है। सम्यग्दृष्टि का यह गुण बनावटी नहीं है और न वह किसी की चापलूसी करता है। वह उसी की विनय करता है जिसके पास रत्नत्रय का धारण, पालन देखा जाता है। वह किसी चमत्कार और प्रलोभन के बिना विनय में प्रवृत्त होता है। वि + नय =विनय, यानि विशेष रूप से ले जाने वाला। जो मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ाने वाला गुण है और जो एक नेता की महानता का द्योतक है, वह गुण विनय ही है।

विनय सम्पन्नता महान् गुण है। आचार्य श्री वीरसेन जी महाराज श्रीधवल की टीका करते हुए कहते हैं किविनय सम्पन्नता से ही तीर्थंकर नामकर्म को बांधते हैं । वह इस प्रकार से है- ज्ञान विनय, दर्शन विनय और चारित्र विनय के भेद से विनय के तीन प्रकार हैं। उनमें बारंबार ज्ञानोपयोग से युक्त रहने के साथ बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति ज्ञान का विनय है।

आगम में उपदिष्ट(कहे) समस्त पदार्थों के श्रद्धान के साथ तीन मूढ़ताओं से रहित होना, आठ मलों को छोड़ना, अरहन्त भक्ति, सिद्ध भक्ति, क्षण लव प्रतिबुद्धता और लब्धिसंवेग सम्पन्नता को दर्शन विनय कहते हैं।

शीलव्रतों में निरतिचारता, आवश्यकों में अपरिहीनता अर्थात् परिपूर्णता और शक्त्यनुसार तप का नाम चारित्र विनय है।

साधुओं के लिए प्रासुक आहार आदि का दान, उनकी समाधि का धारण करना, उनकी वैयावृत्ति में उपयोग लगाना और प्रवचन वत्सलता यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों का ही विनय है क्योंकि रत्नत्रय समूह को साधु व प्रवचन की संज्ञा प्राप्त है। इसी कारण विनय सम्पन्नता एक होकर भी सोलह अवयवों से सहित है। अतः उस एक ही विनय सम्पन्नता से मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म को बांधते हैं।

यह विनय क्यों करता है, यह कहते हैं

रयणत्तयं य धम्मो अप्पणो णेव अण्णदव्वस्स।
तम्हा स धम्मिगाणां भत्तीए णिच्चमुवजुत्तो॥३॥

रत्नत्रय आतम का गुण है, आतम का ही धर्म कहा
अन्य द्रव्य में भला कहीं यह पाया जाता कहो ? अहा!
धर्म, गुणों को धारण करते वे धार्मिक जन कहलाते
उनकी भक्ति में जो लगते वे सम्यक् सुख पा जाते॥३॥

अन्वयार्थ : [अप्पणो] आत्मा का **[धम्मो]** धर्म **[रयणत्तयं य]** रत्नत्रय है **[तम्हा]** इसलिए **[स]** वह **[धम्मिगाणं]** धार्मिकों की **[भत्तीए]** भक्ति में **[णिच्चं]** हमेशा **[उवजुत्तो]** लगा रहता है।

भावार्थ : जो अपनी आत्मा को जानता है, वह सबकी आत्मा को जानता है । जो अपनी आत्मा का सम्मान करता है, वह सबकी आत्मा का सम्मान करता है। विनय आत्मा का धर्म है, एक विशिष्ट गुण है । रत्नत्रय भी आत्मा का धर्म है । रत्नत्रय आत्मा के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। आत्मा का यह धर्म जिनके पास है वह धार्मिक हैं। उन धार्मिकों की भक्ति में लगना ही, उनकी विनय करना है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव धार्मिक की भक्ति में सदैव उद्यत रहता है।

कौन विनय के योग्य नहीं होता है, यह कहते हैं

जो पुण दप्पेण जुदो कंखदि विणयं हु मोक्खमग्गिस्स।
सो हि कसायाविट्ठो कधं हवे विणअ जोग्गो खलु॥४॥

मोक्षमार्ग में लगे हुए की दर्प युक्त होकर के जो
विनय चाहता, भक्ति चाहता मान कषाय बढ़ाकर जो।
स्वयं बना अभिमानी है जो स्वयं कषायी होकर आप
विनय योग्य वह कहो कहाँ सेहो सकता जबना निष्पाप॥४॥

अन्वयार्थ : [जो] जो व्यक्ति **[पुण]** पुनः **[दप्पेण]** दर्प से **[जुदो]** युक्त हुआ **[हु]** निश्चित ही **[मोक्खमग्गिस्स]** मोक्षमार्गी की **[विणय]** विनय **[कंखदि]** चाहता है **[सो]** वह **[हि]** निश्चित ही **[कसायाविट्ठो]** कषाय से सहित है **[विणअ जोग्गो]** वह विनय योग्य **[खलु]** वास्तव में **[कधं]** कैसे **[हवे]** होवे।

भावार्थ : जैसे बिच्छु अपने डंक के अभिमान से भरा रहता है, वैसे ही मानी व्यक्ति अपनी उत्कृष्टता के दर्प से सहित होता है। बिच्छु का दर्प तभी तक रहता है जब तक उसके पास डंक रहता है और तभी तक वह उसे अपने सिर पर उठाकर दर्प लिए फिरता है। कोई दूसरा व्यक्ति भी जो कि मोक्षमार्ग पर चल रहा है,

वह भी यद्यपि विनयवान है, लेकिन उसकी विनय की इच्छा कोई करे कि यह हमेशा मेरी विनय करे। या यह हमारी विनय करता है इस प्रकार के अभिमान से युक्त रहता है। या यह हमारी विनय करे, इस प्रकार की कषाय से युक्त रहता है। ऐसी स्थिति में जो स्वयं कषायवान है, वह विनय के योग्य कैसे हो सकता है? अर्थात् कषायवान् जीव की विनय करने से उस सम्यग्दृष्टि को क्या लाभ होगा? वस्तुतः कषायवान जीव विनय के योग्य ही नहीं है, यह तात्पर्य है।

विनय रहित जीव को सुख नहीं मिलता, यह कहते हैं

विणएण रहिदजीवो अजव धम्मं कदा ण पावेदि।
तेण विणेह ण सोक्खं होदि कधं तंच परलोए ॥५॥

जो जन विनय नहीं करता है कैसे ऋजुता धर्म धरे
ऋजुता बिन मन भारी रहता कैसे मन को सौख्य अरे!
इस जीवन में सुखी नहीं जो कैसे आगे सुख पाए
बीज नहीं बोया तो मानव कैसे तरुवर फल खाए? ॥५॥

अन्वयार्थ : [विणएण] विनय से **[रहिदजीवो]** रहित जीव **[अज्जव धम्मं]** आर्जव धर्म को **[कदा]** कभी **[ण पावेदि]** प्राप्त नहीं करता है **[तेण विणेह]** उसके बिना इस लोक में **[सोक्खं]** सुख **[ण]** नहीं होता है **[कधं]** कैसे **[तं च]** वह सुख **[परलोए]** पर लोक में **[होदि]** हो।

टीकार्थ : जिस तरह मृदुता आत्मा का धर्म है उसी तरह ऋजुता आत्मा का धर्म है । ऋजुता का सम्बन्ध मृदुता से है। आज मनुष्य के पास दो ही दुःख हैं। कुछ कम होने से अभिमान की पूर्ति नहीं होने का दुःख है और सब कुछ होने से अभिमान को बनाए रखने का दुःख रहता है । साधु- संतों के पास कुछ नहीं होता है इसलिए उन्हें सर्वसुखी कहा जाता है। आत्मानुशासन में तो उनका दूसरा नाम ही सुखी रखा है । यह सुखी जीव भी इसी अभिमान के कारण भीतर से दुःखी रहता है। अभिमान को जीतने की बजाय साधु पुरुष भी अभिमान को और पुष्ट करके सुखी होते हैं । वस्तुतः यह भी दुःख को बनाये रखने का और और दु:खी बने रहने का तरीका है। जब तक समता पूर्वक अभिमान- अपमान को सहन करने की मानसिकता नहीं बनती है तब तक दुःख से मुक्ति नहीं होती है। प्रतिष्ठित श्रावक, धनी वर्ग भी इसी अभिमान को कायम बनाए रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। जो व्यक्ति इस जीवन में सुखी नहीं रह सकता है, भला वह परलोक में कैसे सुखी होगा? इस जीवन में प्रतिपल समता रखने से ही मृदुता, ऋजुता धर्म का आर्विभाव होता है। विनय सम्पन्नता इसलिए महान गुण है।

विनय एक तप है, यह कहते हैं

अब्भतरो तवो खलु विणओ तित्थंकरेहिं उद्दिट्ठो।
णिम्मदमणेण जम्हा आदम्मि संलीणदा होदि॥६॥

तीर्थंकर, गणधर देवों ने दो प्रकार तप बतलाए
विनय कहा अभ्यन्तर तप है, इसमें साधक मन लाए।
निर्मद मन ही हलका होकर आतम में गोते खाता
डूब-डूब कर डुबकी लेता करम मैल धोता जाता॥६॥

अन्वयार्थ : [तित्थंकरहिं] तीर्थंकरों ने **[अब्भंतरो तवो]** अभ्यन्तर तप **[खलु]** निश्चित ही **[विणओ]** विनय **[उद्दिट्ठो]** कहा है। **[जम्हा]** चूंकि **[णिम्मदमणेण]** निर्मद मन से **[आदम्मि]** आत्मा में **[संलीणदा]** लीनता **[होदि]** होती है।

भावार्थ : तप दो प्रकार के हैं। बाह्य तप एवं अभ्यन्तर तप। बाह्य तप में शरीर की तपस्या की मुख्यता रहती है। अन्तरङ्ग तप में मानसिक तप की मुख्यता रहती है। अन्तरङ्ग तप से कर्म की निर्जरा अवश्य होती है किन्तु बाह्य तप के साथ नियमाकता नहीं है । विनय एक अन्तरङ्ग तप है। इसे तीर्थंकरों ने कहा है। विनयशील मनुष्य के हृदय में सन्ताप नहीं रहता है जिससे उसकी आत्मा में लीनता सहज हो जाती है। अहंकारी व्यक्ति आत्मा में मन नहीं लगा पाता है। विनय सम्पन्नता किसे कहते हैं? –

कुलरूवणाणविसए संपण्णो वि अप्पसंसरहिदो य।
पुज्जेसु णीचदिट्ठी विणयस्स संपण्णदा णाम॥ ७॥

उच्च कुलीन महाजन हो या सुन्दर हो चौखा हो रूप
ज्ञान प्रशंसा भी हो जग में वैभव सहित बना हो भूप।
फिर भी आत्म प्रशंसा करके नहीं गर्व जो मन धारे
पूज्य पुरुष लखनयनझुकाता विनयपूर्णवच-तन सारे॥७॥

अन्वयार्थ : [कुल-रूव-णाण-विसए] कुल, रूप, ज्ञान के विषय में **[संपण्णो वि]** सम्पन्न होकर भी **[अप्प-संसरहिदो य]** आत्म प्रशंसा से रहित होना व **[पुज्जेसु]** पूज्य पुरुषों में **[णीचदिट्ठी]** नीच दृष्टि होना **[विणयस्स संपण्णदा णाम]** विनय संपन्नता नाम है।

भावार्थ : सम्पन्नता परिपूर्णता है। यह सम्पन्नता सम्यग्दर्शन आदि धर्म से ही प्राप्त होती है। श्रेष्ठ कुल, सुन्दर रूप, सम्यग्ज्ञान आदि ऐसे दुर्लभ गुण हैं जो धर्म से ही प्राप्त होते हैं । धार्मिक जीव इन सबको प्राप्त करके भी उन्मत्त नहीं होता है। इसके अतिरिक्त बल, पराक्रम आदि भी ऐसे ही गुण हैं जिनकी प्राप्ति होने पर सामान्य आदमी को मद प्राप्त होता है। किन्तु सज्जन पुरुष इन्हें प्राप्त करके और अधिक विनयी तथा क्षमावान हो जाता है। कहा भी है

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात् दुष्ट पुरुष की विद्या विवाद कलह के लिए होती है। धन अहंकार के लिए होता है और उसकी शक्ति दूसरों को कष्ट देने के लिए होती है। साधु पुरुष के लिए यह वस्तुएं विपरीत फल देती हैं । उसकी विद्या ज्ञान (आत्मज्ञान) के लिए होती है, धन दान के लिए होता है और शक्ति (बल) दूसरों की रक्षा के लिए होता है।

सेठ सुदर्शन की तरह रूपवान होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, जयकुमार सेनापति की तरह शौर्य से सहित होकर भी क्षमावान, विनयी सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।

अब निर्मद जीव मोक्ष स्थान प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं

णाणं य पुजा य कुलं य जादी
बलं य इड्ढी य तवो सरीरं।
छिण्णंति जे अट्ठविहं मदं ते
णिम्माणगा जंति सिवस्स ठाणं॥८॥

नहीं ज्ञान का, पूजा का मद, ना जाति ना कुल का मद
बल, ऋद्धि का तप तपने का, ना शरीर का जिसको मद।
ऐसे मृदुतम भावों वाला साधक अठ मद नाश रहा
उछल-उछल करआत्मशक्ति से शिव-सुख करता वास अहा॥८॥

अन्वयार्थ : [णाणं य] ज्ञान **[पुजा य]** पूजा **[कुलं य]** कुल **[जादी]** जाति **[बलं य]** बल **[इड्ढी य]** ऋद्धि, **[तवो]** तप और **[सरीरं]** शरीर **[अट्ठविहं मदं]** इन आठ प्रकार के मद को **[जे]** जो **[छिण्णंति]** नष्ट करते हैं [ते] वे **[णिम्माणगा]** मान रहित जीव **[सिवस्स]** मोक्ष के **[ठाणं]** स्थान को **[जंति]** प्राप्त होते हैं।

भावार्थ : जितने भी जीव मोक्ष गये हैं वे सभी मान रहित होकर ही मोक्ष गये हैं। ज्ञान, रूप आदि मद को छोड़कर जाति, कुल आदि का मद भी अन्ततः छोड़कर ही मोक्ष होता है। मद तो कषाय की तीव्रता में होता है और मन्दता में होता है। यह भी आत्मध्यान में बाधक है। सार यह है कि जो जितना निर्मद होता जाता है वह उतना ही अधिक पाता जाता है। अहंकार में विवेक रहित बुद्धि हो जाती है जिससे रावण की तरह जीव सही-गलत नहीं सोच पाता है और वही करता है जो कषाय कराती हैं।

3. णिरदियार सीलभावणा

पंच य अणुव्वयाइं महव्वदाइं वि भावणासहिदा।
अइचाराणि य तहा वीरजिणिंदेहिं उत्ताणि॥१॥

धर्म देशना के अवसर पर यत्र तत्र विचरण करते
अणुव्रत और महाव्रत का ही वीर प्रभु वर्णन करते।
बिन अतिचार इसी संयम का भाव सहित नित पालन कर
तथा भावना के पौरुष से भाग्यवाद का वारण कर॥१॥

अन्वयार्थ : [अणुव्वयाइं] अणुव्वयाई अणुव्रत **[पंच]** पांच हैं **[य]** और **[महव्वदाइं]** महाव्रत **[वि]** भी पांच हैं **[भावणा सहिदा]** ये भावना सहित हैं **[तहा य]** तथा **[अइचाराणि]** अतिचारों को **[वीरजिणिंदेहिं]** वीर जिनेन्द्र देव ने **[उत्ताणि]** कहा है।

भावार्थ : वीर भगवान् ने पांच महाव्रतों को और पांच अणुव्रतों को कहा है। अणुव्रत श्रावकों के लिए कहे हैं। और महाव्रत श्रमणों के लिए कहे हैं । अणुव्रत और महाव्रत अतिचार सहित और भावना सहित कहे हैं। व्रतों के पांचपांच अतिचार और पांच-पांच भावनाएं हैं । भावनाओं से व्रतों में दृढ़ता आती है और अतिचारों का चिन्तन करने से व्रत निर्दोष बने रहते हैं।

हे भव्यात्मन् ! सुनो- इन महाव्रतों और अणुव्रतों को भगवान् महावीर ने अपनी दिव्यवाणी से कहा है। भगवान् ने क्या कहा है? हमें उनकी आज्ञा पालन करने को आज्ञा सम्यक्त्व मानकर मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। भगवान् ने क्या देखा? कैसे देखा? इस विषय में इतना ज्ञान ही पर्याप्त है कि भगवान् के केवलज्ञान में प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण और भूत तथा आगामी काल की अनन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष के समान जाना जाता है । केवलज्ञान की यह विशदता केवलज्ञानावरणी कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई है। यह भगवान् के ज्ञान का अद्भुत परिणमन है । इस ज्ञान के विषय में तर्कणा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा असम्भव है। सबसे पहला सम्यग्दर्शन आज्ञा सम्यक्त्व है। सबसे पहला ध्यान आज्ञा विचय धर्मध्यान है । सम्यग्दृष्टि का सबसे प्रथम गुण भगवान् सर्वज्ञ की आज्ञा मानना है, न कि उनकी सर्वज्ञता का निश्चयात्मक एक पहलू पकड़कर पुरुषार्थहीन बनना है।

प्रतिक्रमण पाठ जिसे मुनिराज प्रत्येक चतुर्दशी को करते हैं, वह प्रतिक्रमण भगवान् गौतम गणधर द्वारा रचित है, ऐसा वृद्ध परम्परा से श्रवण गोचर होता आ रहा है। उस प्रतिक्रमण पाठ में गौतम गणधर

स्वयं कहते हैं कि हे आयुष्मान्! मैंने जो भगवान् की दिव्यध्वनि से सुना है, उसे सुनो

इस भरत क्षेत्र में देव, असुर और मनुष्यों से सहित, सर्वप्राणियों को कर्म की परवशता से अन्य स्थान से यहाँ आना, यहाँ से अन्यत्र जाना, मरण करना, जन्म लेना, कर्मों का बन्ध, कर्मों से मुक्त होना, इन्द्र, चक्रवर्ती की ऋद्धियां, आयुकर्म की स्थिति, तेज, कर्मों की अनुभाग शक्ति, तर्कशास्त्र, कला, विद्या, मानसिकता, पूर्व अनुभूत, पूर्वकृत, पुनः सेवित, असि आदि आद्य कर्म, अकृत्रिम कार्य, सर्वलोक में सम्पूर्ण जीवों को, सर्व पर्यायों को, एक साथ जानते हुए, देखते हुए, विहार करते हुए, काश्यप गोत्रीय, श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महति- महावीर भगवान् ने पच्चीस भावनाओं सहित, पाँच समिति, तीन गुप्ति सहित, उत्तर गुणों से सहित, श्रमणों को पाँच महाव्रत और रात्रि भोजन त्याग रूप छठे अणुव्रत स्वरूप, समीचीन धर्म का उपदेश दिया है।

इसी प्रकार आगे लिखा है कि हे आयुष्मान्! मैंने (गौतम गणधर ने) श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह प्रकार के समीचीन गृहस्थ धर्म का जैसा स्वरूप सुना है, उसे मैं कहता हूँ

इस तरह हम देखते हैं कि भगवान् विहार करते हुए सर्वत्र श्रमण धर्म और गृहस्थ धर्म का उपदेश देते हैं। गौतम गणधर के ये वचन पंचमकाल के अन्त तक प्रामाणिकता के साथ-साथ जयवन्त रहेंगे।

त्रिकाल की समस्त पर्यायों को जानते-देखते हुए भी भगवान् ने यह नहीं कहा कि- आयुष्मान् भव्य! तुम काल लब्धि की प्रतीक्षा करो। हमारे ज्ञान में तुम्हारी आगामी सभी पर्यायें दिख रही हैं। तुम्हारा पुरुषार्थ स्वयं काल लब्धि आने पर वैसा ही हो जाएगा।

यह कथन न तो स्वयं भगवान् ने अपनी दिव्यध्वनि से कहा। ना ही यह कथन गौतम गणधर आदि ऋद्धिसम्पन्न शिष्यों ने कहा और ना ही उत्तरवर्ती आचार्यों, मुनियों ने कहा। फिर भी काललब्धि की मुख्यता से कथन करना, पुरुषार्थहीन होकर बैठना, देशव्रत, महाव्रत को बन्ध का और संसार का कारण कहना, ये सारहीन तथ्य आगम विरुद्ध हैं। अकर्मण्य पुरुषों ने छल से इस तरह का उपदेश देना प्रारम्भ किया है।

निकट भव्य जीव वही है जो भगवान् के इस उपदेश को मानकर अणुव्रत या महाव्रतों का पालन करता है। यदि व्रत पालन की सामर्थ्य नहीं है तो भी आत्म निन्दा से युक्त रहता है किन्तु कदापि व्रती जीवों की निन्दा नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीव का श्रद्धान भगवान् की वाणी पर इसी तरह होता है, अन्यथा नहीं।

अब सम्यग्दृष्टि जीव की भावना कहते हैं

सम्मादिट्ठी जीवो सव्वं रोचेदि भगवदोत्तं जं।
गिण्हामि कदा सुवदं णिच्चमिदं भावमाणो वा॥२॥

जो समकित समदर्शी प्राणी जिनवर कथित व्रतादिक को
रुचि से गहता भाग्य समझता संयम, व्रत, तप पालन को।
ग्रहण करूँ कब कठिन व्रतों को इस विधि भाव जगाता है
शील-व्रतों की करे भावना भाव फलों को पाता है॥२॥

अन्वयार्थ : [जं] जो **[भगवदा उत्तं]** भगवान ने कहा है **[सव्वं]** वह सभी **[सम्मादिट्ठी]** सम्यग्दृष्टि **[जीवो]** जीव को **[रोचेदि]** रुचता है **[वा]** या **[कदा]** कब **[सुवदं]** सुव्रतों को **[गिण्हामि]** ग्रहण करूँ **[णिच्चं]** हमेशा **[इदं]** यह **[भावमाणो]** भावना करता है।

भावार्थ : जो व्रती वस्तुत: सम्यग्दृष्टि है वह भगवान के द्वारा कहे हुए अणुव्रतों और महाव्रतों को तथा उनके अतिचार आदि को यथावत् स्वीकार करता है। सम्यग्दृष्टि जीव व्रतों के स्वरूप में रुचि करता है। व्रतों को अपना आत्म स्वभाव मानता है और जानता है कि इन्हीं व्रतों से निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। व्रती सम्यग्दृष्टि जीव व्रतों को निर्दोष बनाकर आत्मस्वभाव में स्थित होता है । अथवा जो व्रती नहीं है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव सदैव व्रतों में रुचि रखते हुए यह भावना करता है कि भगवन्! कब यह भगवान आत्मा व्रतों को ग्रहण करके असंयम को छोड़ेगा? सम्यग्दृष्टि जीव व्रतों को ग्रहण करने के लिए उसी तरह छटपटाता है जैसे कोई अपराधी काराग्रह में बंदी बनाकर रख लेने पर छटपटाता है। पुराणों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव जीवन के अन्त तक व्रतों को अवश्य धारण करता है। यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तब तो नियम से व्रत ग्रहण करता है, भरत चक्रवर्ती, राम आदि की तरह । यदि उसने पहले नरकादि आयु का बंध कर लिया है तो भी श्रेणिक राजा की तरह अपने सम्बन्धियों को विरक्त होते देखकर उन्हें रोकता नहीं है अपितु आश्चर्य करता है कि भगवन् ! हमें व्रत ग्रहण करने का भाव क्यों नहीं हो रहा है?

अनतिचार व्रत किसके होते हैं, इसका समाधान–

जो होदि अप्पमत्तो गिहिदव्वदपालणे सदा जुत्तो।
विकहाकसायरहिदो सीलवदे अणइचारो सो॥३॥

ग्रहण किए हैं व्रत आदिक जो उनके पालन में रमता
सावधान हो कायादिक से प्राणिदया मन में रखता।

लोभादिक को जीत लिया तो विकथा का क्या कारण हो
निरतिचार व्रत-शीलादिक को पाल रहा साधारण हो॥३॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[अप्पमत्तो]** अप्रमत्त **[होदि]** होता है **[गिहिदव्वदपालणे]** गृहीत व्रतों के पालन करने में **[सदा]** सदैव **[जुत्तो]** लगा रहता है। **[विकहा-कसायरहिदो]** विकथा तथा कषायों से रहित होता है **[सो]** वह **[सीलवदे]** शील, व्रतों में **[अणइचारो]** अतिचार रहित होता है।

भावार्थ : जो व्रती संयम पालन करने में प्रमाद नहीं करता है, जीवरक्षा और व्रत की भावना से सदा अप्रमत्त, सावधान रहता है। जो व्रत ग्रहण किये हैं उनका निर्दोष पालन करने में सदा उपयोग सहित रहता है। अन्य समय में आपसी लोगों से भी विकथा नहीं करता है । स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोरकथा, राजकथा ये पाप बन्ध का कारणभूत विकथाएँ हैं । विकथा करने से कषाय की वृद्धि होती है। व्रती केवल अपने व्रत पालन में तत्पर रहे तो उसे विकथा और कषाय करने का समय ही नहीं मिलेगा। उसी व्रती के निर्दोष शील, व्रत होते हैं।

और कौन निरतिचार होता है? यह कहते हैं

परमट्टभावणादो अप्पाणं भावयदि अणण्णमणो।
पुण्णफलं ण हि कंखदि सीलवदे अणइचारो सो॥४॥

हो अनन्यमन एकमना वो परमारथ रथ पर चढ़ता
स्वयं सारथी योद्धा भी हो मन विकल्प रिपु से लड़ता।
पुण्य फलों से मिले भोग की नाम, दाम की चाह बिना
बना विजेता मोक्षमार्ग का व्रती वही निर्दोष बना॥४॥

अन्वयार्थ : [अणण्णमणो] जो एकमना होकर **[परमट्ठभावणादो]** परमार्थ की भावना से **[अप्पाणं]** आत्मा की **[भावयदि]** भावना करता है **[पुण्णफलं]** और पुण्यफल की **[कंखदि]** आकांक्षा **[ण हि]** नहीं करता है **[सो]** वह **[सीलवदे]** शील, व्रतों में **[अणइचारो]** अनतिचार होता है।

भावार्थ : जो व्रती निश्चय आत्म स्वरूप की भावना से आत्मा की भावना करता है, आत्म स्वरूप का चिन्तन करता है, आत्मा में एकाग्रचित्त होता है। अपने मन को विक्षिप्त नहीं रखता है। आत्मा भावना से रहित काल में आवश्यक क्रियाओं को करते हुए पुण्य फल की आकांक्षा नहीं करता है, वह शीलव्रत में अतिचार रहित होता है।

हे आत्मन्! परमार्थ की भावना रखो। बिना परमार्थ के व्रत, तप, शील आदि अंक रहित शून्य की तरह हैं। परमार्थ का अर्थ है- परम अर्थात् उत्कृष्ट और अर्थ अर्थात् प्रयोजनीय। उत्कृष्ट रूप से प्रयोजनीय। वह क्या होता है? तो अपना शुद्धात्म तत्त्व या मोक्ष। अर्थ का दूसरा अर्थ है पदार्थ। उत्कृष्ट पदार्थ भी परमार्थ है। शुद्ध आत्मा ही उत्कृष्ट पदार्थ है। यही परमार्थ है।

समय ही परमार्थ है, शुद्ध आत्मा ही परमार्थ है, जो केवलज्ञानी आत्मा है, वही परमार्थ है, प्रत्यक्षज्ञानी मुनि परमार्थ है, ज्ञानस्वरूपी आत्मा परमार्थ है।

इस परमार्थ की भावना से किया गया व्रत, तप, शील आदि सम्यक् है। जो परमार्थ की भावना से व्रत, तप आदि करेगा, वह भला पुण्य के फल की इच्छा क्यों करेगा? पुण्य का फल चाहना तो संसार को चाहना है। सम्यग्दृष्टि जीव को संसार की इच्छा नहीं होती है तो पुण्य के फल से मिलने वाले पद-वैभव की वांछा कैसे हो सकती है?

व्रत, तप धारण करने वाला जीव बिना परमार्थ की भावना से परमार्थ के ध्यान के बिना ख्याति-पूजा-लाभ के व्यामोह में भी आकर भी व्रती बन जाता है और परमार्थ की भावना के साथ भी व्रती बनता है। किसके अन्दर व्रत आदि धारण का उद्देश्य क्या है, यह स्थूल(मोटे) रूप से तो कदाचित् स्वयं साधक को भी समझ में आता है

और कदाचित् स्वयं साधक को भी समझ में नहीं आता है। इसलिए समस्त व्रती, तपस्वी जनों को बाह्य तप, व्रत मात्र का आचरण करने वाले और परमार्थ की भावना से शून्य समझना स्वयं का मिथ्यात्व जन्य तीव्र अहंकार है।

जो पुण्य फल के व्यामोह से विद्याधर मनुष्य, चक्रवर्ती आदि राजाओं के वैभव को देखकर मोहित हो जाता है, तो वह निदान बन्ध कर लेता है। जिसने निदान बन्ध किया, उसने पुण्य के फल को चाहा। ऐसा जीव निरतिचार शील, व्रत को धारण करने वाला नहीं है।

अरे आत्मन्! इस मोह की परिणति बड़ी विचित्र है। अपने स्वार्थ के लिए यह जीव मोक्षमार्ग पर न चलता है और न कभी-कभी दूसरों को चलने देता है।

भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी मोह के कारण वैराग्यवान् नहीं हुए। क्रोध के कारण अपने भाई बाहुबली पर चक्र चला दिया, बाद में उनके चरणों में नत मस्तक हो गए तो क्या हुआ? क्रोध तो अपने मान भंग होने के कारण आया ही। भगवान् वृषभनाथ के केवलज्ञान होने पर भी भरत को वैराग्य नहीं हुआ। बहिन ब्राह्मी और सुन्दरी ने दीक्षा धारण कर ली तब भी वैराग्य नहीं हुआ। अपने अट्ठानवें भाई एक साथ जब दीक्षित हुए तो भी भरत को राज्य सत्ता से ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई। भरत स्वयं जानते थे कि

हमारे सभी भाई इसीलिए दीक्षित हुए हैं कि वह हमारी अधीनता स्वीकारना नहीं चाहते हैं। ऐसे चक्री बनने से क्या सुख जो अपने भाइयों को ही अपने से अलग कर दे? ऐसा राजपाट का अहंकार भी क्या जो अपने ही भाई को मारने के लिए चक्र छोड़ने के लिए बुद्धिभ्रम उत्पन्न कर दे?

मित्रो! सब को मालूम है, यह सब हुआ। इतना ही नहीं स्वयं वर्धनकुमार आदि ९२३ पुत्र एक बार में ही भगवान् आदिनाथ के दर्शन करके संयम ग्रहण कर लिए। आत्मा की अन्तरंग परिणति कौन जान सकता है? काल लब्धि की प्रतीक्षा कभी किसी भी भव्यात्मा ने नहीं की। जिस समय पर आत्म उद्धार करने का कार्य घटित हो जावे वही काल लब्धि है।

कुछ लोग ज्ञान बांटते हैं कि जब अर्धपुद्गल परावर्तन संसार रह जाता है तभी सम्यग्दर्शन की योग्यता आती है, इससे पहले कितना भी पुरुषार्थ करो, कोई अर्थ नहीं। व्रत, तप धारण करो, सब व्यर्थ हैं?

बन्धो! यह मिथ्याज्ञान की मिथ्या धारणाएं हैं। किसी भी जीव को कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता है कि हमारी काल लब्धि कब आएगी? कब संसार अर्धपुद्गल परिवर्तन रह जाएगा? भोले आत्मन् ! जिनवाणी में कथन सापेक्षिक होता है । जब काल की मुख्यता से कथन करते हैं तो काल को निमित्तकर्ता बना दिया जाता है। यह तभी किया जाता है जब काल लब्धि का कथन किया जा रहा हो । जब जीव के परिणामों का कथन करते हैं तो उसके अन्तरंग परिणामों को कर्ता कहा जाता है। इन दोनों सापेक्षिक कथन में मुख्य तो जीव का परिणाम ही है। पुरुषार्थ जीव करता है। जीव परिणामों के द्वारा ऐसे परिणाम करता है कि अनन्त संसार अर्धपुद्गल मात्र रह जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा है कि यह जीव अपने अन्तःकरण परिणामों से इस अनन्त संसार को अर्धपुद्गल मात्र कर देता है। इसी तरह श्री धवल पुस्तक ५ में लिखा है

'अणाइमिच्छादिहिणा तिण्णि करणाणि कादूण पढमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमये अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।'

अर्थात्- अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने तीन करणों को करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रथम समय में अनन्त संसार नष्ट कर दिया और अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र संसार कर दिया।

इसी तरह कहीं 'कीरदे' इस क्रियापद का प्रयोग किया है। कीरदे' का अर्थ जीव के पुरुषार्थ से करना है। स्वयं होना नहीं है।

चक्रवर्ती के ९२३ पुत्र अनादि मिथ्यादृष्टि थे। अनन्त काल तक निगोद में रहे। एक मात्र स्थावर पर्याय में रहकर प्रथम बार मनुष्य की त्रस पर्याय प्राप्त की। प्रथम बार भगवान् के समवशरण को देखा।

पहली बार अरहन्त परमात्मा के दर्शन किए। दर्शन करते ही सीधा संयम ग्रहण कर लिया।

सम्यग्दृष्टि आत्मन् ! जरा विचार करो- क्या उन्होंने भगवान् से अपनी काल लब्धि पूछी थी? क्या उन्होंने यह सोचा कि महाव्रत तो अनन्त बार धारण कर चुके हैं? क्या उन्होंने यह प्रतीक्षा की कि पहले सम्यग्दर्शन हो जाए बाद में काल लब्धि आने पर चारित्र अपने आप आ जाएगा? क्या उन्होंने अर्धपुद्गल परावर्तन काल जानकर संयम ग्रहण किया?

नहीं, नहीं, नहीं। हे आत्मन् ! ये सब तथ्य पुरुषार्थहीन लोगों के शास्त्रीय बहाने हैं। जिन्होंने पंच परावर्तन किए ही नहीं थे, जो अनन्तकाल से एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म मरण कर रहे थे, उनके लिए अर्धपुद्गल परावर्तन काल बचा रहा, जब उन्होंने सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। ऐसी कोई पहचान या लक्षण अर्धपुद्गल परावर्तन काल के अवशिष्ट रह जाने के नहीं हैं।

मोह की परिणति देखो! इतना सब कुछ भरत चक्रवर्ती के सामने घटित होने पर भी उन्हें वैराग्य नहीं हुआ। इतना ही नहीं जब जयकुमार सेनापति संयम ग्रहण करने के लिए तत्पर हुए तो भरत ने उन्हें स्नेहवश रोका। लेकिन वह नहीं रुके और संयम ग्रहण के साथ ही उन्हें ऐसी लब्धि हुई कि वह भगवान् के समक्ष गणधर पद पर सुशोभित हुए।

मोह और राग की तीव्रता में ही ऐसा होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी किसी को संयमी होने से रोके। भरत चक्रवर्ती को लग रहा था कि मेरा एक सेनापति रत्न छूट जाएगा। मेरे वैभव में कमी आ जाएगी, इसलिए ही शायद उन्होंने जयकुमार को रोका हो।

रक्खदि पुण सीलाणि परिधाणीव वदस्स सस्सस्स।
वदभावणापरो जो सीलवदे अणइचारो सो॥५॥

पंच व्रतों की रक्षा कारण शीलव्रतों का अपनाना
बाढ़ लगाकर बढ़ी फसल की रक्षा करना ज्यों माना।

नित्य भावना उत्साहित हो करे व्रती व्रत-शीलों की
लेखा-जोखा साफ-साफतोबहेधारगुण-झीलोंकी॥५॥

अन्वयार्थ : [**पुण**] तथा [**जो**] जो [**सस्सस्स**] फसल के [**परिधाणी इव**] बाढ़ की तरह [**वदस्स**] व्रतों के [**सीलाणि**] शीलों [**रक्खदि**] रक्षा करता है [**सो**] वह [**सीलवदे**] शील, व्रतों में [**अणइचारो**] अतिचार रहित होता है।

भावार्थ : जैसे फसल की रक्षा करने के लिए उसके चारों ओर बाड़ी लगाई जाती है उसी प्रकार व्रतों की रक्षा के लिए शीलव्रत का पालन किया जाता है। गृहस्थों के लिए पांच अणुव्रत के अलावा सात शीलवत होते हैं। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सप्त शीलव्रत हैं। मुनिराज अठारह हजार शील के स्वामी हैं। व्रती जीव बाहर से शीलव्रतों की रक्षा करता है और भीतर से व्रतों की भावना करके व्रतों को निर्दोष रखता है।

महाव्रती हो या अणुव्रती, प्रत्येक को व्रत की भावना से अपने अहिंसा आदि महाव्रतों को दृढ़ करना चाहिए। व्रतों की दृढ़ता करने के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ निरन्तर भाने की प्रेरणा आचार्यों ने दी है। यहाँ मात्र अहिंसा व्रत की भावना का विचार करते हैं।

हे संयमी आत्मन्! अहिंसा व्रत की भावना के लिए अपनी आत्मा को मानसिक असंयम से बचाओ। गुप्ति का अर्थ है, रक्षा करना। मन गुप्ति का पालन अहिंसा की प्रथम भावना है। आत्मा की रक्षा मन के पाप से करना मन गुप्ति है।

यदि तुम अहिंसक भावों से बढ़ना चाहते हो तो मन में आने वाले अशुभ परिणामों को रोको। कभी यह मत समझना कि मन को कोई नहीं पकड़ सकता है इसलिए मन के भावों को कैसे रोका जा सकता है? मन में उत्पन्न होने वाले अशुभ भावों को इसी मन गुप्ति की भावना से रोका जा सकता है। यदि ऐसा सम्भव न होता तो कोई भी मन गुप्ति रख ही नहीं सकता। आचार्यों ने कहा है कि व्रती मन को अशुभ भावों से रोककर अपनी रक्षा करता है। ज्ञानी आत्मन्! यह भी जानो कि आत्मा कर्ता है, मन कर्ता नहीं है। मन तो आत्मा से ही प्राप्त हुआ एक ज्ञानोपकरण है। हमारे भावों का मुख्य संचालक आत्मा है। इसलिए जो साधक आत्मा की पाप से रक्षा करता है, वह मन को वश कर लेता है।

आओ हम जानें कि वे अशुभ परिणाम कौन से हैं? जिनमें मन सहज चला जाता है

१.मन को आर्तध्यान से बचाओ- जिससे अपने मन में पीड़ा हो, दुःख हो वह ध्यान आर्तध्यान है। इस आर्तध्यान का कारण इष्ट बन्धु-मित्र आदि का संयोग होकर वियोग होना है। गृहस्थ श्रावक के लिए तो यह आर्तध्यान बहुत अधिक होता है। इसका कारण है कि वह दूसरे लोगों से और जड़ पदार्थों से भी अपने को जोड़ता चला जाता है। नये परिचय, नये लोगों से सम्बन्ध, नए-नए लोगों से जुड़ना इस आर्तध्यान का मुख्य कारण है। यदि साधक भी इन्हीं सम्बन्धों में पड़कर अपना मन रमाता है तो वह कभी भी आर्तध्यान से बच नहीं सकता है। राग की तीव्रता से किसी के आने पर या मिलने पर बहुत हर्षित होता है तो उस व्यक्ति के चले जाने पर उसे कुछ खिन्नता भी होगी। बस! यही खिन्नता आर्तध्यान है। उस व्यक्ति के चले जाने पर कुछ देर तक उसकी याद आना भी आर्तध्यान है। उस दिन सामायिक, स्वाध्याय में मन न लगना भी आर्तध्यान का लक्षण है।

इसी आर्तध्यान का दूसरा कारण अनिष्ट संयोग है । जिसके साथ रहना है, जिसके साथ-साथ चलना है, वह व्यक्ति यदि अपने लिए इष्ट नहीं लगता है, अच्छा नहीं लगता है तो उससे धीरे-धीरे घृणा उत्पन्न होने लगती है। उससे दूर रहने का भाव होने लगता है । बस ! यही मानसिक प्रवृत्ति जो उससे दूर रहने का या उससे बचने का उपाय विचारती रहती है, वह भी आर्तध्यान है।

इसी आर्तध्यान का तीसरा कारण है पीड़ा चिन्तन। जब हमारे शरीर में रोग होता है तो उसी रोग को दूर करने के उपायों को विचारते रहना और पीड़ा के अनुभव से दुःखी बने रहना आर्तध्यान है। जो साधक इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग से मन दुःखी नहीं करता है वही इस पीड़ाचिन्तन जन्य आर्तध्यान से बच सकता है। हे साधक! जब तक शरीर नीरोग है तब तक इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग जन्य आर्तध्यान से दूर रहने के लिए आत्म भावना करो यही भावना इस पीड़ा चिन्तन से दुःखी होने से बचा पाएगी।

इसी आर्तध्यान का चौथा कारण निदान है। यह मत समझना कि यह तो कभी सम्भव नहीं है। दूसरे लोगों की भोग-वैभव की सम्पदा, किसी के रूप-सौन्दर्य की रमणीयता या विलासता की मौज देखकर यदि मन में उसे प्राप्त करने का किञ्चित् भाव भी उत्पन्न होता है तो वह निदान नाम का आर्तध्यान है। इस विलासता से भरी दुनिया में पग-पग इन विचारों से मन को सावधान करना। यदि कभी क्षणिक विचार आया हो तो उसी समय आत्म-गर्दा और आत्म-निन्दा से अपनी आत्मा को शुद्ध करना।

२. मन को रौद्रध्यान से बचाओ- किसी धनी के सैकड़ों ट्रक चल रहे हैं, किसी के कीटनाशक का व्यापार उच्चस्तरीय है, किसी की अनेक मिलों में हजारों लोगों का रोजगार मिल रहा है, किसी की वाहन बनाने या बेचने की कम्पनी है, इत्यादि अनेक व्यक्ति जब आपको अपनी प्रभुता बताएँ तो प्रसन्न होकर यह मत कह देना- बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, नहीं तो हिंसानन्दी रौद्रध्यान हो जाएगा।

मोहवश यह रौद्रध्यान होता है । हे साधक! किसी गृहस्थ से ऐसा मोह मत कर बैठना जिससे रौद्रध्यान हो जावे। मुनि साधक को तो रौद्रध्यान सम्भव ही नहीं है क्योंकि रौद्रध्यान के साथ भीतर से मुनिपना छूट जाता है। यदि कोई गृहस्थ तुम्हारी संस्था को खूब दान दे और ऐसे व्यापार की वृद्धि का आशीष माँगे तो भी तुम डरना, सोचना। यह अनुमोदना मन में धन के मोहवश या श्रेष्ठी भक्त के मोहवश भी नहीं करना।

हे साधो ! तुम उस राजा वसु को याद रखना जिसने मात्र सत्य-असत्य का निर्णय किया था। उसने असत्य बोला। वह असत्य भी हिंसा को बढ़ावा देने वाला था। हिंसानन्दी और मृषानन्दी इस रौद्रध्यान के कारण ही उसे नरक में जाना पड़ा। उसने निर्णय में कहा था कि- यद्यपि नारद ने युक्तियुक्त कहा है फिर भी पर्वत ने जो कहा है वह हमारे गुरु उपाध्याय के द्वारा कहा गया है।

अपने गुरु के नाम पर गुरु पुत्र के लिए मोहवश असत्य बोला था उसका फल उसे महारौरव नरक मिला। जहाँ ऐसे व्यापार हैं वहाँ चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द नाम का रौद्रध्यान भी हो ही जाता है।

३. इस लोक सम्बन्धी संज्ञाओं से बचाओ- इस लोक में मुझे अमुक वैभव मिले, अमुक पद मिले, मेरी प्रतिष्ठा बढ़े, इस लोक में मुझे लोग जानें इत्यादि मन में इच्छा मत करो। इस दुनिया में अपने-अपने समय पर, अपने-अपने स्थान पर यदि किसी का कुछ नाम उसके अच्छे कार्यों से रहा है, तो वह नाम भी सदा-हमेशा नहीं रहा है। यदि रहा भी हो तो उस नाम वाला आत्मा तो नहीं रहा। आत्मा का कोई नाम नहीं होता है। यदि नाम रह भी गया तो भी उससे उस आत्मा को तो कोई सुख नहीं है, जिसे दूसरा जन्म मिल गया और नया नाम प्राप्त हो गया है। इसलिए लौकिक इच्छा में मन को जाने से रोको।

४. परलोक सम्बन्धी संज्ञाओं से बचाओ- यदि इस जन्म में कोई वैभव या सुख न मिल पाए तो परजन्म के लिए भी उसकी इच्छा मत करना । बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं, मन्त्री-सांसदों के पद की अगले जन्म के लिए इच्छा मत करना। देव, इन्द्र, विद्याधर, नारायण का पद पाने की भी लालसा मत करना। इन आगामी भोग-विलासताओं के बारे में मन में जाग्रत या निद्रित अवस्था में स्वप्न मत देखना।

५. चार संज्ञाओं से मन को बचाओ- आहार की इच्छा मन में बनी रहना। पहले हम अमुक भोजन, अमुक रसों के साथ खाते थे, कितना अच्छा लगता था, कितना स्वादिष्ट लगता था, गरम-गरम-जायकेदार वह भोजन खाने में कितना आनन्द था? ऐसा मन में विचार भी मत लाना। पहले खाए हुए भोजन की तुलना अपने मन में वर्तमान के भोजन से न तो स्वयं करना और न ही अन्य के कहे जाने पर आनन्दित होना। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ (इच्छाएँ) विचार करने से तृष्णा उत्पन्न करती हैं। चारों ही संज्ञा में मन में ही 'मिच्छा मे दुक्कड़ करके पश्चात्ताप करना। ये संज्ञाएँ सर्वप्रथम मन में विचार लाने से उत्पन्न होती हैं । फिर ये विचार बढ़ाने से और इन संज्ञाओं की पूर्ति करते जाने से और-और बढ़ती जाती हैं । इन संज्ञाओं का मनोविज्ञान यही है कि ये बढ़ाने से बढ़ती हैं और घटाने से घटती हैं। इसीलिए साधक! अपनी आत्मा की रक्षा इन संज्ञाओं से करो और अहिंसा की भावात्मक विधि का पालन भी करो।

मानसिक हिंसा से बचकर वाचनिक हिंसा से भी आत्मा को बचाओ। वाचनिक और वचनों से, बोलचाल से भी हिंसा होती है यदि उस भाषा में विकथाओं का पुट है। जो धर्म से सम्बन्ध नहीं रखती हैं वह बोलचाल विकथा है। स्त्रीकथा, धन की कथा, भोजन की कथा, राज कथा, वैर कथा, पर पाखंडियों की कथा और न जाने कितनी ही प्रकार की ऐसी ही कथा विकथा हैं। इन विकथाओं से मन को बचाना वचन गुप्ति है।

इस जगत् में अनेक स्त्रियाँ हैं, उनके विषय में परस्पर में वार्तालाप करना कि वहाँ की स्त्री बहुत

चतुर थी, वह ऐसा करती थी, वैसा करती थी, यहाँ उन जैसी स्त्री एक भी नहीं है। यहाँ की स्त्रियाँ ऐसा करती हैं, या ऐसी रहती हैं, ऐसा व्यवहार करती हैं इत्यादि उनके विषय में की गई ऊहापोह से साधक का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

अपने-अपने पिता-नाना के धन कमाने की या धनी होने की बातें करना। भोजन-पानी के विषय में समीक्षा करना, राजा-महाराजाओं की बातें करना, चोरों की चौरकला की बात करना, किसी व्यक्ति से वैर आदि के विषय में चर्चा करना, इत्यादि विकथाओं के अनगिनत रूप हैं।

वाचनिक हिंसा से बचकर कायिक अहिंसा का पालन करने के लिए सूर्य प्रकाश में देखकर ईर्यापथ समिति से चलना, किसी भी वस्तु को उठाते-रखते समय देखना और फिर उस स्थान का परिमार्जन करके वस्तु को रखनाउठाना आदान-निक्षेपण समिति है। इसके अतिरिक्त अपने शरीर को खड़ा करना, बैठना आदि में भी सावधानी रखना और दिन में सूर्य प्रकाश में ही भोजन करना अहिंसा व्रत की कायिक प्रणाली है। और भी पहचान कहते हैं

जो णिव्वियप्पसाहू बाहिरकज्जेहिं होइ अक्खोहो।
समदा-लीणपसण्णो सीलवदे अणइचारो सो॥६॥

बाह्य जगत के कार्य-क्रमों में निर्विकल्प जो बना हुआ
मन उलझन के भावों को तज क्षोभ रहित हो तना हुआ।
इष्ट-अनिष्ट विकल्प मूर्खता रही ज्ञानिता समता में
ऐसा मति में अवधारण कर व्रती बढ़ रहा क्षमता में॥६॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णिव्वियप्पसाहू]** निर्विकल्प साधु **[बाहिरकज्जेहिं]** बाहरी कार्यों से **[अक्खोहो]** अक्षुभित **[होइ]** होता है **[समदा-लीणपसण्णो]** समता में लीन प्रसन्न रहता है **[सो]** वह **[सीलवदे]** शीलव्रतों में **[अणइचारो]** अतिचार रहित होता है।

भावार्थ : व्रत निर्विकल्प होने के लिए ग्रहण किए जाते हैं । व्रती साधु निर्विकल्प कहलाता है । वह निर्विकल्प साधु अपने आवश्यक आदि बाह्य कार्यों को करके भी क्षोभरहित रहता है। राग आदि विकल्पों से मन में क्षोभ होता है। उन बाह्य कार्यों में इस तरह प्रवृत्ति करता है कि उसका मन समत्व से रहित न हो जाए। अक्षुब्धमना साधु ही समता में लीन रहता हुआ प्रसन्न रहता है । वह शीलव्रतों में निरतिचार होता है। मन में क्षोभ होना ही मनः शुद्धि की हानि होना है। व्रतों का प्रथम दोष अतिक्रम यहीं से प्रारम्भ होता है। कहा भी है

'क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रम

व्यतिक्रम शीलव्रतेर्विलंघनम्।

प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं

वदन्त्यनाचारमिहातिसक्ति ताम्॥'

अर्थात्- हे प्रभो ! मनः शुद्धि की हानि होना अतिक्रम है। शील, व्रतों का उल्लंघन होना व्यतिक्रम है। इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति करना अतिचार है और अति आसक्ति धारण करने को अनाचार कहते हैं।

अनतिचारी व्रती का अन्य लक्षण

उत्तमखमागभीरो दोसचयं खिप्पदे विभंगेहिं ।

जो सीलसायरो खलु सीलवदे अणइचारो सो॥७॥

शील महासागर लहराता क्षमाभाव से अति गंभीर

नित उत्ताल तरंगों से जो दोष फेंकता बाहर धीर।

आतम रत्नाकर गुण-वैभव पर संयोग दोष का धाम

यह विचार करशील व्रतो में निरतिचार करता आराम॥७॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[उत्तमखमा गभीरो]** उत्तम क्षमा से गंभीर है **[दोसचयं]** दोषों के समूह को **[विभंगेहिं]** विशेष तरीकों से **[खिप्पदे]** दूर करता है **[सीलसायरो]** शील का सागर है **[सो]** वह **[खलु]** निश्चित ही **[सीलवदे]** शीलवतों में **[अणइचारो]** अतिचार रहित है।

भावार्थ : जिसके पास उत्तम क्षमा धारण करने की क्षमता है, वह बहुत सहनशील और गंभीर होता है । उत्तम क्षमा धारी नियम से गंभीर व्यक्तित्व का धनी होता है। अनेक तरीकों से जैसे आलोचना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, भक्ति आदि के द्वारा जो अपने दोषों का नाश करता है, जो शील धारण करने में सागर समान गंभीर है वह शील, व्रतों में अतिचार रहित होता है।

बड़े-बड़े महापुरुषों के पास ऐसी उत्तम क्षमा रहती थी तभी तो वह अपने वैरी से पीड़ित होने पर भी क्षुब्ध नहीं होते थे। शत्रु तो नाक, भौं मोड़कर कषाय भाव से हानि पहुँचाता है किन्तु महापुरुष उस समय पर मात्र उस विपत्ति को देखते हैं और उसी से निपटते हैं। उनके मन में शत्रु के इन क्षुद्र छलों से भी कोई पीड़ा नहीं होती है।

भोले आत्मन् ! तेरे साथ कोई एक बार छल करे और तुझे पता पड़ जाय तो तुम कितने कषायवान्

हो जाते हो। बीसों लोगों से उसके छल और दुर्व्यवहार का ढिंढोरा पीटते हो। उससे डरते भी हो और दूसरों से कहकर अपना सुरक्षा कवच भी तैयार करते हो।

याद करो ! पाण्डवों की गंभीरता और क्षमाभाव। जब पहली बार लाक्षागृह में आग लगा कर मार डालने की कोशिश दुर्योधन ने की तो पाण्डव बच निकले। बहुत समय बाद पाण्डव-दुर्योधन आदि मिल गए। पाण्डव फिर से दुर्योधन के साथ निडर होकर रहने लगे। दुर्योधन अपने छल-प्रपञ्चों से उन्हें राज्य अधिकार से वंचित करना चाहता था। सो उसने सुंआ खेलने के बहाने युधिष्ठिर को बैठा लिया। धीरे-धीरे छल से पूरी सम्पत्ति जीत ली। पुनः पाण्डवों को बनवास में जाना पड़ा। लेकिन युधिष्ठिर ने दुर्योधन से बदले की भावना फिर भी नहीं की। युधिष्ठिर का क्षमाभाव देखकर सभी भाई भी शान्त हो गए।

जिन महापुरुषों के गार्हस्थ्य जीवन में ऐसी गंभीरता और क्षमाभाव हो, उनके मुनि बन जाने पर तो उस क्षमा का कोई ओर-छोर नहीं रह जाता है। इसी क्षमा भावना से तो पाण्डव जन अति दारुण उपसर्ग सहन कर भी शुक्लध्यान में लीन हो गए। जिस क्षमा भाव से शुक्लध्यान होता है उससे व्रत, शील निरतिचार बने रहें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

ज्ञानी व्यक्ति विचार करता है कि आज दिन भर में मैंने किस प्रसंग में विकथा की, किस समय क्रोध किया, किस बात से चित्त में क्षोभ उत्पन्न किया। इत्यादि अपने विचारों को स्वयं जानकर अपनी चित्त की परिणति को स्वयं समझकर स्वयं उसे दिन-प्रतिदिन सुधारता चला जाता है। आध्यात्मिक पुरुषों के लिए अपनी चित्तवृत्ति ही प्रामाणिक होती है। उन्हें किसी और की संस्तुति या कर्णप्रिय वचनों को सुनने की आवश्यकता नहीं होती है। इस तरह जो व्यक्ति अपने दोषों को नाश करने की प्रक्रिया में सावधान है वही अन्तरात्मा है। ऐसा अन्तरात्मा ही शील, व्रतों का निरतिचार पालन करता है।

निरतिचार व्रती की वृत्ति कैसी होती है?

वदं गिहीदं खलु अप्पणा जं तदप्परूवं मुणदीदुसेवी।
तेसूत्थदोसोणियपाणपीडा तस्सेवसीलंअइचारमुत्तं॥८॥

ग्रहण नहीं व्रत किये हैं मैंने किन्तु मुझे हैं प्राण मिले
व्रत मेरा आतम स्वरूप है व्रत सेवन से त्राण मिले।
व्रत-संयम में दोष लगाना निज प्राणों की पीड़ा है
यह विचारता उसी व्रती का दोष रहित व्रत बीड़ा है॥८॥

अन्वयार्थ : [अप्पणा] आत्मा ने **[जं]** जो **[वदं]** व्रत **[गिहीदं]** ग्रहण किया है **[खलु]** निश्चय से

[तदप्परूवं] उसे आत्म रूप **[मुणदि]** मानता है। **[इट्ठसेवी]** इष्ट की सेवा करने वाला **[तेसु]** उन व्रतों में **[उत्थदोसो]** उत्पन्न दोष को **[णियपाणपीडा]** अपने प्राण की पीड़ा मानता है **[तस्स एव]** उसका ही **[सीलं]** शील **[अइचारमुत्तं]** अतिचार रहित है।

भावार्थ : आत्मा का इच्छुक इष्टसेवी कहलाता है। ऐसा आत्मा अपने व्रतों को अपने आत्मा के व्रत मानता है । व्रत ही उसकी आत्मा का स्वरूप है। यदि व्रतों में दोष लगता है तो उसे वैसे ही पीड़ा होती है जैसे कोई अपना वध करे तब होती है। व्रत ही जिसके प्राण हैं वह व्रती ही व्रत, शीलों का निरतिचार पालन करने वाला है।

आचार्य श्री वीरसेन जी महाराज षट्खंडागम सूत्रों की धवला टीका में कहते हैं कि एक मात्र शील-व्रतों में निरतिचारता से ही तीर्थंकर नाम कर्म बांधा जाता है। वह इस प्रकार है

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होने का नाम व्रत है। व्रतों की रक्षा को शील कहते हैं। सुरापान, मांसभक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इनके त्याग न करने का नाम अतिचार और इनके विनाश का नाम निरतिचार या सम्पूर्णता है। इसके भाव को निरतिचारता कहते हैं । शीलव्रतों में इस निरतिचारता से तीर्थंकर कर्म का बन्ध होता है। शंका- इसमें शेष पन्द्रह भावनाओं की सम्भावना कैसे हो सकती है?

समाधान- यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण लव प्रतिबुद्धता(अभीक्ष्ण संवेग), साधु समाधि धारण, वैयावृत्य योग युक्तता, प्रासुक परित्याग, अरिहंत भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति और प्रवचन प्रभावना लक्षण शुद्धि से युक्त सम्यग्दर्शन के बिना शील-व्रतों की निरतिचारता बन नहीं सकती। दूसरी बात यह है कि जो असंख्यात गुण श्रेणि से कर्म निर्जरा का कारण है, वही व्रत है। और सम्यग्दर्शन के बिना हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होने मात्र से वह गुण श्रेणी निर्जरा हो नहीं सकती, क्योंकि दोनों से उत्पन्न होने वाले कार्य को उनमें से एक के द्वारा उत्पत्ति का विरोध है।

शंका- इनकी सम्भावना यहाँ भले ही हो, पर ज्ञानविनय की सम्भावना नहीं हो सकती ?

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि छह द्रव्य, नौ पदार्थों के समूह और त्रिभुवन को विषय करने वाले एवं बार-बार उपयोग विषय को प्राप्त होने वाले ज्ञान विनय के बिना शीलव्रतों के कारणभूत सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं बन सकती।

शीलव्रत विषयक निरतिचारता में चारित्रविनय का भी अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यथाशक्ति तप, आवश्यक-अपरिहीनता और प्रवचनवत्सलता लक्षण चारित्रविनय के बिना शील विषयक निरतिचारता की उत्पत्ति ही नहीं बनती है। इस कारण यह तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध का तीसरा कारण है।

4. णाण भावणा

संवर, निर्जरा की इच्छा करने वाला ज्ञानोपयोगी है

जो संवरमादरदि णिज्जरमिच्छदि य मोक्खमग्गम्मि।
अप्पाणं रसिगो सो णाणमभिक्खं विजाणादि॥१॥

संवर तत्त्व समादर करता नित्य निर्जरा को चाहे
आतम का वह रसिक बना है, आत्म भावना को भाए।
जिसको लगन लगी आतम की शिवपथ को जो चाह रहा
ज्ञान भावना लीन यती वह ज्ञानामृत रस पाग रहा॥१॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[संवरं]** संवर भावना का **[आदरदि]** आदर करता है **[य]** और **[मोक्खमग्गम्मि]** मोक्षमार्ग में **[णिज्जरं]** निर्जरा की **[इच्छदि]** इच्छा करता है **[अप्पाणं]** आत्मा का **[रसिगो]** रसिक **[सो]** वह जीव **[अभिक्खं णाणं]** अभीक्ष्ण ज्ञान का **[विजणादि]** अनुभव करता है।

भावार्थ : हे भव्य ! तुम ऐसे व्रत आदि का आचरण करना जिससे निरन्तर संवर होता रहता है और निर्जरा होती है, जो निरन्तर अपनी आत्मा की शुद्ध अवस्था का इच्छुक है, वह सतत ज्ञान उपयोग में लीन होता है तभी मुख्य रूप से संवर होता है। निश्चय नय से आत्मा का अनुभव होता है। उस आत्म अनुभव से बाहर आने पर भी जो आत्मा को ध्यान रखते हुए संवर, निर्जरा के कारणभूत व्रतों का पालन करता है, वह आत्मा का रसिक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को जानता है।

हे आत्मन्! केवल पढ़ने-लिखने और स्वाध्याय करने से निरन्तर ज्ञानभावना चल रही है, ऐसी भूल मत कर लेना। मात्र शास्त्रों को पढ़ने से अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नहीं हो सकता है। यदि ऐसा ही होता तो ग्यारह अंग तक का विशाल द्रव्य श्रुत पढ़ने पर भी अभव्य मिथ्यादृष्टि कैसे रहे आते?

जो लोग कहते हैं कि बाह्य क्रिया मात्र से सिद्धि नहीं है केवल स्वाध्याय से ही, पढ़ने-पढ़ाने से ही आत्मसिद्धि होती है, ऐसी धारणा वाले ज्ञानियों को महान् ज्ञानी आचार्य कुन्दकुन्द देव समझाते हुए कहते हैं कि

के वलिजिणपण्णत्तं एयादस अंग सयलसुयणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भाव सवणतणं पत्तं॥

भा.पा.५२

अर्थात् अभव्यसेन नामके द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान् के द्वारा कहे हुए ग्यारह अंग पढे। इन ग्यारह अंग को पूर्ण श्रुतज्ञान भी कहते हैं। क्योंकि जिसे शास्त्र का इतना बढ़ा-चढ़ा ज्ञान हो जाता है उसे अर्थ की अपेक्षा पूर्णश्रुतज्ञानी कहा जाता है। तो भी वह भाव श्रामण्य को प्राप्त नहीं हुआ।

जानते हो क्यों? क्योंकि बाह्य क्रियाओं में उसे जीव दया और धर्म नहीं दिखता था। भगवान् ने एक निगोद शरीर में अनन्त जीवों का निवास कहा है, इसकी विशाल व्याख्या करके भी जहाँ निगोद जीव रहते हैं ऐसी हरित घास पर चलने में उसे पीड़ा नहीं हुई। अनन्त एकेन्द्रिय जीवों के घात का पाप लग रहा है, ऐसा भाव उसके भीतर नहीं आया। महाव्रती एकेन्द्रिय जीवों का घात करके महाव्रती नहीं रह सकता है। जिसे एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का भाव नहीं तो वह महाव्रती कैसे हो सकता है? गुणस्थान कषायों के अभाव में भावों की विशुद्धि से बनते हैं। भावों की स्थिरता बाहरी द्रव्य क्रिया के आश्रित होती है। द्रव्य शुद्धि है तो भाव शुद्धि भी होगी, यह नियामक नहीं है। बाह्य द्रव्य शुद्धि के साथ भाव शुद्धि हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है, किन्तु जब कभी भी भाव शुद्धि बनेगी तो द्रव्य शुद्धि के साथ ही होगी, ऐसा नियम है। बाह्य द्रव्य क्रिया का सम्बन्ध अन्तरंग के गुणस्थान से रहता

इसलिए संवर-निर्जरा की व्रतादि क्रिया के साथ ही जब ज्ञान कार्य करता है तभी वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। विषय विरक्त साधु ज्ञानोपयोगी है

णाणप्पगमप्पाणं मुणिऊण अण्णणेयविसएसु।
साहू विरज्जहियओ णाणमभिक्खं विजाणादि॥२॥
ज्ञान सुगुण से भरा हुआ है आतम पूरा चारों ओर

निज स्वभाव को यूँ विचारकर अन्य विषय पर ना है गौर।
इष्ट-अनिष्ट विषय को जो नित ज्ञेय मात्र ही जान रहा
वह विरक्त साधू ही जग में ज्ञान भावनावान रहा॥२॥

अन्वयार्थ : [णाणप्पगं] ज्ञानात्मक **[अप्पाणं]** आत्मा को **[मुणिऊण]** जानकर **[साहू]** साधु **[अण्णणेय-विसएसु]** अन्य ज्ञेय विषयों में **[विरज्ज-हियओ]** विरक्त हृदय वाला होता है **[णाणं]** वह ज्ञान को **[अभिक्खं]** निरन्तर **[विजाणादि]** अनुभव करता है।

भावार्थ : आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ ज्ञेय हैं। इन ज्ञेय पदार्थों में जो साधु पुरुष राग, द्वेष से रहित होकर विरक्त हृदय वाला होता है। जो अपनी ज्ञानमय आत्मा का निरन्तर संवेदन करता है वह साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी है।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र का सेवन करने वाला ज्ञानोपयोगी है

णाण हि णायगो खलु सम्मइंसणचरित्तभावेसु।
दोण्हं वि सेवमाणो णाणमभिक्खं विजाणादि॥३॥

सम्यक्दर्शन और चरित में सम्यग्ज्ञान प्रमुख माना
यही संभाले दोनों गुण को इसीलिए नायक माना।
सम्यग्दर्शन की सेवा हो या हो सम्यक्चारित की
ज्ञान निरन्तर जान रहा है ज्ञानी के मन भावन की॥३॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान **[हि खलु]** निश्चित ही **[सम्मइंसणचरित्तभावेसु]** सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के भावों में **[णायगो]** नायक है **[दोण्हं वि]** इन दोनों की **[सेवमाणो]** सेवा करने वाला **[अभिक्खं]** निरन्तर **[णाणं]** ज्ञान को **[विजाणादि]** जानता है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में सम्यग्ज्ञान ही मुख्य नायक है। सम्यग्ज्ञान को मध्य में इसीलिए रखा है। सम्यग्ज्ञान ही दर्शन, चारित्र में समीचीन प्रवृत्ति कराता है। इसलिए कोई आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का सेवन कर रहा है तो वह भी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को जानता है। जो ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों का पालन करता है, वही ज्ञान यहाँ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के रूप में है।

परमार्थ की भावना करने वाला अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी है

पालदि रक्खदि णिच्चं जो सद्दिट्टी हु सम्मचारित्तं।
परमट्ठभावणट्ठं णाणमभिक्खं विजाणादि॥४॥

सम्यक्चारित पालन करता नित रक्षण में भी दे ध्यान
सम्यग्दृष्टि वह अवश्य ही भाता रहता ज्ञान प्रमाण।
शुद्ध आत्म परमार्थ भावना के वश जो भी करता है
वह अभीक्ष्ण ज्ञानी माना है भवि जन मन को हरता है॥४॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[सद्दिट्ठी]** सम्यग्दृष्टि **[णिच्चं]** हमेशा **[सम्मचारित्तं]** सम्यक्चारित्र का **[हु]** निश्चित ही **[पालदि]** पालन और **[रक्खदि]** रक्षा **[परमट्ठभावणट्ठं]** परमार्थ की भावना के लिए करता है **[णाणं]** वह ज्ञान को **[अभिक्खं]** निरन्तर **[विजाणादि]** अनुभव करता है।

भावार्थ : ज्ञान का उपयोग सम्यक्चारित्र का पालन करने के लिए करना भी ज्ञानोपयोग में सतत लगना है। परमार्थ की भावना करने के लिए जो व्यवहार चारित्र का पालन किया जाता है वह निश्चय चारित्र में ढल जाता है। परमार्थ की भावना से आचरण में लाया गया सराग चारित्र ही वीतराग चारित्र में ढल जाता है। यही निश्चय चारित्र आत्मानुभव की दशा है। ज्ञान को ज्ञानमय संवेदन करना ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

भावश्रुतज्ञानी ही ज्ञानोपयोगी है–

णाणेसु सुदं णाणं भावसुदेण परिणदं होदि।
तेणेव परिणदो सो णाणमभिक्खं विजाणादि॥५॥

वैसे तो सिद्धान्त शास्त्र में पाँच ज्ञान गाये जाते
मति श्रुत अवधि मनःपर्यय औ केवलज्ञान नाम पाते।
किन्तु ज्ञान श्रुत भाव रूप से परिणत होता मात्र यही।
इसी भाव में परिणत ज्ञानी निजानुभूति का पात्र सही॥५॥

अन्वयार्थ : [णाणेसु] ज्ञानों में **[सुदंणाणं]** श्रुतज्ञान **[भावसुदेण]** भावश्रुत से **[परिणदं]** परिणत **[होदि]** होता है **[तेणेव]** उससे ही **[परिणदो सो]** परिणत हुआ वह जीव **[णाणं]** ज्ञान को **[अभिक्खं]** निरन्तर **[विजाणादि]** जानता है।

भावार्थ : पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही स्वार्थ, परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। श्रुतज्ञान ही द्रव्य श्रुत, भाव श्रुत के भेद से भी दो प्रकार का होता है । यह द्रव्य श्रुतज्ञान जब भाव श्रुत रूप से परिणत होता है तो वह आत्मा निर्विकल्प आत्मानुभव की दशा में होता है । भाव श्रुतज्ञान से परिणत आत्मा ही निश्चय ज्ञानी है । वह स्वसंवेदन-ज्ञान से निरन्तर ज्ञानोपयोग का संवेदन करता है। ऐसा जीव ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी कहलाता है।

और किस भावना से ज्ञानोपयोगी होता है?

णाहं सरीरं ण हि दिस्समाणं, वत्थं ण कम्म ण मणो ण वाचं।
आदम्मि णिच् बहु भावमाणो, भव्वो हि णाणस्सुवजोगजुत्तो॥६॥

जो कुछ हमें दिखाई देता वह पदार्थ मम रूप नहीं
मैं शरीर ना वचन रूप ना कर्म रूप मन रूप नहीं।

मैं आतम हूँ ज्ञान मात्र हूँ नित्य भावना में लवलीन
ज्ञान मात्र उपयोग मात्र रस ज्ञानी पी पी होता पीन॥६॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं **[सरीरं]** शरीर **[ण]** नहीं हूँ **[दिस्समाणं वत्थु]** दिखाई देने वाली वस्तु **[ण हि]** नहीं हूँ **[कम्मंण]** कर्म नहीं हूँ **[मणो ण]** मन नहीं हूँ **[वाचंण]** वचन नहीं हूँ **[आदम्मि]** आत्मा में **[णिच्चं]** नित्य **[बहुभावमाणो]** बहुत भावना करता हुआ **[भव्वो]** भव्य जीव **[हि]** ही **[णाणस्सुवजोगजुत्तो]** ज्ञान के उपयोग से युक्त होता है।

भावार्थ : ज्ञानोपयोगी भव्य जीव सतत आत्मा की भावना करता है । वह शरीर को, बाहरी जगत् की दिखाई देने वाली वस्तु को, कर्म को, मन को, वचन को अपना नहीं मानता है । ये सभी पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं, ऐसा जानकर आत्मा में ही सदैव बहुत भावना करता है। आत्मा की इसी भावना से ही ज्ञानोपयोग से वह युक्त रहता है। ऐसा जीव ही ज्ञानोपयोगी है।

हे आत्मन् ! विचार कर कि यह शरीर पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। आत्मा की कर्मों से संयोगजन्य अवस्था से उत्पन्न हुई यह मनुष्य पर्याय है । यह पर्याय आत्मा का स्वभाव नहीं है । यह शरीर दो द्रव्यों की मिलीजुली असमान-जातीय पर्याय है। कुछ समय तक इस शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है। इस तरह आत्मा का सदा साथी यह शरीर नहीं है। शरीर के संयोग से उत्पन्न हुई स्त्री, पुत्र आदि भी तेरे नहीं हैं। तू इनको मोहवश अपना मानता है। यह तेरी भूल है। तेरी यह बुद्धि ही मिथ्या है। तू इन सबके साथ रहकर भी किसी को अपना आत्मा मत मान । देख! सभी का परिणमन अपने-अपने कर्मोदय से स्वयं हो रहा है । साझेदारी के व्यापार में निराकुल सुख कहाँ? फिर आत्मा और पुद्गल की साझेदारी से बने इस शरीर में सुख कैसे होवे? इस जगत् को देखता हुआ जब तू मोहित होता है तो सबको अपनाना चाहता है। परन्तु कौन तेरा हुआ है? तू पहले भी अकेला था, आज भी अकेला है। घर-परिवार में रहकर भी इन संयोगों में अपने आपको ज्ञाता दृष्टा देख । इस दुनिया को मात्र ज्ञाता दृष्टा बनकर देख-जान । मैं अपनी आँखों से सभी को देख रहा हूँ। एक दर्पण की तरह मुझे देखने में सब कुछ आता है किन्तु मेरे भीतर कुछ भी नहीं रहता है । कुछ भी नहीं ठहरता है। प्रतिबिम्ब को या छाया को अपना मानकर उसी में सुख दुःख मानना भ्रम है। आ तक मैंने इतने रूप देखे? क्या कोई रूप मेरी आँखों में रहा? नहीं। आज तक मैंने इतना रसास्वादन किया किन्तु कोई भी स्वाद मेरे पास ठहरा नहीं? मैंने मन चाहा स्पर्श सुख का आनन्द लिया किन्तु मेरे पास कोई भी सुख नहीं है । लहर के आश्रित होकर जैसे कोई मुर्दा कभी ऊपर आ जाता है और कभी पानी में डूब जाता है वैसे ही विषय सुख का आना-जाना है। शरीर में रहने वाले आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की भावना करना ही सच्ची ज्ञान भावना है।

पुनः वही कहते हैं

णाणम्मि णेयाणि जदो पदंति

णाणं हि जेटुं मणिणो वदंति।

आसेज्ज णाणं कलुसस्स णूणो

भव्वो हि णाणस्सुवजोगजुत्तो॥७॥

ज्ञेय विश्व इस ज्ञानातम के दर्पण में आ स्वयं गिरे

विश्व ज्ञेय से बड़ा ज्ञान है इसमें क्या आश्चर्य अरे।

ज्ञान मात्र का आश्रय लेकर भाव कलुषता न्यून करे

ज्ञान योग-उपयोग लगाकर ज्ञानी ज्ञान स्वभाव भरे॥७॥

अन्वयार्थ : [जदो] चूँकि **[णाणम्मि]** ज्ञान में **[णेयाणि]** ज्ञेय पदार्थ **[पदंति]** आ जाते हैं इसलिए **[णाणं]** ज्ञान को **[हि]** ही **[मुणिणो]** मुनिजन **[जेटुं]** श्रेष्ठ **[वदंति]** कहते हैं। **[णाणं]** ज्ञान का **[आसेज्ज]** आश्रय करके **[कलुसस्स]** कलुषता की **[णूणो]** कमी होती है **[दु]** इसलिए **[भव्वो]** वह भव्य जीव **[णाणस्स]** ज्ञान के **[उवजोगजुत्तो]** उपयोग से युक्त है।

भावार्थ : ज्ञान की ही विशेषता है कि इस ज्ञान में सभी ज्ञेय पदार्थ स्वयं आकर ज्ञान का विषय बन जाते हैं, इसलिए मुनिजन सभी पदार्थों में ज्ञान को ही श्रेष्ठ कहते हैं। इस ज्ञान का आश्रय लेकर मुनियों की आत्मा में कलुषता की हानि होती है। इसलिए भव्य जीव निरन्तर ज्ञानोपयोग में लीन रहता है।

5. संवेग भावणा

सुविसुद्धं जिणधम्म कम्मक्खयकारणं कुसलभूदं।
हरिसो हु सेवमाणे संवेगो तस्स होदि णवो॥१॥

श्री जिनधर्म अतिविशुद्ध है कर्म नाश का कारण है
पुण्य फलों को देने वाला निःश्रेयस सुख धारण है।
इसका सेवन करने से जो भवि जन मन में हर्ष धरे
निश्चित ही संवेग भावना जीवन में निर्वेग भरे॥१॥

अन्वयार्थ : [जिणधम्मं] जिन धर्म **[सुविसुद्धं]** सुविशुद्ध है **[कम्मक्खयकारणं]** कर्मक्षय का कारण है **[कुसलभूदं]** कुशलभूत है **[सेवमाणे]** इसका सेवन करने में **[हरिसो]** जिसको हर्ष होता है **[हु]** निश्चित ही **[तस्स]** उसका **[संवेगो]** संवेग **[णवो]** नया **[होदि]** होता है।

भावार्थ : जिनेन्द्र भगवान् का कहा धर्म बहुत विशुद्ध है। इस धर्म के सेवन से हृदय विशुद्ध होता है। कर्म मल का शोधन होने से आत्मा में अद्भुत पवित्रता आती है। जिन धर्म ही आत्मा में लगे कर्म क्षय का कारण है। आत्मा जिन कर्मों से बंधा है वह जिनेन्द्र भगवान् के अलावा विश्व में इस कर्मविज्ञान के बारे में कोई नहीं जानता है। आत्मा में जो पुद्गल परमाणुओं का समूह कैसे बंध जाता है, कितनी संख्या में बंधता है, उस कर्म का आत्मा में सत्त्व कब तक रहेगा? कब उसका उदय आएगा, उदय आने पर कैसा फल आत्मा को मिलेगा? आत्मा से कर्म का क्षय किन कारणों से होता है? कर्म क्षय हो जाने पर आत्मा में कौन-कौन से गुण उत्पन्न होते हैं? कर्म किस तरह आत्मा को एक गति से दूसरी गति में ले जाते हैं? कर्म किस तरह आत्मा को एक गति से दूसरी गति में ले जाते हैं? कर्म कैसे शरीर की रचना करता है? कर्म कैसे संक्रमित होता है? कर्म किस तरह समय पाकर फल देता है? इत्यादि अनेकानेक प्रश्नों का समाधान मात्र जिनधर्म में ही है। अन्य दर्शन आत्मा के स्वरूप को ही सही ढंग से नहीं जानते हैं। आत्मा सूक्ष्म होने से संसारी प्राणियों के ज्ञान का स्पष्ट विषय नहीं बनता है। फिर उस आत्मा में लगे सूक्ष्म कर्म परमाणुओं का ज्ञान उन्हें कैसे हो? सर्वज्ञ के अलावा इस सूक्ष्म कर्मविज्ञान और आत्मा को कोई नहीं जान सकता है। गृहस्थों को जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड जैसे ग्रन्थों के अध्ययन से और श्रद्धान से इन विषयों का ज्ञान हो सकता है। जब ऐसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म विषयों पर श्रद्धान बैठ जाता है तभी वह कुशलभूत होता है। यह जिनधर्म सभी की कुशल, क्षेम करने वाला है। कुशल का अर्थ मंगल, कल्याण, पुण्य होता है । जिनधर्म की शरण में आकर आत्मा मंगलमय बन जाता है। इस तरह जिनधर्म के विषय में विचार करने से, इसी के

आलोढन में समय बिताने से, इसी के उपकार का स्मरण करने से, जिनवाणी कथित तथ्यों का विचार-मन्थन करने से जिसको हर्ष उत्पन्न होता है उस आत्मा का संवेग भाव बढ़ता जाता है। जिनेन्द्र भगवान के कहे धर्म में हर्ष भाव होना ही संवेग कहलाता है। ऐसा संवेग भाव प्रतिदिन, प्रतिपल नया-नया उत्पन्न होता है। जिससे उस आत्मा को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

संवेग के लिए और क्या चिन्तन करें?

जीवो अणाइभूदो संसारे संसरदि सयं जादो।
णिच्चणिगोदं चिंतइ संवेगो तस्स होदि णवो॥२॥

काल अनादि से यह आतम कर्म बन्ध से सहित रहा
नहीं हुआ उत्पन्न किसी से इस भव वन में घूम रहा।
नित्य निगोद वास ही सबका इस विधि जो चिंतन करता
वह भव-वन के भ्रमण दुखों से डर संवेग भारभरता॥२॥

अन्वयार्थ : [**सयं जादो**] स्वयं उत्पन्न हुआ [**जीवो**] जीव [**संसारे**] संसार में [**अणाइभूदो**] अनादि से रहता हुआ [**संसरदि**] संसरण कर रहा है [**णिच्चणिगोदं**] जो नित्य निगोद का [**चिंतइ**] चिन्तन करता है [**तस्स**] उसका [**संवेगो**] संवेग [**णवो**] नवीन [**होदि**] होता है।

भावार्थ : इस जीव को किसी ने बनाया नहीं है, किसी ने जन्म नहीं दिया है। यह जीव संसार में अनादि काल से है और भ्रमण करता है। अनन्त काल इस जीव ने निगोद पर्याय में बिताया है। निगोद पर्याय से निकलकर त्रस पर्याय को प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। आचार्य पूज्यपाद देव सर्वाथसिद्धि में कहते हैं कि इस संसार में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ है। इस निगोद में जीव एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करके दुःख उठाता है। नित्य निगोद से इस जीव का निकलना बहुत कठिन है। जिस किसी तरह त्रस पर्याय हुई तो भी उसमें पंचेन्द्रिय पर्याय पाना और अधिक दुर्लभ है। त्रस पर्याय में विकलेन्द्रिय(दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीवों) की बहुलता होती है। आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता गुण प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है उसी प्रकार त्रसों में पंचेन्द्रिय पर्याय प्राप्त होना दुर्लभ है।

पंचेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, पक्षी और सरीसृप तिर्यञ्चों की बहुलता होती है। इन सब पर्यायों के बीच से मनुष्य पर्याय मिलना तो बहुत दुर्लभ है। जैसे किसी चौराहे पर कोई रत्नराशि प्राप्त कर लेना दुर्लभ है।

मनुष्य पर्याय एक बार मिलने के बाद पुनः मनुष्य पर्याय मिलना तो बहुत दुर्लभ है । जैसे जले हुए

वृक्ष के पुद्गल परमाणुओं का पुनः उस वृक्ष पर्याय रूप से उत्पन्न होना कठिन होता है वैसे ही एक बार मनुष्य जन्म खो देने पर दोबारा प्राप्त करना दुर्लभ होता है।

सिद्धान्त ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुष्य गति में कोई जीव मिथ्यात्व के साथ भी अधिकतम रहे तो ४७ पूर्व कोटि से अधिक ३ पल्य प्रमाण काल तक रह सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के अधिक से अधिक ४८ भव ही मिलते हैं। इसमें भी सोलह भव नपुंसक वेद के साथ, सोलह भव स्त्री वेद के साथ और सोलह भव पुरुष वेद के साथ अधिकाधिक होते हैं। यद्यपि यह भव लगातार मनुष्य गति में रहने की अपेक्षा से है। बीच में अन्य गति में जाने पर भी पंचेन्द्रिय पर्याय में अधिक से अधिक रहने का काल ९६ पूर्व कोटि से अधिक एक हजार सागर काल कहा है। इसके बाद नियम से पंचेन्द्रिय पर्याय छूट जाती है।

पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हो जाने पर भी धर्म योग्य देश मिलना, व्रत-शील-दीक्षा धारण करने योग्य कुल मिलना और नीरोगता प्राप्त होना और अधिक-अधिक दुर्लभ है।

इन सब दुर्लभताओं की प्राप्ति हो जाने पर भी यदि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ समीचीन धर्म न प्राप्त होवे तो मनुष्य जन्म प्राप्त होना वैसे ही व्यर्थ है जैसे दृष्टि के बिना मुख प्राप्त होना व्यर्थ है।

पंचेन्द्रिय पर्याय प्राप्त करके यदि इस पर्याय में मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं किया तो पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में जाना पड़ता है। बस पर्याय में जीव को अधिकतम रहने का काल दो हजार सागर पर्यन्त है। इसके बाद नियम से स्थावर पर्याय मिलती है। इसलिए जितना हो सके त्रस पंचेन्द्रिय पर्याय में विषय सेवन की तृष्णा छोड़कर आत्म उपलब्धि का विचार करना चाहिए। निगोद की अन्धकारमय अदृश्य पर्याय में से निकलना बहुत पुण्ययोग की बात है। ऐसा विचार करने से संसार से भीति होती है और धर्म में हर्ष बढ़ता है। नये-नये संवेग भाव की प्राप्ति होती है।

और भी स्थावर पर्याय का चिन्तन करना चाहिए

तसपज्जाए जीवो कधमायादीह दुक्खपरिभुत्तो।
थावरगमचिंताए संवेगो तस्स होदि णवो॥३॥

जन्म मरण परिवर्तन के ये दुःख जीव बहु भोगा है
दो इन्द्रिय आदिक भव पाके पंचेन्द्रिय संयोगा है।
स्थावर जंगम जीवों के दुःखों का चिन्तन करना
नित्य नये संवेग भाव का इसी तरह वर्धन करना॥३॥

अन्वयार्थ : [दुक्खपरिभुत्तो] दुःख को भोगता हुआ **[जीवो]** जीव **[तसपज्जाए]** त्रस-पर्याय में **[इह]** यहाँ **[कधं]** कैसे **[आयादि]** आता है **[थावर-गम-चिंताए]** स्थावर में गमन की चिंता से **[तस्स]** उसका **[संवेगो]** संवेग **[णवो]** नया **[होदि]** होता है।

भावार्थ : निगोद पर्याय एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति है। इस पर्याय से निकलकर प्रत्येक वनस्पति वृक्ष आदि में जन्म होना भी अत्यन्त दुर्लभ है। इस पर्याय में एक जीव बहुत समय तक दस हजार वर्ष तक जीवित रह सकता है। इस अपेक्षा से यह पर्याय निगोद पर्याय से अच्छी है। यहाँ से निकलकर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक में भी बहुत समय तक भ्रमण करता है। स्थावरों से निकलकर त्रस पर्याय प्राप्त करना अतीव दुष्कर है। मारीचि का जीव मिथ्यात्व और मान कषाय के कारण वृक्ष आदि में जन्म लेकर एकेन्द्रिय पर्याय में चिर काल तक भ्रमण किया। एक कोड़ा-कोड़ी सागर का दीर्घकाल भ्रमण करने के बाद इस जीव को मुक्ति प्राप्त हुई। इस तरह का चिन्तन करने से आत्मा में नया-नया संवेग भाव उत्पन्न होता है।

पुनः मनुष्यगति, तिर्यंचगति का सामान्य दुःख दिखाते हैं

गब्भे वासे जम्मं संजोगविओग-दुक्खसंतत्तो।
रोगजरां जो चिंतइ संवेगो तस्स होदि णवो॥४॥

जो मनुष्य तिर्यञ्च गति के गर्भ वास में वास किए
जन्म प्राप्त कर संयोगों से अरु वियोग से व्यथित हुए।
बड़े हुए तो रोग-बुढ़ापा पीड़ाओं ने घेर लिया
इसी तरह के चिन्तन से मन संवेगित सन्नीर पिया॥४॥

अन्वयार्थ : [गब्भे वासे] गर्भ वास में **[जम्मं]** जन्म होना **[संजोग-विओग-दुक्खसंतत्तो]** संयोग, वियोग के दुःख से दुःखी होता हुआ **[जो]** जो **[रोगजरां]** रोग, बुढ़ापे का **[चिंतइ]** चिन्तन करता है **[तस्स]** उसका **[संवेगो]** संवेग **[णवो होदि]** नया होता है।

भावार्थ : विचार करो कि गर्भ में कितने कष्ट से तुम रहे हो । बहुत ही संकुचित स्थान पर तुमने माँ के गर्भ में नौ मास व्यतीत किए। बिना हिले-डुले एक स्थान गर्भ में नीचे मुख करके लटके हुए कितनी पीड़ा सहन की है। यदि इस पीड़ा को याद करो तो वर्तमान की पीड़ा कुछ भी न दिखे। बड़े कष्ट के साथ तुम्हारा योनि स्थान से जन्म हुआ। हे आत्मन्! जन्म लेने के बाद भी रोते-रोते अनेक कष्टों के साथ तुम बड़े हुए। जन्म लेने के कई महीने तक तुम्हें मल-मूत्र का विवेक नहीं रहा। जब बड़े हो गए तो रोग होने लगे। कभी-

कभी तो पूरा जीवन रोगों के साथ बिताया। फिर बुढ़ापा आने लगा। घर-परिवार में आदर कम होने लगा। शरीर की शिथिलता होने लगी। बीमारियां और बढ़ने लगीं। इस प्रकार प्रत्येक जन्म में यही जन्म, मरण, रोग, बुढ़ापे के दुःख लगे रहते हैं। इन दुःखों का जो चिन्तन करता है उसे नया-नया संवेग होता है।

दुःख सबके पास हैं

जदि देवाणं दुक्खं मणुजाणं चावि चक्कवट्टीणं।
किह लोए पुण सोक्खं संवेगो तस्स होदि णवो॥५॥

महापुण्य के महाफलों से महा-महा वैभवशाली
देव-इन्द्र, चक्री राजा का दुख से होता मन खाली॥
ऐसे महापुण्यवन्तों को, जग में- यदि दुख होता है
तो सुख किसको होगा सोचो क्यों विषयों में खोता है॥५॥

अन्वयार्थ : [जदि] यदि **[देवाणं]** देवों को **[दुक्खं]** दुःख होता है **[चावि]** तथा **[चक्कवट्टीणं मणुजाणं]** चक्रवर्ती मनुष्यों को भी दुःख है **[पुण]** तो फिर **[लोए]** लोक में **[सोक्खं]** सुख **[किह]** कैसे होवे **[तस्स]** ऐसा चिन्तन करने वाले को **[संवेगो]** संवेग **[णवो]** नया **[होदि]** होता है।

भावार्थ : देवों को भी स्वर्ग से मरण करते समय दु:ख होता है। देवगति में भी वियोग जन्य दुःख बना रहता है। अपने से बड़े देव की अधीनता का कष्ट उठाना पड़ता है। दूसरे की ऋद्धियों को देखकर ईर्ष्यागत कष्ट होते हैं। अपने दुःख की वेदना को दूर करने के लिए इन्द्रिय सुख में रमण करते हैं।

मनुष्यों में राजा चक्रवर्ती होता है । चक्रवर्ती को भी मान भंग का दुःख भोगना पड़ता है। भरत चक्रवर्ती को अपने भाई से ही अपमान सहना पड़ा। चक्रवर्ती को अपने वैभव का त्याग करके मोक्ष पुरुषार्थ करना ही आवश्यक है अन्यथा नरक का पात्र बनते हैं। अपने मनोरथों की पूर्ति के लिए नौ निधियां चौदह रत्न होते हैं फिर भी तृप्ति नहीं होती है । ९६००० रानियों से विक्रिया करके एक साथ रमण करता है फिर भी काम वेदना दूर नहीं होती है । इतना सब कुछ होने पर भी दुःख है तभी तो उस दुःख का प्रतिकार किया जाता है। जितना ज्यादा प्रतीकार है, समझना चाहिए कि उसके मन में उतना ही ज्यादा दुःख है । अतः लोक में सुखी समझे जाने वाले जीव वस्तुतः और ज्यादा दुःखी हैं। कहा भी है

कुलिसायुह चक्कहरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं वड्डी करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७७॥

अर्थात् इन्द्र और चक्रवर्ती शुभोपयोग मूलक भोगों के द्वारा देह आदि की वृद्धि करते हैं और भोगों में रत होते हुए सुखी जैसे लगते हैं।

इस तरह चिन्तन करने वाले को नया संवेग भाव उत्पन्न होता है।

संवेग की वृद्धि और कैसे होती है?

जिणसत्थाणं पठणे चउ अणुओगं हि रोचमाणस्स।
वेरग्गं खलु वहँदि संवेगो तस्स होदि णवो॥६॥

प्रथम, करण अरु चरण, द्रव्य सेचतुअनुयोगशास्त्रआधार
इन शास्त्रों के पढ़ने से ही होता है संवेग अपार।
धर्म कार्य से हो मन हर्षित भाव विराग बढ़े उर धार
नए-नए संवेग भाव की बढ़ती होवे तो जग पार॥६॥

अन्वयार्थ : [चउ अणुओगं] चारों अनुयोगों की **[हि]** निश्चय से **[रोचमाणस्स]** रुचि रखने वाले को **[जिणसत्थाणं]** जिन शास्त्रों के **[पठणे]** पढ़ने से **[खलु]** वास्तव में **[वेरग्गं]** वैराग्य **[वड्ढदि]** बढ़ता है **[तस्स]** उसका **[संवेगो]** संवेग **[णवो]** नया **[होदि]** होता है।

भावार्थ : जिसे जिनदर्शन पर श्रद्धान होता है, उसे चारों अनुयोग रुचते हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों में उसकी बराबर रुचि रहती है। प्रथमानुयोग पढ़ने से विशेष रूप से वैराग्य भाव बढ़ता है। करणानुयोग के ग्रन्थ पढ़ने से विश्व तत्त्व का श्रद्धान वृद्धिंगत होता है। चरणानुयोग के ग्रन्थ पढ़ने से चारित्र के प्रति बहुमान होता है और चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता है जिससे चारित्र ग्रहण, तप करने की भावना होती है। द्रव्यानुयोग पढ़ने से बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों का श्रद्धान दृढ़ होता है।

चारों अनुयोगों से सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है। जिस ग्रन्थ में शलाका पुरुषों, महापुरुषों के कई भवों का वर्णन होता है, उनके चरित्र का कथन किया जाता है, वह प्रथमानुयोग कहलाता है। प्रथम अर्थात् सबसे पहले जानने योग्य शास्त्र प्रथमानुयोग कहलाते हैं। श्री आदि पुराण, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, पद्म पुराण, जीवन्धर चरित्र, श्रेणिक चरित्र आदि ग्रन्थ प्रथमानुयोग के कहलाते हैं।

द्वितीय अनुयोग करणानुयोग है। इसमें लोक और अलोक का विभाजन कहा जाता है । युग परिवर्तन, सृष्टि क्रम, भरत आदि क्षेत्रों में छह काल का परिवर्तन, चारों गतियों का वर्णन समझाया जाता है। करण अर्थात् गणित। इस अनुयोग में गणित की मुख्यता रहती है। द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के क्षेत्र की

माप, जीवों की संख्या, अकृत्रिम चैत्यालय, विमान, भवन आदि का प्रमाण और मनुष्य, देव आदि की ऊँचाई का मान इत्यादि विषय जिन ग्रन्थों के पढ़ने से ज्ञात हों वे सभी करणानुयोग सम्बन्धी जानना। तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, जंबूदीवपण्णत्ति आदि इस अनुयोग के प्रधान ग्रन्थ हैं।

तृतीय अनुयोग चरणानुयोग है। इसमें गृहस्थ और श्रमणों के व्रत, चारित्र को पालन करने की विधि, उस चारित्र की रक्षा करने की भावना, व्रतों को आगे बढ़ाने की विधि इत्यादि विषयों का विशद वर्णन रहता है। इस अनुयोग के अध्ययन से सम्यक्चारित्र की आराधना में दृढ़ता आती है । रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों का समावेश इसी अनुयोग में होता है। समीचीन ढंग से सल्लेखना करने का ज्ञान भी इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन से होता है।

चतुर्थ अनुयोग द्रव्यानुयोग है। इस अनुयोग में जीव आदि सप्त तत्त्वों का, बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था, कर्मों के उदय आदि व्यवस्था और शुद्ध जीव आदि का कथन किया जाता है। श्री समयसार, द्रव्य संग्रह, पंचास्तिकाय, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार आदि ग्रन्थ इसी अनुयोग में आते हैं। न्याय, दर्शन, अध्यात्म और सिद्धान्त द्रव्यानुयोग का विषय है।

इस तरह भगवान् सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट श्रुतामृत का निरन्तर पान करने से राग-द्वेष की हानि होकर वैराग्य की वृद्धि होती है। जिससे आत्मा में नया संवेग भाव उत्पन्न होता है।

और किस साधु के संवेग बढ़ता है?

आवेगो उव्वेगो उस्सेको णत्थि जस्स साहुस्स।
णिव्वेग-परो आदा संवेगो तस्स होदि णवो॥७॥

पर कार्यों में उत्कण्ठित जो तीव्रतमा आवेग कहा
तीव्रतरी फिर वही लालसा ध्यानी का उद्वेग रहा।
मन्द-मन्द आकांक्षा रहना उत्सुकता का होना है
शान्त ध्यान निर्वेग भाव से मन संवेग सलोना है॥७॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस **[साहुस्स]** साधु को **[आवेगो]** आवेग, **[उव्वेगो]** उद्वेग **[उस्सेको]** उत्सेक **[णस्थि]** नहीं है **[आदा]** जो आत्मा **[णिव्वेगपरो]** निर्वेग में तत्पर है **[तस्स]** उसका **[संवेगो]** संवेग **[णवो]** नया **[होदि]** होता है।

भावार्थ : किसी कार्य को जिस-किसी भी ढंग से करने का भाव आवेग है। किसी कार्य को करने की तीव्र लालसा उद्वेग है। किसी कार्य को करने की उत्सुकता बनी रहना उत्सेक है। जो साधु अभीक्षण

संवेग भावना से युक्त होता है, ऐसे शान्त परिणामी साधु को निर्वेग में तत्पर कहा जाता है। संसार, शरीर, भोगों से उदासीन आत्मा निर्वेग में है उसको नया संवेग भाव होता है।

आगे और भी कहते हैं

संसारभीदो जिणरूवलीणो जिणस्स धम्मे हरिसो विसुद्धो।
संसारपारीण- विमुत्तचित्तो णवो णवो सो सुहभावजुत्तो।। ८।।

चारों गति से त्रस्त हुआ जो जिन स्वरूप में लीन हुआ
श्री जिनवर के कथित धर्म में हर्षित होकर शुद्ध हुआ।
जिसका चित्त विमुक्त हुआ है सांसारिक अभिलाषा से
नया-नया संवेग भाव वह अनुभव करे शिवाशा से।।८।।

अन्वयार्थ : [संसारभीदो] संसार से भीत **[जिणरूवलीणो]** जिन रूप में लीन **[जिणस्स]** जिनेन्द्र के **[धम्मे]** धर्म में **[हरिसो]** हर्षित **[विसुद्धो]** विशुद्ध **[संसार-पारीण-विमुत्तचित्तो]** संसार से पार जाने वाला मुक्त चित्त **[सो]** वह जीव **[णवो णवो]** नये-नये **[सुहभावजुत्तो]** शुभ भाव से सहित होता है।

भावार्थ : अभीक्ष्ण संवेगी आत्मा संसार के चार गतियों के दुःख से भयभीत होता है। वह जिनेन्द्र भगवान के बाह्य रूप और अन्तरङ्ग अनन्त चतुष्टय रूप आत्म तत्त्व का ध्यान करता है । वह जिनरूप में लीन रहता है। जिन प्रणीत धर्म में उसे अन्तरङ्ग से हर्ष उत्पन्न होता है जिससे उसका चित्त विशुद्ध होता जाता है । संसार के पार जाने वाला उसका चित्त एक तरह से संसार के बन्धनों से छूटा ही रहता है। इस तरह उस आत्मा में शुभभाव नया-नया उत्पन्न होता रहता है। इन भावनाओं से निरन्तर संवेग की वृद्धि होती है और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

6. तवो भावणा

बारहविहो तवो खलु भणिदो बहिरंतरेहिं भेदेहि।
कम्माण सादण-खमो सव्वेसिं जिणवरिंदेहिं॥१॥

तीर्थंकर भगवन्त सभी ने एक मार्ग दिखलाया है
अष्ट कर्म के नाश करन का तप उपाय बतलाया है।
अनशन अवमोदर भेदों से छह प्रकार तप बाह्य रहा
अन्तरङ्गतपविनय आदि भी छह प्रकार से सदा कहा॥१॥

अन्वयार्थ : [सव्वेसिं जिणवरिंदेहिं] सभी जिनेन्द्र भगवान ने **[बहिरंतरेहिं भेदेहिं]** बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से **[बारहविहो तवो]** बारह प्रकार का तप **[खलु]** निश्चय से **[भणिदो]** कहा है जो **[कम्माण सादाणखमो]** कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है।

भावार्थ : बारह प्रकार का तप है जो छह प्रकार के बाह्य तप और छह प्रकार के अन्तरङ्ग तप के भेद से सहित है। इस तप का कथन जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। यह तप ही कर्मों का नाश करने में समर्थ है।

तप से ही सभी प्रकार की लक्ष्मी साधी जाती हैं। तप से ही देवता वश में होते हैं। तप से ही बड़े-बड़े विघ्न दूर होते हैं। श्रमण कर्म निर्जरा के लिए तप करता है। श्रावक भी कर्म निर्जरा के लिए तप करता है। कभी-कभी गृहस्थ दशा में अन्य कारणों से भी तप का आश्रय लिया जाता है। कार्य की सिद्धि के लिए भी तप ही अमोघ अस्त्र है।

देखो! जब भरत-चक्रवर्ती दिग्विजय के लिए निकले थे तो वह अपनी अपार सेना लेकर चक्ररत्न को आगे करके चलते थे। जब भरत-चक्रवर्ती गंगा नदी के किनारे-किनारे चलकर गंगासागर पर पहुँचे तो वहाँ गंगा द्वार पर उन्होंने मन, वचन, काय की क्रिया को प्रशस्त कर तीन दिन का उपवास किया।

उसके बाद उन्होंने अपने नाम से चिह्नित अमोघ नाम का बाण मागध देव के लिए छोड़ा। जब वह बाण बारह योजन जाकर मागध देव के भवन में गिरा तो उस देव को बहुत क्षोभ हुआ। शीघ्र ही चक्रवर्ती के आने का समाचार जानकर वह देव हाथों में रत्न लेकर भरत चक्री के पास आ गया।

देवों को वशीभूत करने के लिए इस तरह तप करके अपने पुण्य को बढ़ाते हुए चक्रवर्ती आगे बढ़ते जाते थे। जब भरत राज विजयार्ध पर्वत की वेदिका के समीप पहुँचे तो वहाँ पर भी उन्होंने उपवास कर पर्वत के अधिष्ठाता विजयार्ध कुमार देव का स्मरण किया।

उसके बाद म्लेच्छ राजाओं को जीतते हुए जब भरत चक्रवर्ती हिमवान् पर्वत की तराई में ठहरे तो वहाँ उन्होंने तीन दिन के उपवास का नियम लिया और दर्भशय्या पर आरूढ हुए। इससे उन्होंने हिमवत् कूट पर रहने वाले देवों को वश में किया। वहाँ से चलकर चक्रवर्ती वृषभाचल पर्वत पर आये। वहाँ अपना नाम लिखकर विजया पर्वत की वेदिका के समीप आए तो वहाँ जाकर उन्होंने उपवास धारण किया। नमि-विनमि जो कि विजयाध की दोनों श्रेणियों के स्वामी थे, उन्होंने आकर भरतराज को नमस्कार किया। वहाँ से चलकर गंगा कूट के समीप आए तो उन्होंने तीन दिन का उपवास किया। यहाँ गंगादेवी ने उनका एक हजार कलशों से अभिषेक किया।

इसके बाद भरतराज म्लेच्छ राजाओं को वश करते हुए विजयाध की दूसरी गुफा खण्डकाप्रपात के समीप आए। वहाँ वे तीन दिन के उपवास का नियम लेकर ठहर गए। यहाँ नाट्यमाल देव ने उन्हें कुण्डल भेंट किये।

इस तरह बिना युद्ध किए ही देव, विद्याधर आदि को भरत चक्री ने अपने तप के प्रभाव से वश में किया। अहिंसा, संयम और तप तीनों ही धर्म है। इनके प्रभाव से देव लोग भी वश में हो जाते हैं।

पूर्व भव के बंधे हुए पाप कर्म का शमन भी तप से ही होता है। देव द्रव्य को हड़प लेने से एक रुद्रदत्त ब्राह्मण मरकर नरक गया और नरक से निकलकर वह संसार में भ्रमण करता रहा। जब उसके और अधिक पाप का उपशम हुआ तो वह एक ब्राह्मण का पुत्र गौतम हुआ। उस पुत्र के पाप की तीव्रता से उत्पन्न होते ही उसके माता-पिता मर गए। वह महा दरिद्री था। भीख माँगता हुआ इधर-उधर घूमता-फिरता था। एक बार उसने एक मुनिराज को आहार करते देखा और आहार के बाद उनके पीछे लग गया तथा आश्रम में पहुँचकर बोला कि मैं भूखा मरता हूँ। आप मुझे अपने समान बना लीजिए। मुनिराज ने उसे भव्य प्राणी जानकर दीक्षा दे दी और उसने भी दीक्षा लेकर एक हजार वर्ष की कठिन तपस्या से विघ्नकारक पापों का शमन कर दिया। तपस्या के प्रभाव से गौतम मुनि को बीज बुद्धि ऋद्धि, रस ऋद्धि, अक्षीण महानस ऋद्धि तथा पदानुसारिणी ऋद्धि प्राप्त हो गई। गौतम मुनि ने पचास हजार वर्ष तक तप किया और अन्त में समाधिमरण कर अहमिन्द्र देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर वह जीव अन्धकवृष्णि राजा हुआ। इन्हीं अन्धकवृष्णि के दश पुत्र हुए जिनमें समुद्रविजय प्रथम थे। इन्हीं समुद्रविजय से भगवान नेमिनाथ का जन्म हुआ। समुद्रविजय को राज्य देकर अन्धकवृष्णि केवली के पादमूल में दीक्षा धारण कर लेते हैं। इस तरह यह तप अनेक अद्भुत ऋद्धियों को देने वाला है। अनादि कालीन पाप कर्म का उपशमन करने वाला है। अन्तराय आदि कर्म का नाश इसी तप से होता है।

भव्यात्मन्! यथाशक्ति तप का आचरण अवश्य करना चाहिए। तप मुनिराज का तो उत्तर गुण है। मूलगुणों में तप नहीं है फिर भी मूलगुणों के पालन के साथ तप भी होता है। कोई भी श्रमण एकान्त रूप से

तप को उत्तर गुण समझकर तप से दूर रहे तो वह मूलगुण भी निर्दोष पाल नहीं सकता है। अनेक प्रकार के तप हैं उनमें ऊनोदर आदि तप तो एक बार भिक्षा चर्या से भोजन करने वाले मुनि को पालना ही पड़ता है। अन्तराय हो जाने से भी यह तप हो जाता है। केशलुंचन करना भी बहुत बड़ा काय क्लेश तप है। इस केशलोंच के साथ उपवास भी होता है। अनशन तप भी समय-समय पर आवश्यक रूप से होता है । मुनि जीवन तो तप का ही जीवन है। इसलिए मैं तो केवल अट्ठाईस मूलगुणों का ही पालन करूँगा, उत्तर गुणों का नहीं, ऐसी धारणा बनाकर मुनि मत बनना। प्रतिक्रमण में बारह प्रकार का तप, बाईस प्रकार का परीषह सहन आदि न करने पर आलोचना की जाती है। इसलिए यथाशक्ति मैं उत्तर गुणों का पालन करूँगा और मूलगुणों को निर्दोषता से धारण करूँगा, ऐसी भावना करके ही मुनि बनने का संकल्प ग्रहण करना चाहिए। श्रावक के छह आवश्यक में भी तप है । अतः तप सभी के लिए सर्वसिद्धिदायक है।

अभ्यन्तर तप किससे बढ़ता है, यह कहते हैं

अब्भंतरववीए बाहिरतवकारणं परिक्खादं।
सत्तीए तवकरणं अणुगूहियवीरिओ होदि॥ २॥

अन्तरंग तप की वृद्धि का कारण बाहर का तप है
जिस तप से संक्लेश न होवे वह अन्तर का साधक है।
यथाशक्ति तप करना तपसी शक्ति छिपाना धर्म नहीं
उस तप से क्या अर्थ रहा यदि तपो भावना पुनः नहीं॥२॥

अन्वयार्थ : [अब्भंतरववीए] अभ्यंतर वृद्धि में **[बाहिरतव-कारणं]** बाह्य तप कारण **[परिक्खादं]** कहा गया है **[सत्तीए]** शक्ति के अनुसार **[तवकरणं]** तप करना **[अणुगूहिय-वीरिओ]** अनिगृहित वीर्य वाला **[होदि]** होता है।

भावार्थ : दोनों प्रकार के तप में अभ्यन्तर तप की वृद्धि बाहरी तप के द्वारा होती है। बाह्य तप शरीर की शक्ति की अपेक्षा रखता है। बाह्य तप यदि शक्ति अनुरूप होता है तो वह अन्तरंग तप की वृद्धि करता है अन्यथा संक्लेश होता है। तप का प्रयोजन कर्म निर्जरा और परिणामों की विशुद्धि है। शक्ति अनुसार तप करना इसीलिए कहा है कि परिणामों में संतुलन बना रहे । ध्यान, विनय आदि अन्तरंग तप हैं, इनकी वृद्धि के लिए किया गया तप ही वस्तुतः बाह्य तप है अन्यथा वह कायक्लेश मात्र रह जाता है।

तप बारह प्रकार का है। उसमें छह प्रकार के बाह्य तप हैं। इसे बाह्य तप इसलिए कहा जाता है

क्योंकि इसमें बाह्य द्रव्य आहार आदि की प्रमुखता रहती है और बाह्य द्रव्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है। दूसरा कारण है इस बाह्य तप को अन्यमती साधु भी पालन करते देखे जाते हैं।

१. अनशन- चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय के प्रकार से चार प्रकार का है । इस आहार का त्याग यदि कुछ काल के लिए होता है तो उसे साकांक्ष अनशन तप कहते हैं। साकांक्ष का अर्थ है कि मैंने एक, दो आदि दिन के लिए आहार आदि का त्याग किया है। इतने समय तक के लिए अपने मन की आकांक्षा को रोका है, इसलिए यह साकांक्ष तप है। इस साकांक्ष तप में बनाई गई काल मर्यादा के बाद ग्रहण करने की आकांक्षा है।

कनकावली, एकावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रत इसी साकांक्ष बाह्य तप में आते हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लक्ष्य करके यह तपो विधि चार प्रकार की भी होती है।

तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान के शरीर पर स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि १०८ शुभ लक्षण होते हैं, उनको लक्ष्य करके जो व्रत, तप होता है उसे द्रव्य तपोविधि कहते हैं । कैलासगिरि, सम्मेद शिखर, गिरनार, चंपापुर, पावापुर आदि निर्वाण क्षेत्र के उद्देश्य से ११, ५१, १०८ आदि संख्या में उपवास करना भी क्षेत्र तपोविधि है । अथवा उन-उन क्षेत्रों के निर्वाण प्राप्त तीर्थंकर के उद्देश्य से किसी तिथि विशेष से, टोंक की संख्यानुसार, गणधर आदि की संख्यानुसार भी तप किए जा सकते हैं।

तीर्थंकर जिनेन्द्र के पंचकल्याणक की तिथियों के उद्देश्य से किए गये तप को काल तपोविधि कहते हैं। तथा जिनेन्द्र भगवान् के तेरह प्रकार का चारित्र, बारह भावना, बावीस परीषहजय, ध्यान के भेद आदि रूप से जो तप किए जाते हैं वह भाव तपोविधि है।

मरण निकट जानकर आयुपर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करना निराकांक्ष तप है।

२. अवमौदर्य तप- अपनी भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है। चाहे एक ग्रास, दो ग्रास कम खावे वह भी अवमौदर्य तप है। भूख से कम खाने से इंद्रियाँ वश में रहती हैं, स्वाध्याय आदि का निर्वहन अच्छे ढंग से होता है और उत्तर गुणों को पालने की भावना बनती है। आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने, प्रवचनसार में श्रमण के लिए प्रतिदिन अवमौदर्य करने की प्रेरणा दी है। श्रमण यथालब्ध, पूर्णोदर से कम भोजन लेवे।

३. रस परित्याग तप- तप की वृद्धि के लिए यह तप किया जाता है। दूध, दही, घी, तैल, गुड़ और नमक ये छह रस हैं । इनमें से किसी एक, दो अथवा सभी का त्याग रस परित्याग है । अथवा खट्टा, मीठा, कड़वा, कसायला और चरपरा इनमें से किसी एक, दो या सभी रस का त्याग करना भी रस परित्याग तप है।

४. वृत्ति परिसंख्यान तप- दाता, भोजन, भाजन, गृह, गली, संख्या आदि किसी भी वस्तु का

संकल्प लेकर भोजन की गवेषणा करना वृत्ति परिसंख्यान है। यह तप अपने भाग्य की परीक्षा के लिए, अन्तराय कर्म को जीतने के लिए किया जाता है। श्रमण के लिए बिजली की तरह दाता के सामने से गुजर जाना चाहिए। एक बार, या अधिक बार भी घूमकर, चक्कर लगाकर विधि देखी जा सकती है। किन्तु किसी श्रावक को सामने खड़ेकर बार-बार उसकी विधि को देखना या हूं, हाँ हाथ के इशारे से विधि का मिलान करवाना अनुचित है। ऐसा करने से इस तप का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। मुनिराज राम ने पाँच दिन का उपवास लेकर यह नियम लिया कि यदि वन में आहार मिलेगा तो लेंगे अन्यथा नहीं। एक राजा और रानी ने संयोग वश उन्हें आहार देकर पुण्य लाभ लिया। इसी तरह के अपने भाग्य, पुण्य की परीक्षा के लिए यह तप होता है।

५. कायक्लेश तप- पर्यंकासन, वीरासन आदि आसनों के द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। इस तप का उद्देश्य शरीर की सहन शक्ति को बढ़ाना तथा कष्ट सहने का अभ्यास करना है।

६. विविक्त शय्यासन तप- जहाँ पर स्त्री वेदी तिर्यंचों और मनुष्यों, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों, देवांगनाओं का आवागमन न हो ऐसे स्थान पर शयन करना, आसन लगाना या बैठना, एकान्त वास करना विविक्त शय्यासन तप है।

अभ्यन्तर तप के छह भेद- प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग हैं।

देहे अणाइमोहो जीवाणं सहावदो सदा होइ।
तम्मोहस्स विणासो तवेण विणा व कदा होदि॥३॥

जीव कर्म का ज्यों अनादि से बन्ध रहा त्यों तन का भी
तन में आतम रमता भ्रमता मोह बढ़ाता ममता भी।
इसी मोह का क्षय कर देना तप का काम अनूठा है
किए बिना तप मोक्ष दिखाए सच मानो वह झूठा है॥३॥

अन्वयार्थ : [जीवाणं] जीवों को **[देहे]** शरीर में **[अणाइमोहो]** अनादि से मोह **[सहावदो]** स्वभाव से **[सदा]** सदा **[होइ]** होता है **[तम्मोहस्स]** उस मोह का **[विणासो]** विनाश **[तवेण]** तप के **[विणा]** बिना **[कदा]** कभी **[णेव]** नहीं **[होदि]** होता है।

भावार्थ : इस जीव, आत्मा को अपनी देह में मोह अनादि काल से है। यह मोह उसका स्वभाव से बना हुआ है। जब से जीव है तब से आत्मा में मोह है, ऐसे स्वाभाविक मोह को आत्मा से दूर करना बहुत कठिन है। उस मोह का विनाश तप के द्वारा होता है। उपवास, रस परित्याग आदि बाह्य तप और ध्यान

आदि अन्तरंग तप के द्वारा देह से ममता दूर होती है। यह तप आत्मा का इसीलिए उपकारी है। तप के अतिरिक्त अन्य कोई साधन इस शरीर की ममता का त्याग करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। सभी महापुरुषों ने इसी कारण से महान तप को सदैव अंगीकार किया है।

ऐसे तप को करते हुए क्या सावधानी रखें? यह कहते हैं

खाईपूजालाहं चइ ऊणं सम्मत्त विसुद्धीए।
जो कुणदि तवोकम्मं अप्पं विहु महाफलं देदि॥४॥

बड़े-बड़े उपवासादिक यदि करने की सामर्थ्य न हो
तो भी समकित की शुद्धि से अल्प तपस्या बहुत अहो।
यदि तप फल से चाह रहा तू कीर्ति कामिनी पूजा को
तो वहतपतेरा निष्फल ज्यों, कृषक चाहता भूसा को॥४॥

अन्वयार्थ : [खाईपूजा-लाहं] ख्याति, पूजा, लाभ को **[चइऊणं]** त्याग करके **[सम्मत्त विसुद्धीए]** सम्यक्त्व की विशुद्धि के साथ **[जो]** जो **[अप्पं वि]** थोड़ा भी **[तवोकम्मं]** तपः कर्म **[कुणदि]** करता है **[हु]** वह निश्चित्त ही **[महाफलं]** महान् फल **[देदि]** देता है।

भावार्थ : तप करते हुए यह सावधानी रहे कि वह ख्याति, पूजा, लाभ के लिए न हो। लोग मुझे तपस्वी कहेंगे, मेरा दुनिया में नाम होगा, इत्यादि भावना का नाम ख्याति है। तप करने से लोग मेरा आदर-सम्मान करेंगे, पूजाप्रतिष्ठा बढेगी, ऐसी इच्छा का नाम पूजा भावना है। तप करने से मेरी अमुक इच्छा पूर्ण होगी, ऐसी अभिलाषा से तप करना लाभ भावना है। इन तीनों भावना का त्याग करके सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ तप करना चाहिए। समीचीन तप यही है। ऐसा तप, यदि थोड़ा भी हो तो वह बहुत फल देने वाला होता है।

हे तपस्विन् ! इस पंचम काल में हीन संहनन होते हुए भी निदान बंध की भावना मत कर। बाह्य तप करने की शक्ति नहीं है तो कोई बात नहीं किन्तु अन्तरंग के राग, द्वेष को जीत ले। अन्तरंग में समता रस का आस्वादन ले। मन की इच्छा की पूर्ति तप के फल से पूरा करना भी अच्छा नहीं है। मन में लोकैषणा की इच्छा न होना भी बहुत बड़ा तप है। आचार्यों ने 'इच्छा निरोधस्तपः' कहा है। अर्थात् इच्छा का रुकना ही तप है। भरत चक्रवर्ती गृहस्थ थे। राज्येच्छा से उन्होंने देव, विद्याधरों को वश में करने के लिए तप किए। उस तप का उद्देश्य कर्म निर्जरा नहीं था। गृहस्थ के कदाचित् यह उचित है किन्तु श्रमण के लिए कदापि नहीं है। आचार्य गुणभद्र देव आत्मानुशासन में कहते हैं कि–

न करोतु चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता।।

अर्थात् यदि आप चिरकाल तक क्लेश सहन करने में असमर्थ होने से घोर तप नहीं कर सकते हो तो कोई बात नहीं , तप मत करो किन्तु चित्त से साधने योग्य कषाय शत्रुओं को नहीं जीतते हो तो यह अज्ञानता है।

जिस तप से आशागर्त को सुखाना था, उसी तप से आशा का गर्त और बढ़ा लेना महा अज्ञान है। यह तप गुण का लाभ नहीं हुआ। मोह का विलास बड़े-बड़े तपस्वियों को भी छलता है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इच्छा पूर्ति के लिए तप साधना करते हैं, मन्त्रसिद्धि के लिए तप करते हैं, जप करते हैं। खेद है, कि यह तप भी इच्छा पूर्ति का अस्त्र बना लिया जाता है। ऐसे जीवों का संसार बढ़ता ही जाता है। पुराण ग्रन्थों से भी ऐसे कथानक पढ़ने को मिलते हैं जिन्हें पढ़कर आश्चर्य होता है। दीर्घकालीन तपस्या का परिणाम आत्मा के लिए कुछ नहीं अपितु संसार सुख के लिए हो जाता है । हे आत्मन् ! दूसरे की गलती को देखकर अपनी गलती सुधारने वाला महा ज्ञानी है।

देखो! एक नन्दिषेण नाम के मुनिराज हुए हैं । वैयावृत्य में जो बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। इन मुनि की वैयावृत्य की प्रशंसा आगे वैयावृत्य भावना में पढ़ना। ऐसी दुर्धर तपस्या करने के बाद भी अद्भुत ऋद्धियों के धारक नन्दिषेण मुनि ने भी वही गलती की जिसका वर्णन ऊपर कर रहा था। मुनि ने पैंतीस हजार वर्ष तक तपस्या की। ऐसी विचित्र तपस्या से देवों की सभा में इन्द्र ने भी प्रशंसा की। जब जीवन के अन्तिम छह मास बचे तो प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। अहो अन्त-अन्त तक इतना बड़ा संन्यास मरण किया जिसमें वैयावृत्ति न तो क्षपक खुद करता है और न किसी से कराता है। उन मुनि ने निदान कर लिया कि 'मैं अगले जन्म में लक्ष्मीवान् तथा सौभाग्यवान् होऊँ।' इस निदान से मुनि ने अपनी आत्मा को बांध लिया। मरणोपरान्त मुनि महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र तुल्य देव हुआ और फिर मनुष्य भव प्राप्त करके पृथ्वी का अधिपति 'वसुदेव' हुआ। इसलिए तप थोड़ा भी हो लेकिन संसार की इच्छा पूर्ति के लिए न हो।

हे मन! तू कुछ भी मत कर। तप से शरीर को कष्ट होता है किन्तु राग-द्वेष नहीं करने से तो कोई कष्ट नहीं होता है। तुझे कुछ नहीं करना है, मत कर किन्तु राग-द्वेष भी मत कर। यदि शरीर शक्ति नहीं है तो कोई बात नहीं, अपनी ज्ञान शक्ति को बढ़ा। इस ज्ञान शक्ति से राग, द्वेष की परम्परा को रोक। शान्त स्वभावी आत्मा का अनुभव कर। अपने शान्त-सौम्य स्वभाव की भावना करके मन में उत्पन्न राग-द्वेष विभाव भावों को जीतता चल । यही सबसे बड़ा तप है। यह तप पंचम काल में भी होता है। आचार्य कहते हैं, राग, द्वेष की परिणति से मन को बचाने के लिए किसी विशेष संहनन की आवश्यकता नहीं है । पर पदार्थों की इच्छा छोड़कर, ख्याति पूजा-लाभ की वासना त्याग कर शान्त भाव से अपने स्वभाव का चिन्तन

करते हुए विकारी भावों को ग्रहण मत कर। समीचीन तप दुर्लभ है–

तवकरणंखलु सुलहंदिस्सदिलोए दुअणसणादिविहं।
तं संजमेण सहिदं णिरवेक्खं दुलहं सम्मं॥५॥

सभी जगह पर सभी मतों में अनशन आदिक तप देखे
सुलभ दीखते सभी जनों को आत्म ज्ञान से अनदेखे।
जीवदया सह इन्द्रिय संयम वा शिवपथ की अभिलाषा
समीचीन संयम सह तपना दुर्लभ ना हो जग आशा॥५॥

अन्वयार्थ : [अणसणादिविहं] अनशन आदि के प्रकार वाला **[तवकरणं]** तप करना **[दु]** तो **[लोए]** लोक में **[खलु]** निश्चित ही **[सुलहं]** सुलभ **[दिस्सदि]** दिखाई देता है **[तं]** वह तप **[संजमेण]** संयम से **[सहिदं]** सहित **[णिरवेक्खं]** निरपेक्ष **[सम्मं]** सम्यक् होना **[दुल्लहं]** दुर्लभ है।

भावार्थ : अनशन आदि बाह्य तप करने में रुचि बहुत लोगों की देखी जाती है। लोग अनशन आदि करने में उत्साहित भी रहते हैं। यह तप कठिन होते हुए भी लोक में सुलभ दिखाई देता है । वह तप यदि संयम से सहित हो तो बहुत उत्तम है। तप के साथ संयम बना रहना चाहिए। प्राणी संयम हो या इन्द्रिय संयम दोनों प्रकार के संयम का पालन तप के साथ कठिन है । तपस्वी लोग अक्सर संयम पर ध्यान नहीं देते हैं। जैसे तप करने के बाद मन चाहे आहार, रस की अभिलाषा रखना इन्द्रिय असंयम है। तप करने के बाद ईर्या-समिति, आदाननिक्षेपण समिति आदि की परवाह नहीं करना प्राणी असंयम है। तप निरपेक्ष हो । अपेक्षा भी हो तो मात्र कर्म निर्जरा की और आत्म विशुद्धि की। इसके अलावा अन्य लौकिक इच्छा तप की विराधना है। इस तरह का समीचीन तप वास्तव में दुर्लभ है।

सम्यक् तप की पहिचान–

कोहो लोहो माणो हीयदि जस्स तवाचरणेण पुणो।
तस्सेव तवो भणिदो समदा-सम्मत्त-ववियरो॥६॥

तप करते-करते साधक के भाव विकारी नशते हैं
क्रोध, मान, इच्छाएँ तम हैं तप रति लख सब भगते हैं।
जैसे-जैसे बढ़ती जाए तपो भावना मुनि मन में
तैसे-तैसे बढ़ती जाए निज रुचि-समता आतम में॥६॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके **[तवाचरणेण]** तपश्चरण से **[पुणो]** पुनः **[कोहो]** क्रोध **[लोहो]** लोभ **[माणो]** मान **[हीयदि]** घटता है **[तस्सेव]** उसका ही **[तवो]** तप **[समदा-सम्मत्त-ववियरो]** समता और सम्यक्त्व की वृद्धि करने वाला **[भणिदो]** कहा गया है।

भावार्थ : समीचीन तप की पहचान यह है कि जैसे-जैसे तप की वृद्धि होती है आत्मा में क्रोध भाव क्षमा में परिणत होता जाता है। परम शान्त दशा का अनुभव होता है। इतना तप करने पर भी मेरे परिणामों में शान्ति न आए तो वह मात्र देह का तपना है, ऐसा विचार कर परम शान्त भावों से क्रोध के समय पर भी वह तत्त्व विचार में लीन रहता है। जब संसार में देह से भी विरक्ति हो जाती है तो लोभ क्या करना । तप करने से इच्छाएं शान्त हो जाती हैं । मात्र आत्म-अनुभूति की भावना तीव्र होती जाती है, ऐसा होने लगे तो वह तप बहुत कर्म की निर्जरा का साक्षात् कारण होता है । अभिमान तो तपस्वी को छूता नहीं है, सम्यक् तप करने से विनयशीलता बढ़ती है। व्यक्ति मृदु होता चला जाता है। ऐसा तप ही समता, सम्यक्त्व को नित प्रतिपल बढ़ाता है।

अरे तपस्विन् ! तप करना कठिन है किन्तु वह भी तू कर रहा है इससे भी कठिन है मन की लोकैषणा का त्याग करना। तप करने के बाद भी यदि कोई तेरी प्रशंसा न करे, कोई तुम्हारी पूजा विशेष न करे, कोई तेरी पारणा का ध्यान न रखे, कोई दूर-दूर से तुम्हें देखने न आए, कोई गांव या शहर में विस्मय से न देखे तो भी हे तपस्विन् तुम शान्त रहना। मन में खेद-खिन्नता नहीं लाना। अपने मन की इन लौकिक इच्छाओं को जीतना ही सबसे बड़ा तप समझना। विचार करना कि बड़े-बड़े तपस्वी दुर्धर तप करने के बाद भी क्रोध आदि विकारों को न जीत पाए इसलिए वह तप उनके कल्याण का कारण नहीं हुआ। हे भगवन्! मेरे इस तप के बदले में मेरे चित्त में ऐसे कोई क्रोध, लोभ के विकार उत्पन्न न हों। कितने ही तपस्वी पारणा के समय क्लेश करते हैं । अपने मन का इष्ट आहार, इष्ट रस चाहते हैं। यदि उस रस की मात्रा में थोड़ी कमी रह जाये तो आग-बबूला हो जाते हैं। ऐसे आहार से तो अधःकर्म आदि दोष लगते हैं। यदि ऐसी मनचाही पारणा की इच्छा हो तो उससे अच्छा प्रतिदिन का भिक्षा चर्या से एक बार भोजन कर आना ज्यादा लाभप्रद है। उतना ही तप करो जिससे मन में संक्लेश उत्पन्न न हो। नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेवसूरी ने कहा है–

'तत्तपः आचरितव्यं येन शरीरमनसी संशयतुलां नारोहतः।'

अर्थात् वह तप ही करना चाहिए जिससे शरीर और मन में संशय की तुला पर आरोहण होने की स्थिति न बन जाय।

देखो ! वशिष्ठ मुनि एक-एक महीने के उपवास करके पारणा के लिए नगर में आते थे। नगर के राजा ने कहा कि ऐसे तपस्वी मुनि की पारणा हम ही कराएंगे। पारणा के दिन राजा किसी कार्य में व्यस्त हो

गया। मुनि आए और आहार लाभ न हुआ तो लौट गए। पुनः एक माह का उपवास किया और पारणा के लिए उसी नगर में गए। राजा ने पुनः कहा कि पारणा मैं ही कराऊँगा। उसी दिन कहीं आग लग जाने से राजा उस प्रजा रक्षा के कार्य में पारणा कराना भूल गया। मुनिराज चले गए। ऐसा तीन बार हुआ। मुनि को पारणा लाभ नहीं हुआ। तीसरा बार जब नगर से बिना आहार के लौटते हुए जा रहे थे तो एक बुढ़िया ने कहा देखो! यह राजा तो मुनि के प्राण ही लेना चाहता है। किसी को आहार देने नहीं देता और स्वयं भी नहीं देता है। इतनी बात मुनि के कानों में पड़ी तो वह आग बबूला हो गए। मुनि ने निदान बंध कर लिया इस राजा से मैं बदला अवश्य लूँगा। वह वशिष्ठ मुनि मरण करके कंस राजा बना । उसके बाद उसने अपने पिता को ही कारागार में डाल दिया। इतना दुर्धर तप और बुढ़िया की बात सुनने मात्र से इतनी तीव्र क्रोध कषाय का परिणाम । अहो ! आत्मन् ! तप करने से मन की शक्ति कम भी हो सकती है और यदि अपने कर्म विपाक का ध्यान रहे तो मन की शक्ति आत्मा की शक्ति में समाहित होकर अनन्त हो जाती है। वशिष्ठ मुनि के पास इतनी शक्ति थी कि उन्हें तीन बार आहार नहीं मिलने पर भी कोई खेद नहीं हुआ किन्तु बुढ़िया की बात सुनकर कषाय उत्पन्न हो गई । हे आत्मन् ! ऐसा पुरुषार्थ कर कि ऐसे किसी की बात सुनकर किसी के प्रति कषायाग्नि न भड़क उठे। यही सबसे बड़ी तपस्या है। तप करने का फल कषाय रहित आत्म स्वरूप के निकट पहुँचना और अपने सहज शान्त स्वभाव में रमण करना है। जिस तप-त्याग से मन में क्षमा भाव बढ़े, लोभ-लालच क्षीण हो जाए और मृदुता-ऋजुता का सागर उमड़ने लगे वही सम्यक् तप है।

हे आत्मन् ! अपने आत्म हित के कार्य को छोड़कर अन्य कार्य करने में तुझे कितना आवेग उत्पन्न होता है। तेरी बुद्धि किसने हर ली है जो श्रावक होकर भी निश्चिन्तता से भगवान् की पूजा नहीं कर सकता है। कोई भी काम तेरे मन में रहता है तो पूजा स्वाध्याय में उसे याद रखता है कि मुझे वहाँ जाना है, उनसे मिलना है, दुकान खोलना है, माल खरीदना है, पेमेन्ट देना है, डाक्टर के पास जाना है, बच्चे को स्कूल छोड़ना है, भोजन बनाना है, घर का काम देखना है, न जाने कितने विकल्प, कितने आवेग के साथ जल्दी-जल्दी तू मन्दिर से निकलकर भागना चाहता है। तूने अपने जीवन को इन क्रिया-कलापों में उलझाकर बरबाद कर लिया है। तेरे इन विकल्पों के कारण तुझे कभी भी संवेग भावना उत्पन्न नहीं हो सकती है। संवेग का अर्थ है- धर्म और धर्म के फल में हर्षित होना। तुझे धर्म में हर्ष कहाँ ? यह तेरे मन में धर्म से आनन्द उत्पन्न होता तो तू लाख कार्य छोड़कर भी धर्म करता। तेरे मन में धर्म का बहुमान यदि होता तो तू आकुलता से पूजा नहीं करता। पूजा करते हुए प्रत्येक अर्घ पर यह नहीं सोचता कि अब चार अर्घ और बचे हैं, एक जयमाला बची है । पूजक को पूजा में जब हर्ष उत्पन्न होता है तो उसे एक पूजा भी बहुत देर तक करने का मन होता है। पूजा-धर्म से जब आनन्द आता है तो और पढ़ूँ , और भाव करूँ, और अच्छे भाव लगाऊँ, ऐसा आनन्दित होता है। श्रावक के अन्दर जब तक घर-व्यापार के कार्यों को करने का तीव्र

आवेग रहता है तब तक वह धर्म के विषय में खानापूर्ति करता है। श्रावक बन्धो ! विचार कर तूने जिस तरह पाप कमाने के लिए पुण्य-धर्म को छोड़ा उस तरह क्या तूने कभी पुण्य-धर्म के लिए पाप को छोड़ने की भावना की। जिस सम्यग्दृष्टि श्रावक के अन्दर संवेग भाव उत्पन्न हो जाता है वह व्यापार, गृह के कार्यों में उदासीन हो जाता है। उसे धर्म के कार्य में व्यवधान आने पर पीड़ा उत्पन्न होती है । वह गृहस्थ जीवन को धिक्कारता है। जिस गृहस्थ जीवन में सैकड़ों राग, द्वेष की तरंगों से मन क्षुब्ध रहता है, जहाँ परिवार, सगे-सम्बन्धी रूप बड़े-बड़े मगरमच्छ उछलते रहते हैं, जहाँ लोभ के महाभंवर बने हैं और जहाँ स्त्रियों के राग से चंचल बड़ी बड़ी मछलियाँ मन चुराती रहती हैं, ऐसे गृहस्थ जीवन को सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धिक्कारता है । गृहस्थी में ध्यान कैसे हो ? जब चित्त सदैव अस्थिर रहता है, चित्त में अनेक वासनाएँ जमा हैं । ऐसी गृहस्थी में ध्यान के बिना निर्विकल्पता का आनन्द कदापि नहीं है। भले ही अविरति सम्यग्दृष्टि को धर्म ध्यान होता है, ऐसा माना है परन्तु वह मुख्यता से नहीं गौण रूप में माना है। सम्यग्दर्शन का सद्भाव मात्र होने से ऐसा माना है, वस्तुतः चित्त की शुद्धि और स्थिरता का अभाव होने से गृहस्थ जीवन में ध्यान कदापि नहीं है। ध्यान के योग्य वही होते हैं जिन्होंने गृहवास का त्याग कर दिया है। कहा भी है–

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः
अतश्चित्त-प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः॥

ज्ञानार्णव ४/१०

अर्थात् गृहस्थ लोग घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश में करने में असमर्थ होते हैं, अतएव चित्त की शान्ति के लिए सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया है।

अरे गृहस्थ ! घर में रहकर निर्विकल्प आत्मानुभूति, शुद्धोपयोग की बातें तो छोड़ अभी तू ढंग से धर्म ध्यान करने की पात्रता नहीं रखता है। यदि तू अपने को सम्यग्दृष्टि समझकर मुझे ध्यान होता है, मुझे आत्मानुभव होता है, ऐसा कहता है तो तू अपने को ठगता है और दूसरे को भी ठग रहा है । तू शर्म मत कर कि यदि हमें आत्मानुभूति नहीं होती है तो लोग क्या कहेंगे ? तू तो जिनवाणी पर विश्वास कर। अपने मन में आचार्यों की वाणी को रखकर श्रद्धान नहीं किया और अपनी मान बढ़ाई के लिए आत्मानुभूति की बातें करता रहा तो तुझे जो करना चाहिए उस कर्तव्य से भी वंचित रहेगा। जब तुझे घर में ही आत्मानुभूति होने लगी फिर तुझे यह गृहवास घृणित क्यों लगेगा? फिर तुझे परिवार के राग-द्वेष छोड़ने की झटपटाहट कहाँ होगी ? और तो और तुझे ऊपर कहे हुए श्लोकों और शास्त्रों पर भी विश्वास नहीं होगा ?

देख! सम्यग्दृष्टि गृहस्थ वही होता है जो संसार से भयभीत होकर विरक्त हो जाता है। विरक्त होकर घर में रहना किसी-किसी विरले श्रावक को ही संभव है। विरक्त होकर गृहवास त्यागने की भावना पहले

भी गृहस्थ विद्वानों ने की है। पं. भूधर दास जी लिखते हैं–

कब गृहवास सौं उदास होय वन से ऊँ, बेऊँ निज रूप गति रोकू मन करी की।
रहिहों अडोल एक आसन अचल अंग, सहिहौं परिषह शीत घाम मेघ घझरी की।

सारंग समाज खाज कब धौं खुजै हैं आनि, ध्यान दल जोर जीतूं सेना मोह अरी की।
एकल बिहारी यथाजात लिंगधारी कब होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हो वा घरी की।

जैन शतक १७

और सुनो! यह मत समझना कि यह आवेग गृहस्थों में ही होता है, साधु में नहीं होता है। साधु भी दीक्षा लेने के बाद यदि वैराग्य में स्थिर नहीं रहता है तो वह भी ध्यान का पात्र नहीं होता है। जिसे मान बढ़ाई की चाह है और जो लोगों से घिरे रहने में अपने को धन्य समझता है, गृहस्थों की चाह में और उनसे मनोरंजन करने वाला साधु भी ध्यान का अपात्र है। इसलिए हे गृहस्थ ! तुम विरक्त होकर ऐसे ही स्थान और संघ में रहना जहाँ चित्त की निर्विकल्पता बने। मन की साधना हो और धर्म ध्यान होता रहे । इस पंचम काल में एकान्त वास में रहने वाले साधुओं को खोजना। जो हितकारी उपदेश देकर गृहस्थों को मोक्षमार्ग पर लगाने की करुणा रखते हुए भी अपने मन में आवेग न रखकर संवेग भाव रखते हैं। जिन्हें धर्म कथा में ही आनन्द आता हो और विकथा में अरुचि धारण करते हैं उन साधुओं का सद्भाव आज भी है। आवेग में आकर यह नहीं कहना कि पंचम काल में ऐसे साधु नहीं होते हैं । संवेग भाव धारण कर ज्ञान नेत्रों से देखोगे तो अपरिग्रही, द्वन्द्वफन्द से दूर, अपने आत्म हित की इच्छा करने वाले साधुजनों का दर्शन भी होगा लेकिन निन्दा दृष्टि या छिद्रान्वेषी दृष्टि से सभी में दोष देखने की ही गलती मत करना। थोड़ा गुणवान स्वयं बनो तुम्हें गुणग्रहिता आने लगेगी।

आवेग, उद्वेग और उत्सुकता में इच्छा की तीव्रता का अन्तर है। आवेग से उद्वेग में मन की इच्छा की तीव्रता कम है और उद्वेग से उत्सेक में तीव्रता और कम है। बाहरी कार्यों में उलझने की उत्सुकता से भी संवेग भाव मर जाता है और ध्यान की परिणति नहीं बनती है। इसलिए इन विभावों को छोड़कर संवेग भाव का अभ्यास करो। इसी से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तप ही सुखद है–

जेण तवेण विणस्सदि देहप्पजणिद-विब्भमं महल्लं।
सो चेव तवो भणिदो चदुग्गदि-णिवारणे य खमो॥७॥

जो अनादि से मोहजनित है भ्रम तन में ही आतम का
वो अनादि भ्रम विगलित होवे रूप दिखे परमातम का।

वह तप से ही होता देखा चतु गति भ्रमण मिटा देना
तपोभावना निरत मनीषी सुखदुख सेफिरक्यालेना?॥७॥

अन्वयार्थ : [देहप्पजणिद-विब्भमं] देह और आत्मा से उत्पन्न **[महल्लं]** महान विभ्रम **[जेण तवेण]** जिस तप से **[विणस्सदि]** विनष्ट होता है **[सो]** वह **[चेव]** ही **[तवो]** तप **[भणिदो]** कहा गया है जो **[चदुग्गदिणिवारणे]** चार गति के निवारण में **[य खमो]** समर्थ है।

भावार्थ : वह तप ही महान है जो देह और आत्मा के विभ्रम को दूर कर दे। यह जो अनादिकालीन भ्रम है वह तप से ही दूर होता है। यदि एक बार यह भ्रम दूर हो जाता है तो चारों गतियों का दुःख दूर हो जाएगा। इसलिए आत्मा को सच्चा सुख देने वाला यह तप ही है।

पुनः तप की स्तुति करते हुए कहते हैं–

तवस्स कजं किल पावहाणी
अज्झप्प-कजं चिरमोहहाणी।
दोण्हं वि जोगेण सहावलद्धी
समासदो भण्णदि आदसुद्धी॥ ८॥

तप तपने का मुख्य कार्य है पाप हानि अठविध विधि की
आत्म भावना देती सबको मोह हानि फिर चिर अघ की।
तपो भावना ज्ञान भावना दोनों का संयोग बने
आत्मशुद्धिहोनिज स्वभावकी उपलब्धि का योगबने॥८॥

अन्वयार्थ : [तवस्स] तप का **[कज]** कार्य **[किल]** वास्तव में **[पावहाणी]** पाप की हानि है **[अज्झप्पकजं]** अध्यात्म का कार्य **[चिरमोह-हाणी]** चिरकालीन मोह की हानि है। **[दोण्हं वि]** दोनों के **[जोगेण]** संयोग से **[सहावलद्धी]** स्वभाव की प्राप्ति होती है **[समासदो]** संक्षेप से **[आदसुद्धी]** आत्मा की शुद्धि **[भण्णदि]** ऐसी कही है।

भावार्थ : तप का कार्य मुख्य रूप से पाप का नाश होना है। पाप का क्षय तप का कार्य है। अध्यात्म के योग से चिरकाल से लगे हुए मोह का विनाश करना है। यह अध्यात्म योग ही वस्तुतः अन्तरंग तप है। इस तरह बाह्य तप और अन्तरंग तप के संयोग से ही स्वभाव की उपलब्धि होती है। स्वभाव अर्थात् आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि होना ही आत्म शुद्धि है । तप के विषय में यह बात संक्षेप से कही है।

7. पासुग–परिच्चागदा

प्रासुक परित्याग क्या है ?

तित्थयर-दिव्ववाणी अणंतसंसार समदद-सोसकरी।
तित्थयराणं दाणं पासुअ परिच्चागदा णाम॥१॥

दान मिला है महाजनों से तीर्थंकर का ज्ञान मिला
इस अपार संसार सुखाने जिन-वाणी रस पान पिला।
दिव्य पुरुष के दिव्य वचन ही दिव्य दान हैं ग्रहण करो
परपीड़-हिंसा बिनप्रासुक-त्यागवचनका श्रवणकरो॥१॥

अन्वयार्थ : [तित्थयर-दिव्ववाणी] तीर्थंकरों की दिव्यवाणी **[अणंत-संसार-समुद्द-सोसकरी]** अनन्त संसार समुद्र को सुखाने वाली है **[तित्थयराणं]** तीर्थंकरों का **[दाणं]** दान **[पासुउपरिच्चागदाणाम]** प्रासुक परित्याग नाम से कहा है।

भावार्थ : प्रासुक रत्नत्रय धर्म है। परित्याग का अर्थ प्रदान करना है। तीर्थंकर देव अपनी दिव्यध्वनि से जगत् के लिए रत्नत्रय धर्म का उपदेश देते हैं। यह उपदेश ही प्रासुक परित्याग है। यह परित्याग उनकी दिव्यवाणी के द्वारा होता है। उनके दिव्य उपदेश अनन्त संसार समुद्र को सोख लेते हैं इसलिए मुख्य रूप से प्रासुक परित्याग करने वाले तीर्थंकर प्रभु ही हैं। उन तीर्थंकरों के दिव्यदान को आत्मसात् करने की भावना प्रासुक परित्याग भावना है।

और कौन प्रासुक परित्यागी हो सकता है ?

जो पासुअं हि भुंजदि पासुगमग्गेण चरदि सावेक्खं।
तस्साहुस्स य वयणं पासुग-परिच्चागदा णाम॥२॥

जो साधु प्रासुक खाता है जिह्वा वश में रखता है
जो प्रासुक पथ पर चलता है दया हृदय में रखता है।
उस साधु के वचनामृत ही मोह महा विष शमन करें
ज्ञानामृत देने वाला ही प्रासुक त्यागी नमन करें॥२॥

अन्वयार्थ : [जो] जो साधु **[पासुअं]** प्रासुक भोजन **[हि]** ही **[भुंजदि]** खाता है **[पासुग-मग्गेण]** प्रासुक मार्ग से **[सावेक्खं]** अपेक्षा सहित होकर **[चरदि]** चलता है **[तस्साहुस्स]** उस साधु के **[वयणं य]** वचन **[पासुग-परिच्चागदा णाम]** प्रासुक परित्याग नाम से हैं।

भावार्थ : तीर्थंकर देव के अतिरिक्त साधु परमेष्ठी भी प्रासुक परित्यागी होते हैं। जिसमें से प्राण निकल गए हो ऐसा जीव रहित भोजन प्रासुक कहलाता है। एकेन्द्रिय जीवों से रहित प्रासुक भोजन को खाने वाले साधु ही नियम से प्रासुकभोजी हैं । साधु प्रासुक मार्ग से गमन करते हैं। वह गमन भी सापेक्ष होता है। सापेक्ष का अर्थ है किसी प्रयोजन की अपेक्षा । बिना वजह टहलना, घूमना साधु का निर्दोष गमन नहीं कहा जाता है। साधु देव वन्दना, विहार करना आदि निमित्तों से ही गमन करते हैं। ऐसे साधु के वचन प्रासुक परित्याग नाम पाते हैं। इन वचनों को प्रदान करने की भावना प्रासुक परित्याग भावना है।

इस त्याग भावना का नाम श्री षट्खंडागम सूत्र ग्रन्थ में 'साहुणं पासुअपरिचागदाए' आता है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य श्री वीरसेन स्वामी श्रीधवला ग्रन्थ में कहते हैं

साधुओं के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्य ज्ञान-दर्शन आदि के त्याग से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों के जो साधक हैं, वे साधु कहलाते हैं। जिससे आस्रव दूर हो गये हैं उसका नाम प्रासुक है । अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है । वे क्या हैं ? वे ज्ञान, दर्शन, व चारित्रादिक ही हैं। उनके परित्याग अर्थात् विसर्जन करने को प्रासुक परित्याग और इसके भाव को प्रासुक परित्यागता कहते हैं । अर्थात् दयाबुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थ में सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टिवाद आदिक उपरिम श्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है। इसमें शेष कारणों की असम्भावना नहीं है, क्योंकि अरहन्त आदिकों में भक्ति से रहित नौ पदार्थ विषयक श्रद्धान से उन्मुक्त सातिचार शील, व्रतों से सहित और आवश्यकों की हीनता से संयुक्त होने पर निरवद्य ज्ञान, दर्शन व चारित्र का परित्याग विरोध होने से सम्भव ही नहीं है।

साधु भी इस भावना से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है

चाएसु महाचाओ दाणं रयणत्तयस्स धम्मस्स।
साहूणं तं कजं पासुगपरिच्चागदा णाम॥ ३॥

सभी त्याग में महा त्याग है, रत्नत्रय का त्याग कहा
रत्नत्रय ही आत्मधर्म है धर्मदान बड़भाग रहा।

बड़भागी जो साधु बना है उसका ही यह कार्य रहा
प्रासुक का वह ही परित्यागी श्रमण बना है आर्य महा॥३॥

अन्वयार्थ : [चाएसु] सभी त्यागों में [महाचाओ] महात्याग [रयणत्तयस्स धम्मस्स] रत्नत्रय धर्म का [दाणं] दान है [साहूणं] साधुओं का [तं] वह [कज्जं] कार्य [पासुग-परिच्चागदा णाम] प्रासुक परित्याग नाम से है।

भावार्थ : रत्नत्रय धर्म का दान साधु का कार्य है। उपदेश से रत्नत्रय धर्म प्रदान करना सभी त्यागों में महान् त्याग है। रत्नत्रय का उपदेश देना ही बड़ा दान है। सभी प्रकार के दान में यह दान सबसे महान् है। इस दान को करने वाले साधु को प्रासुक परित्यागी कहा जाता है । इस प्रकार का दान करने से साधु भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते

आचार्य अकलंक देव कहते हैं कि- **'परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः'** अर्थात् पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान देने से उस भव का दुःख छूटता है अतः पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञान दान तो अनेक हजार भवों के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला है। ये तीनों दान विधिपूर्वक दिए गए त्याग कहलाते हैं।

कौन सा उपदेश प्रासुक परित्याग है–

हे यादेयवबोहो जम्मि दयासंजमस्स वक्खाणं।
उवदेसो सो भणिओ पासुगपरिच्चागदा णाम॥४॥

वह उपदेश ही प्रासुक माना जिसमें जीव दया का ज्ञान
संयम पथ पर बढ़ने की रुचि बढ़ता जाए सम्यग् ज्ञान।
हेय रहा क्या उपादेय क्या यह विवेक विज्ञान बने
भेदज्ञान भी बढ़ता जाए शिवपथ का सम्मान बने॥४॥

अन्वयार्थ : [जम्मि] जिस उपदेश में **[हेयादेयवबोहो]** हेय, उपादेय का ज्ञान हो और **[दयासंजमस्स]** दया, संयम का **[वक्खाणं]** व्याख्यान हो **[सो]** वह **[भणिओ]** कहा हुआ **[उवदेसो]** उपदेश **[पासुग-परिच्चागदा णाम]** प्रासुक परित्याग के नाम से है।

भावार्थ : साधु के उपदेश में जो आवश्यक बातें होनी चाहिए वह इस प्रकार हैं। सबसे पहला हेय, उपादेय का ज्ञान। क्या त्यागने योग्य है, क्या ग्रहण करने योग्य है ? यही हेय, उपादेय का ज्ञान है। अथवा क्या आत्मा के लिए हितकर और क्या अहितकर है ? इस प्रकार का ज्ञान भी हेय, उपादेय का ज्ञान है ।

साधु के उपदेश से श्रोता को करणीय और अकरणीय कार्यों का भेदज्ञान होना चाहिए। दूसरा आवश्यक तथ्य यह है कि उपदेश में दया और संयम का व्याख्यान हो। श्रोता को दया भावना उत्पन्न होने से संयम भाव उत्पन्न होगा, जो सम्यक् चारित्र की ओर प्रेरित करता है। इस तरह उपदेश से समीचीन ज्ञान होना और समीचीन आचरण होना ही रत्नत्रय का दान है। इस तरह का उपदेश प्रासुक परित्याग नाम पाता है।

और कैसा उपदेश प्रासुक परित्याग नहीं है ?

वैरग्गसम्मरहिदं हासप्पमुहं पलोहणं चेव।
वयणं विज्जदि जस्स य अप्पासुगच्चागदा णाम॥५॥

जिस धर्मोपदेश में ना हो सम्यग्दर्शन अरु वैराग्य
जिसमें फूहड़ हास्यपना हो, लोग लुभाना समझे भाग्य।
वह उपदेशक प्रासुक त्यागी नहीं कहा है जिनमत में
तीर्थंकर पद बन्ध प्रबन्धन भाव नहीं उस आतम में॥५॥

अन्वयार्थ : [वैरग्गसम्मरहिदं] वैराग्य और सम्यक्त्व से रहित **[हासप्पमुहं]** हास्य की प्रमुखता **[चेव]** और निश्चित ही **[पलोहणं]** प्रलोभन **[जस्स य]** जिसके **[वयणं]** वचनों में **[विज्जदि]** रहती है **[अप्पासुगच्चागदा णाम]** वह अप्रासुक का त्याग है।

भावार्थ : वही वचन प्रासुक परित्याग हैं जो वैराग्य और सम्यग्दर्शन से सहित हों। जिन व्याख्यानों में संसार, शरीर, भोगों से विरागता न हो और सम्यक्दर्शन का भाव न हो वह प्रासुक परित्याग वचन नहीं हैं। इसके साथ-साथ हास्य की मुख्यता वाले उपदेश और श्रोताओं को मात्र लुभावने के उद्देश्य से दिए जाने वाले उपदेश भी प्रासुक परित्याग नहीं है। इस प्रकार के उपदेश करने वाले और सुनने वालों में किसी को भी प्रासुक परित्याग नाम की भावना उत्पन्न नहीं होती है जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

और कौन सा दान प्रासुक परित्याग है ?

दाणं चउप्पयारं समणाणं सावगेहिं सत्तीए।
तं पासुअं हि देयं पासुग-परिच्चागदा णाम॥६॥

श्रावक को यह त्याग भावना यथाविधी फल देती है
उचित पात्र को दान चतुर्विध बीज सौख्य का बोती है।

श्रमण संघ को जो भी देना प्रासुक दो शक्ति अनुसार
प्रासुक परित्याग भावना फल देती निज भाव विचार॥६॥

अन्वयार्थ : [सावगेहिं] श्रावक के द्वारा **[सत्तीए]** शक्ति अनुसार **[समणाणं]** श्रमणों को **[चउप्पयारं]** चार प्रकार का **[तं]** वह **[दाणं]** दान **[पासुअं]** प्रासुक **[हि]** ही **[देयं]** देने योग्य है **[पासुग परिच्चागदाणाम]** यही प्रासुक परित्याग नाम की भावना है।

भावार्थ : श्रावक के लिए भी यह भावना कथंचित् हो सकती है। कारण में कार्य का उपचार करने से श्रावक को भी यह भावना का पुण्य बन्ध होता है। श्रावक अपनी शक्ति अनुसार श्रमणों के लिए चार प्रकार का दान देता है। वह दान रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए कारण बनता है। यह दान निर्दोष हो, प्रासुक हो तो ही श्रावक के लिए देने योग्य है । श्रावक श्रमण को प्रासुक का ही दान करे। प्रासुक दान करने से वह श्रावक भी कथंचित् इस भावना का लाभ प्राप्त करता है।

श्रावक के लिए तो आहार दान, औषध दान, उपकरण दान और आवास दान ये चार प्रकार के दान कहे हैं। इन दानों में प्रत्येक का महत्त्व बराबर है। चारों ही प्रकार के दान उत्तम पात्र आदि के लिए जब दिए जाते हैं तो उत्तम आदि फल देते हैं। उत्तम पात्र को दिया गया दान उत्तम भोगभूमि का पुण्य फल देता है। उत्तम भोगभूमि उत्कृष्ट फल है। फल में यदि कमी रह जाती है तो विद्याधर मनुष्य भी बन सकता है। पुराण में कथानक आता है कि राजा सुमुख और वनमाला रानी ने एक बार वरधर्म नाम के मुनिराज को आहार दान दिया। आहार दान देकर दोनों ने विद्याधर युगल की आयु का बन्ध किया। तदनन्तर वज्रपात से दोनों मरकर विजयार्ध पर्वत पर जन्म लिए। उत्तम भोगभूमि का मनुष्य हो या विद्याधर मनुष्य ये सभी वही जीव बनते हैं जो मिथ्यादृष्टि होते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव दान के प्रभाव से देव बनता है। इसलिए यह मत समझना कि जो भी आहार दान करता है वह भोगभूमि में ही जन्म लेता है। केवल पात्र के अनुसार एकान्त रूप से फल नहीं मिलता है किन्तु दाता को अपनी योग्यतानुसार भी फल मिलता है। एक दाता उत्तम पात्र को दान देकर देवों में उत्पन्न होता है तो दूसरा दाता उसी उत्तम पात्र को दान देकर भोगभूमि का या विद्याधर मनुष्य बनता है। इसलिए अनेकान्त दर्शन में एकान्त अभिप्राय धारण नहीं करना। पात्र निमित्त है और दाता की अपनी योग्यता उपादान शक्ति है। निमित्त और उपादान दोनों की यथायोग्य योग्यता से ही कार्य होता है। उपादान की योग्यता के अनुसार ही निमित्त फल देते हैं । यदि दाता श्रावक सम्यग्दृष्टि होगा तो देव बनेगा और मिथ्यादृष्टि होगा तो मनुष्य बनेगा। इसी तरह मध्यम पात्र को दान देकर मिथ्यादृष्टि श्रावक मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्र को दान देकर जघन्य भोगभूमि का फल पाता है। कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है और अपात्र को दिया गया दान व्यर्थ होता है। संयमासंयम को धारण करने वाले श्रावक मध्यम पात्र हैं। अविरति सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जघन्य पात्र हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और

मिथ्याचारित्र के धारक जीव कुपात्र कहलाते हैं। जो स्थूल हिंसा आदि से भी दूर नहीं हैं उन्हें अपात्र कहते हैं।

हे श्रावक! प्रत्येक दान का महत्त्व अपार है। जहाँ औषध दान की आवश्यकता है वहाँ आहार दान का क्या महत्त्व है ? यदि औषध दान का महान् फल नहीं होता तो श्रीकृष्ण औषध दान देकर तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य बन्ध कैसे कर लेते ? इसी तरह उपकरण, शास्त्र और अभय दान के विषय में जानना।

हे श्रावक ! तुम्हारे लिए तो आचार्यों ने इन चार दानों को देने के लिए ही कहा है। आज-कल कुछ श्रावक इन दानों को महत्त्वहीन बताकर 'ज्ञानदान' की चर्चा करते हैं। ऐसे श्रावक मुनिधर्म को विनाश करने पर तुले हैं, ऐसा समझना। ज्ञान दान देना, श्रावक का नहीं मुनिराज का दान है। ज्ञानदान आत्मा को दान देना है और आहार आदि दान शरीर को देना है, इस प्रकार के धर्म विरुद्ध, कुतर्क करने वाले, मुनिमार्ग विरोधी श्रावक से सावधान रहो, दूर रहो।

किस साधु के वचन प्रासुक परित्याग है ?

साहुस्स जस्स णथि हिंसा-कालुस्स-मोह-मच्छरियं।
तव्वयणंखलु भणिदं पासुग-परिच्चागदाणाम॥७॥

जिसके मन में नहीं निवसती हिंसा और मोह की खान
नहीं रहे मात्सर्य भाव भी नहीं कलुषता औ अज्ञान।
उस साधु के वचन कहे हैं ज्ञान दान शिव का आधार
वही रहा प्रासुक परित्यागी पर निरपेक्ष दया आधार॥७॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस **[साहुस्स]** साधु के पास **[हिंसा-कालुस्स-मोह-मच्छरियं]** हिंसा, कालुष्य, मोह और मात्सर्य **[णत्थि]** नहीं होता है **[तव्वयणं]** उनके वचन **[खलु]** निश्चित ही **[पासुग परिच्चागदा णाम]** प्रासुक परित्याग के नाम से **[भणिदं]** कहे हैं।

भावार्थ : जिस साधु के चित्त में हिंसा का भाव नहीं आता है। कृत, कारित, अनुमोदना से जो हिंसा से दूर है। द्रव्य हिंसा का अभाव होने से पाप बन्ध से जो मुक्त है। साथ ही भाव हिंसा की परिणति से जो रहित है। कालुष्य, मोह और मात्सर्य ये भाव हिंसा की परिणति हैं। कलुषता से रहित, मोह भाव से रहित और मात्सर्य अर्थात् ईर्ष्या से जो रहित है उसका चित्त निर्मल है। उस साधु के उपयोग की परिणति विशुद्ध रहती है। ऐसे साधु के थोड़े से वचन, किसी भी प्रकार का उपदेश कल्याणप्रद है। ऐसे साधु के मुख से निकला कोई भी वचन प्रासुक परित्याग नाम पाता है।

इस भावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं

एसो दु धम्मो समणस्स मुक्खो
गोणेण पालेदि गिहत्थ-धम्मी।
ममत्त-मोहस्स-विणासणटुं
दाणं सुदेयं खलु गेण्हिदव्वं॥८॥

ज्ञान दान का मुख्य धर्म तो श्रमणराज के योग्य कहा
पर गृहस्थ भी इसी धर्म को गौण रूप से पाल रहा।
दान-त्याग का मुख्य प्रयोजन ममता मोह विनाशन है
पात्र और दाता का संगम धर्म विवर्धन कारण है॥८॥

अन्वयार्थ : [एसो दु धम्मो] यह धर्म तो **[समणस्स]** श्रमण का **[मुक्खो]** मुख्य है **[गिहत्थधम्मी]** गृहस्थ धर्म को पालन करने वाला **[गोणेण]** गौण रूप से **[पालेदि]** पालता है **[ममत्त-मोहस्स]** ममत्व और मोह का **[विणासण8]** विनाश करने के लिए **[दाणं]** दान **[सुदेयं]** अच्छी तरह से देना चाहिए **[खलु]** तथा निश्चय से **[गेण्हिदव्वं]** ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ : प्रासुक परित्याग नाम की यह भावना और प्रासुक परित्याग रूप धर्म श्रमणों का मुख्य है। गृहस्थ धर्म को पालने वाला इसका पालन गौण रूप से करता है। यह दान मोह, ममता का नाश करने के लिए किया जाता है तथा इस दान को ग्रहण करने का प्रयोजन भी मोह, ममता का नाश करना है। मुनिराज का उपदेश देना भी मोह रहित होता है। अपने उपदेश से भी मुनिराज ममता नहीं करते हैं। किसी व्यामोह से, किसी राग से किसी के प्रति द्वेष से उपदेश नहीं देना मोह रहित उपदेश है। उस उपदेश को किसी माध्यम से बार-बार सुनना या सुनाना या उसके लिए 'मेरा उपदेश कितना अच्छा था।' ऐसा ममता भाव रखने का अभाव ममता रहित उपदेश है।

इसी तरह श्रावक के द्वारा जो दिया गया दान है, उसे रत्नत्रय का पालन करने में, ध्यान-स्वाध्याय करने के उद्देश्य से ग्रहण करना मोह-ममता रहित दान ग्रहण है। श्रावक भी दान देकर यह सोचता है कि मैं 'मोह-ममता के बन्ध से बच गया। तो उसका वह दान भी सम्यक्दान है। इस प्रकार देने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों ही आत्मा के लिए यह प्रासुक परित्याग की भावना है।

श्रमण का मुख्य धर्म रत्नत्रय का उपदेश देकर ज्ञानदान देना है। श्रावक का मुख्य धर्म चार प्रकार का दान देना है। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि–

गृहस्थ का मुख्य धर्म क्या है?

गृहस्थ का धर्म शुभोपयोग है या शुद्धोपयोग है? इस जिज्ञासा का स्पष्टीकरण परमात्मप्रकाश की टीका में पृ. २५१ पर इस तरह है- 'शुद्धोपयोग रूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडवश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु।' हे भव्यजीव! निश्चय धर्म शुद्धोपयोग रूप है। यति के लिए वह निश्चय धर्म और षडावश्यक आदि लक्षण वाला व्यवहार धर्म है। यति उन निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मों में रति करे। किन्तु गृहस्थ की अपेक्षा दान, पूजा आदि लक्षण वाला शुभोपयोग रूप धर्म है। गृहस्थ! उस शुभोपयोग में रति करो। उस गृहस्थ के लिए शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म नहीं है। इसी परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के पृ. २३२ पर उल्लेख है कि- 'निरन्तर विषयकषायाधीनतया आर्तरौद्र ध्यान रतानां निश्चय रत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति।'

अर्थात्- निरन्तर विषयकषाय के अधीन रहने से आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान में पड़े हुए गृहस्थों को निश्चय रत्नत्रय लक्षण वाले शुद्धोपयोग रूप परम धर्म का अवकाश(स्थान, ठिकाना) नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग का लक्षण निश्चय रत्नत्रय है। निश्चय रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय एकार्थक हैं। गृहस्थों को यह अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ के लिए वह अभेद रत्नत्रय सदैव उपादेय है। अभेद रत्नत्रय को लक्ष्य बनाकर वह व्रती गृहस्थ भेद रत्नत्रय की ही सेवा करता है। पृ. २५० पर देखें- 'गृहस्थेनाभेदरत्नत्रय स्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद रत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः।' यहाँ उपादेय करने के लिए कहा है। उपादेय का अर्थ है- ग्रहण करने योग्य, प्राप्तव्य या साध्य स्वरूप। जैसे कि अन्तरात्मा के लिए परमात्मा उपादेय है किन्तु वह अन्तरात्मा तब तक अन्तरात्मा ही रहता है जब तक कि वह परमात्मा न बन जाये। गृहस्थ के लिए उस अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करने की स्थिति तब तक नहीं बनती है जब तक कि वह गृहस्थ रहता है। इसी पंक्ति के आगे लिखा है कि- 'यतिना तु निश्चय रत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्ट तपश्चरणं कर्तव्यम्।' अर्थात्- यति को निश्चय रत्नत्रय में स्थित होकर व्यवहार रत्नत्रय के बल से विशिष्ट तपश्चरण करना चाहिए।

स्वयं अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार ग्रन्थराज की टीका में यही भाव चारित्र चूलिका की ५४वीं गाथा की टीका में प्रकट किए हैं। गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म प्रकाशस्याभावात्.....' अर्थात्- गृहस्थों के सकल विरति का अभाव होने से शुद्धात्मा के प्रकाश(शुद्धोपयोग) का अभाव है। आचार्य जयसेन की इसी गाथा टीका की पंक्ति तो परमात्मप्रकाश की इस टीका से अत्यधिक साम्य रखती है। उनके शब्दों में'विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्त्त-रौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित निश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति।' गृहस्थों के आत्माश्रित उस निश्चय धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। इतनी स्पष्ट उद्घोषणा होने के बाद प्रवचनसार की जो हिन्दी टीका में पं. हेमराज ने लीपापोती की है वह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है

किन्तु इतनी चेतावनी देना आवश्यक है कि पं. हेमराज का हिन्दी अनुवाद अनेक जगह एकान्त आग्रह को पुष्ट करने वाला और आचार्य अमृतचन्द्र जी की संस्कृत टीका के अनुरूप नहीं है। इसीलिए प्रवचनसार की हिन्दी मात्र पढ़ने वाले सावधान रहें। हिन्दी अनुवाद में तो त्रुटि परमात्मप्रकाश की टीका के इसी विषय में भी है, वह कैसे हो गई? या कैसे की गई? इसे सर्वज्ञ देव ही जानें। पृ. २३२ पर अर्थात् गृहस्थों के शुद्धोपयोग की ही मुख्यता है। यह वाक्य पूर्णतः अशुद्ध है। यहाँ 'शुद्धोपयोग' की जगह 'शुभोपयोग' होना चाहिए।

गृहस्थ का जो मुख्य धर्म है वह अध्यात्म ग्रन्थ के अध्येताओं के लिए पुण्य बन्ध का कारण मात्र होकर रह गया है। उस पुण्य बन्ध को संसार का कारण दिखाकर भोले श्रावक को गृहस्थ धर्म से भी वंचित रहने का उपदेश दिया जा रहा है। इसी परमात्मप्रकाश की टीका में पृ. २३१ पर लिखते हैं कि- 'गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते।' अर्थात्- गृहस्थों का परम धर्म आहार दान आदि है । इसी आहार दान आदि से सम्यक्त्व पूर्वक वह गृहस्थ परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। इसी तरह पृ. २४९ पर लिखा है कि जिस गृहस्थ ने दान, शील, पूजा, उपवास आदि रूप धर्म को सम्यग्दर्शन के साथ नहीं किया तो उसको मरकर नरक में गिरना पड़ेगा।

गृहस्थों का मन कषाय और इन्द्रियों से निरन्तर क्षुब्ध रहता है । इसी कारण गृहस्थों की मनःशुद्धि नहीं होती है। मनःशुद्धि के अभाव में तपोधन, मुनि की तरह शुद्धात्म भावना करने में समर्थ नहीं हैं। इसी ग्रन्थ के पृ. २६० पर यह भाव है- 'कषायेन्द्रियैः व्याकुलिक्रियते मनः, मनः शुद्ध्यभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति।

आजकल कुछ अध्यात्मप्रेमियों के द्वारा यह कहा जाने लगा है कि आहार दान नहीं देना चाहिए। आहार तो शरीर का धर्म है । आहार दान से कोई धर्म नहीं होता है । आत्मा का भोजन तो ज्ञान है। इसलिए सबसे बड़ा दान ज्ञानदान है। आत्मा का ज्ञान का उपदेश ही मुख्य दान है। इस तरह आहार दान का निषेध करके पंचम काल से मुनि का अभाव करने का जिनका उद्देश्य है उन बन्धुओं की मुनि के प्रति कितनी तीव्रतम कषाय है, यह करणानुयोग के ग्रन्थ पढ़कर समझ लेनी चाहिए और इस कषाय का फल क्या होगा, यह परिणाम प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को पढ़कर ही समझ आ सकता है।

श्री परमात्मप्रकाश की टीका में पृ. २३० पर लिखा है कि–

'आहार दानं येन दत्तं तेन शुद्धात्मानुभूतिसाधकं बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं द्वादशविधं तपश्चरणं दत्तं भवति। शुद्धात्माभावनालक्षणसंयमसाधकस्य देहस्यापि स्थितिः कृता भवति। शुद्धात्मोपलंभप्राप्तिरूपाभवान्तरगतिरपि दत्ता भवति।' अर्थात्- जिस गृहस्थ ने यति को आहार दान दिया उस गृहस्थ ने शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक, बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का तप

ही दे दिया। शुद्धात्मा की भावना जिस संयम के साथ होती है उस संयम की साधक उस श्रमण की देह है। गृहस्थ ने आहार दान देकर मानो उस श्रमण की देह की स्थिति बना दी, उस देह की रक्षा कर दी। जिस गृहस्थ ने आहार दान दिया उसने शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष दे दिया। क्योंकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है, मुनिव्रत का साधन शरीर है और शरीर का साधन आहार है। ऐसे आहार दान आदि चार प्रकार का दान भक्तिपूर्वक वह निर्ग्रन्थ श्रमणों को प्रदान करता है।

यह प्रकरण आचार्य अमृतचन्द्र जी की प्रवचनसार की टीका के अनुरूप है । चारित्र चूलिका की ५४वीं गाथा की टीका में कहा है कि 'गृहस्थ को तो महाविरति का तो अभाव है इसलिए उसे शुद्धात्मा की अनुभूति का भी अभाव है । वैयावृत्ति रूप यह शुभ राग गृहस्थ का शुभोपयोग है । इस शुभोपयोग राग के संयोग से गृहस्थ को भले ही वर्तमान में शुद्धात्मा का अनुभव नहीं है किन्तु यह शुभोपयोग ही परम्परा से मोक्ष का कारण है।' शुद्धोपयोगी मुनि को आहार दान, वैयावृत्ति आदि के माध्यम से वह गृहस्थ शुद्धोपयोग को परम्परा से प्राप्त करता है जैसे स्फटिक मणि के सम्बन्ध से ईंधन में सूर्य से आग परम्परा कर प्रकट होती है।

यदि गृहस्थ है तो अपने पास धन अवश्य रखता है। वह गृहस्थ धन के प्रति तृष्णा तभी कम कर सकता है जब वह चार प्रकार का दान करे। परमात्मप्रकाश की टीका में पृ. २४९ पर कहते हैं कि- 'गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या। तर्हि किं कर्तव्यम्? भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यम्।' अर्थात् गृहस्थ को धन में तृष्णा नहीं करनी चाहिए। तो फिर क्या करना चाहिए? भेद-अभेद रत्नत्रय के आराधक श्रमणों को सब तरह से आहार आदि चार प्रकार का दान देना चाहिए। यदि दान नहीं देखें तो वह गृहस्थ क्या करे? यह भी दिखाते हैं- 'नो चेत् सर्वसंग परित्यागं कृत्वा निर्विकल्प समाधौ स्थातव्यम्।' यदि दान नहीं देता है तो सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करके निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि निर्विकल्प समाधि में वही स्थित हो सकता है जिसका सर्व परिग्रह का त्याग हो और परिग्रह का त्याग यति के ही होता है। इसलिए गृहस्थ यदि धन रखना चाहता है तो वह धन का दान करे, नहीं तो धन का त्याग करके मुनि बन जाए। यह गृहस्थ का धर्म अध्यात्म ग्रन्थों में भी कहा है तो अन्य की क्या बात?

8. हुसमाहिभावणा

साधु समाधि किसे कहते हैं–

जा खलु चित्तवसोही किलेसरहिदप्पणो दु परिणामो।
झायदि धम्म सुक्कं साहुसमाहिभावणा होदि॥१॥

जिसके चित्त विशुद्धि रहती क्लेश रहित जीवन जीता
धर्मध्यान औ शुक्लध्यान से आतम अनुभव रस पीता।
आतम में ये भाव निराले विरले जन में हैं मिलते
साधुसमाधिभावना वाले मुनियोंकेमन-मुख खिलते॥१॥

अन्वयार्थ : [जा] जो **[खलु]** निश्चित ही **[चित्तविसोही]** चित्त की विशुद्धि है **[किलेस रहिदप्पणो]** क्लेश रहित आत्मा का **[दु]** जो **[परिणामो]** परिणाम है **[धम्मं]** वह धर्म और **[सुक्कं]** शुक्लध्यान को **[झायदि]** ध्याता है **[साहु-समाहि भावणा]** वह साधु समाधि की भावना **[होदि]** होती है।

धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्याने वाला ध्याता ही साधु साधु-समाधि की भावना करता है। ऐसा ध्यान वही कर सकता है जिसकी चित्त की विशुद्धि है। जिस आत्मा का परिणाम संक्लेश रहित होता है वही धर्म ध्यान का अधिकारी है। समाधि का अर्थ है चित्त का समाधान। चित्त में किसी भी प्रकार की समस्या या उलझन नहीं होना ही चित्त का ध्यान योग्य होना है।

श्री षट्खंडागम सूत्र ग्रन्थ में इस भावना का नाम है- '**साहुणं समाहिसंधारणदाए**'- अर्थात् साधुओं की समाधि संधारणता से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। इसकी व्याख्या में आचार्य श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं- कि दर्शन, ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है। सम्यक् प्रकार से धारण या साधन का नाम संधारण है। समाधि का संधारण समाधि संधारण है और उसके भाव का नाम समाधि संधारणता है। उससे तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। किसी भी कारण से गिरती हुई समाधि को देखकर सम्यग्दृष्टि, प्रवचन वत्सल, प्रवचन प्रभावक, विनय सम्पन्न, शीलव्रतातिचार वर्जित और अरहंतादिकों में भक्तिमान् होकर चूँकि उसे धारण करता है इसीलिए वह समाधि संधारण है।

आचार्य अकलंक देव कहते हैं कि- जैसे भण्डार में आग लगने पर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है उसी तरह अनेक व्रतशीलों से समृद्ध मुनिगण के तप आदि में यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उसका निवारण करना साधु समाधि है।

स्वाश्रित साधु समाधि क्या है ?

अपमत्ता जा चरिया मणवयणकायजोगजुत्ताणं।
साहूणं सा भणिदा साहुसमाहिभावणा होदि॥२॥

मनो योग और वचन योग से काय योग से सहित हुआ
तीनों योग सहित श्रमणों का सावधान उपयोग हुआ।
योग और उपयोग बने जब निश्चल एक लक्ष्य संधान
ऐसा साधू सतत भा रहा साधु समाधि भावना जान॥२॥

अन्वयार्थ : [मण-वयण-काय-जोग-जुत्ताणं] मन, वचन, काय योग से अच्छी तरह युक्त रहने वाले **[साहूणं]** साधुओं की **[जा]** जो **[अपमत्ता]** अप्रमत्त **[चरिया]** चर्या **[भणिदा]** कही है **[सा]** वह **[साहु समाहिभावणा]** साधु समाधि की भावना **[होदि]** होती है।

भावार्थ : जो साधु अपने मन, वचन, काय को संभालते हुए अप्रमत्त रहते हैं उनकी चर्या/प्रवृत्ति अप्रमत्त कहलाती है। अप्रमत्त का अर्थ है सावधान । भीतर की कषाय का उद्रेक न होना अन्तरङ्ग की सावधानी है। बाहर से मन, वचन, काय की चेष्टाएँ संयत होना बाह्य सावधानी है । मन से, वचन से, काय से पाप प्रवृत्ति न होना ही अप्रमत्तता है। जो साधु अपनी आत्मा को पाप प्रवृत्ति से सावधान होकर दूर रखते हैं वह सदैव साधु समाधि भावना में तत्पर रहते हैं। यह भावना स्वयं अपने लिए है। स्वयं अप्रमत्त रहना अपनी आत्मा की समाधि में रहना है। इस से तीर्थंकर प्रकृति का पुण्यबंध होता है।

हे आत्मन्! अपने मन को सावधान रखने के लिए इष्टोपदेश, समाधितन्त्र और ज्ञानार्णव इन ग्रन्थों की कुछ न कुछ पदावली का प्रतिदिन स्मरण करो, पाठ करो। यह ग्रन्थ मन को विशुद्ध बनाए रखने के लिए अद्भुत औषधि हैं। जब भी कभी ऐसी कलुषता उत्पन्न हो जिससे धर्मध्यान में मन न लगे तो इन आचार्यों की बातें याद करो। इन आचार्यों की वाणी अनुभवपूर्ण है। आचार्य पूज्यपाद और शुभचन्द्र जी ने जो ग्रन्थों में वर्णन किया है, वह मात्र परम्परागत वर्णन नहीं है, उसमें जीवन के जीवन्त बहुमूल्य अनुभव हैं।

आचार्य पूज्यपाद देव भी कहते हैं कि तपस्वी को भी मोह के कारण राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। उन रागद्वेष को दूर करने के लिए तत्क्षण साम्य भावना करें और उन तरंगों को शान्त कर लें।

हे साधक! भयभीत मत होओ। यह भी नहीं विचारना इस तरह के राग, द्वेष से गुणस्थान गिर जाता है या भाव लिंग छूट जाता है। आत्मा में एक समान विशुद्धि कभी नहीं रहती है। कितना ही नोकर्म से दूर रहो, पर सम्पर्क से दूर रहो तो भी सदैव एक समान विशुद्धि और उत्साह नहीं बना रहता है क्योंकि

कर्मोदय का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। साधक वही होता है जो इन कर्मोदय को बहुत शीघ्रअपने चिन्तन से परिवर्तित कर देता है। जो इस तरह अभ्यास करता है वही स्वस्थ रहता है। स्व में स्थित रहना ही स्वास्थ्य है। जिसका मन स्वस्थ है उसका तन भी स्वस्थ रहता है। जिसके मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ उसको अपमान-सम्मान की भावना उत्पन्न हुई। जिसका मन राग, द्वेष से आहत नहीं होता है वह अपमान-सम्मान से परे रहता है।

हे साधक! तुम इस बात से परेशान मत होओ कि दूसरा तुम्हारे लिए क्या सोच रहा है ? तुम स्वयं इतने समर्थ बनो कि कोई चाह कर भी तुम्हें परेशान न कर सके। सदैव अपनी आत्म समाधि में लीन वही साधक होता है जो दूसरे से निर्विकल्प होता है । यह जिनलिंग पर की अपेक्षा नहीं रखता है। लिंगंण परावेक्खो' यह सूत्र साधु समाधि भावना को बलवती बनाता है।

पराश्रित साधु समाधि क्या है ?

जो चित्ते ण हि चिंतइ वक्कं बोल्लेदिण अप्पियं किंचि।
साधम्मि सुहं इच्छइ साहु समाहि भावणा तस्स॥३॥

किसी साधु के लिए कभी भी नहीं सोचता वक्र सदोष
नहीं कभी भी अप्रिय बोले वचन काय से मृदु निर्दोष।
छोटे-बड़े सभी सहधर्मी सबके सुख की चाह करे
उस साधककेहृदय कमल मेंसाधुसमाधि सुभाव भरे॥३॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[चित्ते]** चित्त में **[वक्वं]** वक्र **[चिंतइ]** चिन्तन **[ण हि]** नहीं करता है **[किंचि]** थोड़ा भी **[अप्पियं]** अप्रिय **[बोल्लेदि]** बोलता है **[साधम्मि]** सधर्मी का **[सुहं]** सुख **[इच्छइ]** चाहता है **[साहुसमाहिभावणा]** साधु समाधि की भावना **[तस्स]** उस साधु की होती है।

भावार्थ : अन्य साधु की समाधि बनी रहे अर्थात् उनके चित्त में संक्लेश न हो। जो अन्य साधु के लिए बुरा, उलटा चिन्तन नहीं करता है, जो थोड़ा भी अप्रिय नहीं बोलता है और यही चाहता है कि सधर्मी साधु सुख से रहे। अपनी मन, वचन, काय की चेष्टा वह इस तरह करता है कि सधर्मी को दुःख न हो। यही साधु समाधि भावना उस साधु की है।

साधु भी जब अन्य साधु के सुख की इच्छा नहीं करता है तो यह बड़ा आश्चर्य है । हे साधो ! दूसरे साधु को दुःख पहुँचाना उसकी रत्नत्रय युक्त आत्मा को पीड़ा पहुँचाना है। सामान्य जीव घात में जैसे हिंसा है उससे भी ज्यादा हिंसा साधु को दुःखी करने में है। यह भाव हिंसा अन्तरङ्ग की कषाय से ही होती है। अन्य

जीवों की द्रव्य हिंसा तो बिना कषाय के भी हो जाती है किन्तु भाव हिंसा कषाय भाव के साथ ही होती है। साधु के लिए द्रव्य हिंसा से बचने की अपेक्षा भाव हिंसा से बचने का उपक्रम अधिक करना चाहिए। जिनके लिए द्रव्य हिंसा का त्याग नहीं है, वह द्रव्य हिंसा से दूर होकर भाव हिंसा में कमी लाते हैं, किन्तु जिनके लिए द्रव्य हिंसा का पूर्णतः आजन्म त्याग है, उन साधु-साध्वियों को भाव हिंसा से बचने का ही अभ्यास करना चाहिए।

सहधर्मी साधु के यश को सहन न करने से यह भाव हिंसा बढ़ती है। ऐसे में अपने मन को अध्यात्म भावना से ओत-प्रोत करके मन के कालुष्य को धोना चाहिए । राजवार्तिक में नीच गोत्र के आस्रव के कारण में यही भाव बतलाए हैं । वहाँ लिखा है कि आत्म-उत्कर्ष और दूसरे के यश का घात करने की भावना से नीच गोत्र का आस्रव होता है । हे उच्चगोत्रीय साधक! अपने आपके उत्कर्ष की भावना होने पर ही दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं हो पाता है। दूसरे के यश को घात करने का विचार भी इसी आत्मोत्कर्ष की भावना से जन्मता है। इन दोनों भावों का जिस आत्मा में सद्भाव है, वह सधर्मी के साथ रह ही नहीं सकता है और इसी कारण दोनों साधु/साध्वी की भावना आहत होती है। इसी कारण से साधु समाधि भावना नहीं रह पाती है। उच्चगोत्रीय इस संयम की अवस्था को धारण करके नीचगोत्रीय भाव करना ऊपर की मंजिल पर पहुँचकर पुनः धरातल पर आने जैसा है। अतः पहले अपने मन को समझाओ, शान्त करो और फिर दूसरे के साथ व्यवहार करो। दोनों का चित्त प्रसन्न रहेगा और निर्विकल्प बनेगा, यही पराश्रित साधु समाधि भावना है।

हे साधक! मन में कलुषित विचार उत्पन्न होने में दूसरे को दोष मत दो। इसे अपनी साधना की कमी मानो। इसे अपनी चित्त की उदारता का अभाव मानो। चित्त में परहितकारी व्यापक सोच का अभाव होने से ही कलुषता उत्पन्न होती है। ऐसी कलुषता जब भी उत्पन्न हो तुरन्त उस साधक से प्रेमपूर्ण व्यवहार करो और उसके गुणों की प्रशंसा करके समाधान प्राप्त करो।

अब स्व-पराश्रित साधु समाधि भावना कहते हैं–

दुहिदो परावमाणे सग-पर-कल्लाणपरो जो साहू।
आदम्मि जस्स सद्धासाहु-समाहि-भावणा तस्स॥४॥

स्वयं दुखी जो हो जाता है देख दूसरों का अपमान
और देखना चाहे नित जो निज-पर का हितकर सम्मान।
आत्म रूप में रुचि रखता है करा रहा रुचि आतम में
साधुसमाधि भावना उसके प्रतिपल पलती आतम में॥४॥

अन्वयार्थ : [परावमाणे] पर का अपमान होने पर **[दुहिदो]** जो दुःखित होता है **[जो साहू]** और जो साधु **[सग-पर-कल्लाणपरो]** स्व-पर कल्याण में तत्पर रहता है तथा **[जस्स]** जिसकी **[सद्धा]** श्रद्धा **[आदम्मि]** आत्मा में रहती है **[तस्स]** उस साधु को **[साहु समाहि भावणा]** साधु-समाधि भावना होती है।

भावार्थ : जो साधु-समाधि की भावना में तत्पर रहता है वह दूसरों का अपमान देखने पर दुःखी हो जाता है। हृदय से वह साधु अन्य साधु का अपमान सहन नहीं कर पाता है । वह नहीं चाहता कि किसी को भी बुरा सुनना पड़े, या अपमानित होना पड़े। उस साधु की श्रद्धा आत्मा में सदा रहती है। अपनी आत्मा और परकीय आत्मा की भलाई में तत्पर रहने वाले उस साधु को सदैव साधु-समाधि भावना बनी रहती है।

अब मरण समय की साधु समाधि भावना दिखाते हैं–

मरणांतिगे समाहिं जो दट्ठुण पयदपरो खवगस्स।
णिच्चुवजुत्तो तम्हि साहुसमाहिधारगो सो हु॥५॥

अन्त समय में मरण समाधि धार रहा उत्साहित हो
क्षपक मोह क्षय करने वाला देख रहा उसका भी हो।
जो उसकी परिचर्या में नित तत्पर हो उपयोग लगा
साधु समाधि भावना धारक तीर्थंकर पद बन्ध पगा॥५॥

अन्वयार्थ : [खवगस्स] क्षपक की **[मरणांतिगे]** मारणान्तिक समय में **[समाहिं]** समाधि को **[जो]** जो साधु **[दट्ठुण]** देखकर **[पयदपरो]** प्रयत्नशील होता है **[तम्हि]** और उसमें **[णिच्चुवजुत्तो]** नित्य उपयुक्त रहता है **[सो]** वह **[हु]** निश्चित ही **[साहु समाहि धारगो]** साधु समाधि का धारक होता है।

भावार्थ : जो साधक समाधिमरण अंगीकार करता है वह क्षपक कहलाता है। वह क्षपक मरण समय में अति विशुद्धि धारण करता है। समाधि में संलग्न उस साधु को देखने के लिए जो मन से उत्कण्ठित होता है वह साधु समाधि की भावना करता है। साधु की समाधि में हमेशा प्रयत्नशील साधु क्षपक की सेवा में अपना उपयोग लगाता है। उस क्षपक के निमित्त से सेवा करने वाला साधु अपने भावों की विशुद्धि बढ़ाता है जिससे तीर्थंकर पुण्य कर्म का बन्ध करने में समर्थ हो जाता है।

तव-सुद-सहिदो चेदा हवदि आराधगो दससु धम्मेसु।
दिढकरणं सद्दाए साहुसमाहिभावणा तस्स॥६॥

श्रुत को पढ़-पढ़तप को तपकर जो तप-श्रुत में निष्ठावान

वह साधक आराधक माना दश धर्मों का निश्चय जान।
जो श्रद्धा से निज आतम को आराधन में दृढ़ करता
साधु-समाधि भावना उर में रात दिवस साधक धरता॥६॥

अन्वयार्थ : [तवसुद-सहिदो] तप और श्रुत से सहित **[चेदा]** आत्मा **[दसधम्मस्स]** दश धर्मों का **[आराधगो]** आराधक **[हवदि]** होता है। **[सदाए]** श्रद्धा से **[दिढकरणं]** उसे दृढ़ करना **[तस्स]** उस साधु की **[साहुसमाहिभावणा]** साधु समाधि भावना है।

भावार्थ : दश धर्म की आराधना करने वाला साधक तप और श्रुत से युक्त होता है । तपस्या के साथ सम्यक् श्रुतज्ञान को जो धारण करता है वह दश धर्म का वास्तविक आराधक होता है। श्रद्धा से दश धर्मों को और अधिक दृढ़ करना उस साधक की साधु समाधि भावना है।

कुछ तपस्वी ऐसे होते हैं जो श्रुत की भावना से दूर होते हैं, जिस कारण उन्हें क्रोध, मान आदि विकारी भाव सताते रहते हैं। उनका धर्म में चित्त न लगने से अपनी आत्म समाधि का प्रयोजन पूर्ण नहीं होता है । चित्त का सदैव शान्त और कर्म बन्ध से मुक्त रहना ही साधु की सदा समाधि है। श्रद्धा से अपने चित्त को ऐसी धर्म भावना में दृढ़ किए रखना साधु समाधि भावना है।

साधु समाधि में संलग्न प्राणी को और क्या करना चाहिए ?

दीवसिखेव हत्थेण अथिरचित्तस्स संबलणदाणं।
करणीयमवस्सं खलु साहुसमाहिभावलग्गस्स॥७॥

मन चंचल है जिस साधक का विचलित होता रहता जो
निजमति बल से मृदुवचनों से उसको संबल देता जो।
मानो पवन वेग से दीपक बचा रहा देकर कर ओट
साधु समाधि भावना भाता देकर के आवश्यक चोट॥७॥

अन्वयार्थ :[हत्थेण] हाथ से **[दीवसिखा इव]** दीपक की लौ की तरह **[अथिरचित्तस्स]** अस्थिर चित्त वाले को **[संबलणदाणं]** संबल प्रदान करना **[खलु]** निश्चित ही **[साहुसमाहिभावलग्गस्स]** साधु समाधि के भाव में लगे जीव को **[अवस्सं]** अवश्य **[करणीयं]** करने योग्य है।

भावार्थ : केवल अन्त समय में समाधि धारण कर लेना या अपने आत्मा की निर्विकल्प अवस्था में रहना ही साधु समाधि नहीं है किन्तु जो साधु अपनी आत्म भावना से स्खलित हो रहा हो, अपने चित्त की

अस्थिरता के कारण वह मार्ग से दूर हो रहा हो उस साधु को संबल प्रदान करना साधु समाधि भावना है। जिस तरह बुझते हुए या हिलते हुए दीपक की लौ को हाथ की ओट देकर बचाया जाता है उसी तरह अन्य साधु को देखकर उसे स्थिर करने के लिए अवश्य ही सहारा देना चाहिए। अन्य साधक को जो साधक सन्मार्ग पर लगाए रखता है वह साधु समाधि भावना में संलग्न है, यह जानना।

साधु समाधि भावना में युक्त साधक और क्या चिन्तन करे ?

अथिरो खलु मणुजभवो परिहरदव्वो परप्परं कलहो।
आदवदं संभालिय साहुसमाहिभावलग्गस्स॥८॥

सबका चित्त रहे अपने में जो विचारता रखे विचार
यह मानुष तन अस्थिरसबका आपस की सबकलहसुधार।
अपने व्रत का ध्यान धारकर निज हित का जो करे विचार
साधु समाधि भावना उसकी कर देती है भव से पार॥८॥

अन्वयार्थ : [मणुजभवो] मनुष्य भव **[खलु]** निश्चित ही **[अथिरो]** अस्थिर है **[साहुसमाहिभावलग्गस्स]** साधु समाधि भावना में लगे हुए साधक को **[आदवदं]** अपने व्रतों को **[संभालिय]** संभालकर **[परप्परं]** आपस में **[कलहो]** कलह **[परिहरदव्वो]** छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ : यह मनुष्य भव क्षणभंगुर है। आपस में कलह करने से दोनों की समाधि बिगड़ती है। आपस में विवाद करने वाले सभी लोगों को चित्त में कलुषता उत्पन्न होती है। इस तरह से आपस में व्यवहार करें ताकि कलह न होने पाए। साधु समाधि की भावना में लगे साधक को आत्मा के व्रतों की संभाल करनी चाहिए। परस्पर में विवाद करने से व्रतों में दोष लगता है। अहिंसा व्रत भी निर्दोष नहीं पलता है क्योंकि कलह से भाव हिंसा अवश्य होती है। सत्य व्रत भी नहीं पलता है क्योंकि विसंवाद की जड़ असत्य ही होता है। जब कोई अपने सहधर्मी के लिए गलत सोचता है तभी विवाद होता है। जिसे अपने सधर्मी से संदेह होता है उसे सधर्मी की सही बात भी गलत लगती है। इसलिए किसी के प्रति आश्वस्त नहीं होना भी सत्य व्रत में दोष लगाना है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति संदेह में रहता है उसे चाहिए कि वह दूसरे के बारे में न सोचे। वह अपनी कार्य क्षमता को बढ़ाए और दूसरे के लिए सकारात्मक उचित सोच रखें।

विवाद करने से अचौर्य व्रत में भी दोष लगता है। तत्त्वार्थ सूत्र मे अचौर्य व्रत में विसंवाद को नहीं करना भी एक भावना बताई है। विवाद करने से अपने ब्रह्म आत्मा से बाहर आ गए, यही अब्रह्म है। जब हम किसी पर स्वामित्व की भावना रखते हैं तो हम उसके साथ जबरदस्ती करते हैं। यही परिग्रह पाप है।

इसलिए साधु समाधि को बिगाड़ने में परस्पर का विवाद ही पाँचों पाप का मूल कारण है।

उपसंहार करते हुए यह भावना कहते हैं

साहूसमाहिम्मि सु भावजुत्तो पमादमुत्तो मुणिझाणचित्तो। ?
अप्पम्मि तित्तो परतत्तिमुत्तो साहूविचित्तो जगदो विजुत्तो॥९॥

सदा रखे शुभ भाव हृदय में जो प्रमाद से मुक्त सदा
चित्त ध्यान में तप्ति आत्म में पर तृष्णा से मुक्त सदा
वह साधू ही नित समाधि की रहे भावना में तल्लीन
जग में रहकर मुक्त रहा है वह ही जग में है परवीन॥९॥

अन्वयार्थ : [साहूसमाहिम्मिसुभावजुत्तो] साधु समाधि के शुभ भाव में लगा प्राणी **[पमादमुत्तो]** प्रमाद से मुक्त होता है **[मुणिझाणचित्तो]** मुनि के ध्यान में चित्त लगा रहता है **[अप्पम्मि]** अपनी आत्मा में **[तित्तो]** तृप्त रहता है **[परतत्तिमुत्तो]** दूसरे में तृप्त नहीं होता है **[साहूविचित्तो]** साधुओं में विचित्र और **[जगदो]** जगत् से **[विजुत्तो]** विलग रहता है।

भावार्थ : सावधान रहने वाले साधक के शुभ भाव सदा बने रहते हैं। जिस साधक को अपनी आत्मा की निर्विकल्पता की भावना रहती है वह दूसरे मुनि के प्रति भी सम्यक् भावना रखता है। मुनि के ध्यान में उसका चित्त रहता है। ऐसा साधक अपनी आत्मा में तृप्त होता है और पर पदार्थों में तृप्ति से रहित होता है। ऐसा साधक संसार से अनासक्त हुआ सभी साधकों में अद्भुत होता है।

9. वेज्जावच्च भावणा

देह को एकान्त से अशुचि मानने पर वैयावृत्य असंभव है–

ओदारिओ हि देहो अचेयणो पूदिगंधचम्मजुदो।
एयंतेण दु मण्णइ वेज्जावच्चं कधं होदु ॥ १॥

यह शरीर तो रहा अचेतन दुर्गन्धित है अशुचि निधान
चर्म मात्र से शोभ रहा है भीतर रुधिर-मांस-मल खान।
यदि नितान्त एकान्त रूप से ऐसा तन तू मान रहा
फिर तू वैयावृत्य करे क्यों क्या चेतन पहचान रहा ?॥१॥

अन्वयार्थ : [ओदारिओ देहो] औदारिक शरीर **[हि]** निश्चित ही **[अचेयणो]** अचेतन है **[पूदि-गंधचम्मजुदो]** जो दुर्गंध और चर्मयुक्त है **[एयंतेण]** एकान्त से **[मण्णइ]** ऐसा मानता है **[दु]** तो **[वेज्जावच्चं]** वैयावृत्ति **[कधं]** कैसे **[होदु]** होवे।

भावार्थ : मनुष्य का शरीर औदारिक शरीर है। औदारिक शरीर हाड़, मांस, मल-मूत्र, खून आदि अपवित्र पदार्थों से ही बना होता है। यह शरीर अचेतन है। ऐसी स्थिति में इस शरीर की सेवा करने से क्या होगा ? सेवा तो चेतन आत्मा की होनी चाहिए जो शुद्ध, निर्मल है। इस तरह जिसकी मान्यता एकान्त रूप से है वह वैयावृत्य क्यों करे ? इस एकान्त मान्यता से वैयावृत्य कैसे हो ?

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान–

तम्हा तवोधणाणं रयणत्तयेण णिच्च-पवित्ताणं।
वेजावच्चं कज्ज रयणत्तय-दिव्वलाहत्थं ॥ २॥

भूल रहा तू जो मुनि जन हैं रत्नत्रय से नित्य पवित्र
तपोधनों का तन चेतन संग पूज्य बना ज्यों पट संग इत्र।
रत्नत्रय के दिव्य लाभ की हो इच्छा यदि तुमको मित्र
तो तुम मुनितन सेवा करना पा लोगे जिनदेव चरित्र ॥२॥

अन्वयार्थ : [तम्हा] इसलिए **[रयणत्तयेण]** रत्नत्रय से **[णिच्च-पवित्ताणं]** हमेशा पवित्र

[तवोधणाणं] तपोधनों की **[वेज्जावच्चं]** वैयावृत्य **[रयणत्तयदिव्वलाहत्थं]** रत्नत्रय का दिव्य लाभ पाने के लिए **[कज्जं]** करना चाहिए।

भावार्थ : यह औदारिक शरीर एकान्त से अपवित्र ही नहीं है। रत्नत्रय से सहित साधु परमेष्ठी का यह शरीर पवित्र होता है। इस शरीर की सेवा से रत्नत्रय की सेवा का लाभ प्राप्त होता है। तपस्वियों के शरीर की सेवा रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए अवश्य करना चाहिए।

हे आत्मन्! आचार्य कहते हैं कि जिनशासन में भक्ति रखने वाला ही वत्सल भाव से वैयावृत्य करता है। जिसने वैयावृत्य के लिए अपने धन और शरीर का उपयोग नहीं किया उसका धन और शरीर दोनों ही संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

वैयावृत्य तप में आनन्दित रहने वाले एक नन्दिषेण मुनिराज का कथानक बहुत ही प्रसिद्ध है। अत्यन्त दरिद्री, दुर्गन्धित शरीर को धारण करने वाला, दुर्भागी, सब ओर से तिरस्कृत एक व्यक्ति आत्मघात के लिए वैभार पर्वत पर पहुँचा। वहाँ से जब वह गिरने की इच्छा कर रहा था, तभी मुनिराज ने उसे रोका। उसे धर्म-अधर्म का फल बताकर इस पाप से रोका। अपनी आत्म निन्दा कर वह मुनिराज से दीक्षित हो गया। यही नन्दिषेण मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गुरु के उपदेश से आशा-पाश को नष्ट करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करके वह अत्यन्त कठिन तप करने लगे। तप के प्रभाव से अनेक उत्तम ऋद्धियों से वह युक्त हो गए। ग्यारह अंग का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया। परीषहों और उपसर्ग को सहन करने में अत्यन्त पटु हो गए। जो-जो उपवास या व्रत दूसरों के लिए अत्यन्त कठोर थे वह उनके लिए सरल हो गए। वह जैसी वैयावृत्य के लिए विचार करते थे, वह औषध उनके हाथ में आ जाती थी। कई हजार वर्ष का तप-काल व्यतीत हो गया। एक दिन इन्द्र ने देवों की सभा में नन्दिषेण मुनि के वैयावृत्य तप की प्रशंसा की। प्रशंसा सुनकर एक देव परीक्षा के लिए आया। उस देव ने मुनि का भेष बनाया और नन्दिषेण मुनि के समक्ष आकर कहने लगा- मेरा शरीर व्याधि से पीड़ित है, मुझे कुछ औषध दीजिए। यह सुनकर नन्दिषेण मुनि ने कहा- 'साधो! आप कृपा कर यह बताएँ कि इस समय आपका मन कैसा भोजन करने के लिए हो रहा है? आपकी रुचि किस भोजन में है?' यह सुनकर मुनिभेषधारी देव ने कहा- मुझे पूर्व देश के धान का शुभ एवं सुगन्धित भात चाहिए। पंचाल देश के मूंग की स्वादिष्ट दाल चाहिए। पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घी चाहिए और कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन यदि मिल जायें तो बहुत अच्छा हो क्योंकि मेरी रुचि ऐसा ही भोजन करने की है।

नन्दिषेण मुनि ने कहा- आप निश्चिन्त होवें, आपके लिए यह भोजन मैं अभी लेकर आता हूँ। अलग-अलग दिशा की वस्तुओं की चाह होने पर भी मुनि के मन कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ। गोचरी बेला में

जाकर उक्त सब आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उन कृत्रिम भेषधारी मुनि को दिया। आहार-पानी ग्रहण कर रात्रि में शरीर के मल से सारा शरीर मलिन कर लिया। नन्दिषेण ने बिना ग्लानि के उसे अपने हाथों से धोया। फिर भी उनका उत्साह भंग नहीं हुआ था और वह बराबर वैयावृत्य करने में तत्पर थे। यह देखकर उस देव ने अपनी विक्रिया समेटकर उन्हें प्रणाम किया तथा उनकी स्तुति करके देव अपनी इन्द्रसभा में चला गया।

इस वर्णन को सुनकर प्रत्येक श्रावक और श्रमण की बुद्धि मुनिराज की वैयावृत्य करने की सदैव रहनी चाहिए। श्रावक हो या श्रमण प्रासुक द्रव्य से ही मुनिराज की सेवा करते हैं । यथाशक्ति अपने धन-बल का उपयोग करके जो साधु जनों की, सहधर्मी की, साध्वियों की आपत्ति-विपत्ति का निवारण करता है, वह ही वास्तव में जैन शासन का आदर करने वाला और जिनधर्म का वत्सल है।

साधु के लिए देह के स्वभाव को जानना आवश्यक है–

जो खलु णेव विजाणदि देहस्स रोग सहावसणिदाणं।
सो साहू साहुस्स हि धम्म मरणे विणासेदि॥३॥

हे साधो! केवल चेतन ना तन का भी अवबोध रखो
क्या तन में है रोग देह का क्या स्वभाव त्रय दोष लखो।
यदि निदान तुम नहीं जानते देह रोग का ऋतु अनुसार
तो साधू का मरण समाधि कैसे हो आराधन सार॥३॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[देहस्स]** देह के **[रोग-सहाव-सणिदाणं]** रोग, स्वभाव और उसके उपचार को **[खलु]** निश्चित ही **[व]** नहीं **[विजाणदि]** जानता है **[सो]** वह **[साहू]** साधु **[साहुस्स]** साधु के **[धम्मं]** धर्म को **[मरणे]** मरण समय पर **[हि]** अवश्य **[विणासेदि]** नष्ट कर देता है।

भावार्थ : जिस तरह आत्मा के स्वभाव को जानना आवश्यक है उसी तरह देह के स्वभाव को जानना भी आवश्यक है। किस क्षपक की देह का स्वभाव किस तरह का है? वात्त, पित्त, कफ में किसका विकार शरीर में शीघ्र होता है? किस ऋतु में किस प्रकार की सेवा शरीर के अनुकूल होगी? रोगी को कौन सा रोग है? और उसका निदान(इलाज) क्या है ? यह शरीर का ज्ञान भी साधु को होना चाहिए। ऐसा साधु ही मरण समय पर साधक की सल्लेखना करा सकता है। शरीर की प्रकृति, रोग आदि का ज्ञान न होने पर मरण समय में साधु को कष्ट अधिक हो सकता है। जिससे संक्लेश के साथ मरण करने से उसके रत्नत्रय की विराधना भी हो सकती है।

वैयावृत्य अत्यन्त आवश्यक है–

आजीविदं हु साहू धम्म पालेदि जदि वि पयत्तेण।
वेज्जावच्चेण विणा मरणे अणाराहओ होदि॥४॥

इस पंचम कलि काल में देखो तन आश्रित हैं मन परिणाम
मृत्यु समय पर इसीलिए ही तन सेवा चेतन की जान।
जीवन भर जो धर्म आराधन किया निरालम्बन सुख से उ
स साधक को अन्त समय में यदि आलम्बन मृति सुख से॥ ४ ॥

अन्वयार्थ : [जदि वि] यद्यपि **[साहू]** साधु **[आजीविदं]** जीवन पर्यन्त **[पयत्तेण]** प्रयत्न के साथ **[धम्मं]** धर्म का **[हु]** निश्चित ही **[पालेदि]** पालन करता है तो भी **[वेज्जावच्चेण]** वैयावृत्य के **[विना]** बिना **[मरण]** मरण समय पर **[अणाराहओ]** अनाराधक **[होदि]** हो जाता है।

भावार्थ : जिस साधु ने जीवन पर्यन्त तक धर्म का सावधानी से प्रयत्नपूर्वक पालन किया हो, उस साधु को भी मरण समय पर वैयावृत्य की आवश्यकता होती है। मरण समय जिस प्रकार के परिणाम होते हैं उसी के अनुसार लेश्या होती है। लेश्या के अनुसार ही अगली पर्याय में जन्म होता है। परिणामों की अन्त समय में संभाल करना अति आवश्यक है। इन परिणामों को उचित सेवा-शुश्रुषा से संभाला जाता है। इसीलिए वैयावृत्य धर्म का बहुत महत्त्व है। यदि मरण समय पर सेवा न हो तो वह साधक अन्त समय में आराधना को छोड़ भी सकता है। मरण समय में रत्नत्रय की विराधना होने से जीवन पर्यन्त की आराधना व्यर्थ हो जाती है।

श्री षट्खंडागम सूत्र में इस भावना का नाम है- 'साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए' अर्थात् साधुओं की वैयावृत्य योग युक्तता से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। इसी की व्याख्या में श्रीधवला में कहा है कि- व्याप्रत अर्थात् रोग आदि से व्याकुल साधु के विषय में जो किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है । जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुतभक्ति एवं प्रवचन वत्सलत्वादि से जीव वैयावृत्य में लगता है वह वैयावृत्य योग अर्थात् दर्शनविशुद्धता आदि गुण हैं। उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्य योग युक्तता है। इस प्रकार उस एक ही वैयावृत्य योग युक्तता से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। यहाँ शेष कारणों का यथा सम्भव अन्तर्भाव कहना चाहिए।

आचार्य अकलंक देव राजवार्तिक में कहते हैं कि गुणवान साधुओं पर आये हुए कष्ट रोग आदि को निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहुउपकारी वैयावृत्य है।

सेवा न करने का दोष कहते हैं

वेजावच्चणिमित्तं जो साहू परिहरेदि साहुजणं।
परिहरइ आदधम्मं धम्मो धम्मिगं समासेदि॥५॥

कौन करे इसकी तन सेवा ऐसा सोच तजे यदि साधु
तो वह आत्म धर्म ही तजता कहते हैं साधक तप साधु।
धर्म अकेला कहाँ रहेगा धार्मिक जन बिन मुझे बता
धर्मी सेवा धर्म बनी है धर्मी ही है धर्म पता॥ ५॥

अन्वयार्थ : [वेज्जावच्च-णिमित्तं] वैयावृत्य के लिए **[जो साहू]** जो साधु **[साहुजणं]** साधु जन का **[परिहरेदि]** परिहार करता है वह **[आदधम्मं]** अपने आत्म धर्म का **[परिहरइ]** परिहार करता है क्योंकि **[धम्मो]** धर्म **[धम्मिगं]** धार्मिक के **[समासेदि]** आश्रय से रहता है।

भावार्थ : वैयावृत्ति के लिए जो साधु अन्य साधु जन को छोड़ देता है । या जो साधु सहधर्मी साधु की सेवा करने से बचता है वह अपने आत्म धर्म को छोड़ देता है । सेवा आत्मा का अपना धर्म है। सेवा करने से जो वंचित रहता है वह अपने आत्म धर्म को छोड़ देता है। चूँकि धर्म धर्मी के आश्रित होता है इसलिए धार्मिक की सेवा करना वस्तुतः अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की आराधना करना है।

वैयावृत्य तप की पूज्यता दिखाते हैं–

वेजावच्च-तवो खलु महागुणो चित्तसुद्धिकरो पुजो।
किण्हेण जेण बद्धं तित्थयरं णामकम्म सुहं॥६॥

वैयावृत्य महागुणकारी तप है पूज्य बनाता है
चित्त विशुद्ध करे तपसी का निज-पर का हितदाता है।
नारायण श्रीकृष्ण गृही ने औषधि देकर कर सेवा
तीर्थंकर पद बन्ध किया है तीन लोक को सुख-देवा॥६॥

अन्वयार्थ : [वेजावच्च तवो] वैयावृत्य तप **[खलु]** निश्चय से **[महागुणो]** महान् गुणकारी **[चित्तसुद्धिकरो]** चित्त की शुद्धि करने वाला **[पुज्जो]** और पूज्य है **[जेण]** इस तप से **[किण्हेण]** कृष्ण ने **[तित्थयरं]** तीर्थंकर **[णामकम्म सुहं]** शुभ नाम कर्म **[बद्धं]** बांधा था।

भावार्थ : वैयावृत्य करना एक तप है। तप में भी अन्तरङ्ग तप है । अन्तरङ्ग तप होने से निश्चित ही यह महान् उपकारी है। कर्म की साक्षात् निर्जरा का कारण होने से यह आत्मा को गुणकारी है। इस तप से चित्त शुद्धि होती है। यह तप पूज्य है। इसकी आराधना करने वाला जीव जगत् में पूजा सम्मान के योग्य हो जाता है । इस तप से गृहस्थ दशा में श्री कृष्ण ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। नाम कर्म में अत्यन्त शुभ यह तीर्थंकर कर्म है जिसे श्री कृष्ण ने मुनि महाराज को औषधिदान देकर आत्मा में बांधा था। निर्दोष वैयावृत्य का यह महान् फल है कि अविरत दशा में श्री कृष्ण ने इस भावना से आगामी भव में तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

शरीर सेवा ही चित्त शुद्धि का कारण है–

देहस्सिदो हि दीसदि जीवाणं सव्वचित्तपरिणामो।
चित्तविसोहिं जाण हु तणसेवाकारणेण पुणो॥७॥

भावचित्त में जो आते हैं देहाश्रित ही दिखते हैं
क्लेश, विशुद्धि, सुख, दुख, समता पर आश्रित फल रखते हैं।
तन सेवा से हो प्रसन्न मन शल्य छोड़ बनता है शान्त
इसीलिए यह वैयावृत्ति क्षपक चित्त करता निर्धान्त॥ ७॥

अन्वयार्थ : [जीवाणं] जीवों का **[सव्वचित्तपरिणामो]** चित्तगत समस्त परिणाम **[देहस्सिदो]** देहाश्रित **[हि]** ही **[दीसदि]** देखा जाता है **[पुणो हु]** पुनः **[तणसेवा कारणेण]** शरीर सेवा के कारण से **[चित्तविसोहिं]** चित्त की विशुद्धि को **[जाण]** जानो।

भावार्थ : जीवों को संक्लेश या विशुद्ध परिणाम, जो मन में उत्पन्न होता है, वह शरीर के कारण ही होता है। तन में स्वस्थता, अनुकूलता रहती है तो चित्त में संक्लेश, खेद नहीं रहता है और इसके विपरीत स्थिति होने पर दुःख बना रहता है। इसलिए जैसे बने तैसे साधकों के शरीरगत कष्टों को आहार, औषधि, आवास और उपकरण दान के माध्यम से दूर करना चाहिए। इससे अपने आप मन की खेद खिन्नता दूर हो जाती है। साधक को छठवें-सातवें गुणस्थान की विशुद्धि और निर्जरा में सहयोग करना श्रावक और श्रमण दोनों के लिए एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैयावृत्ति में ऐसी ही अन्तरङ्ग भावना होनी चाहिए तभी वैयावृत्ति करने वाले को महान् पुण्य बंध होता है। इसलिए अन्तरङ्ग चित्त विशुद्धि की प्राप्ति शरीर सेवा के कारण से होती है, यह स्पष्ट रूप से जानना।

इस भावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

साहुस्स सेवा पमुहो हि धम्मो
पयासगो धम्मपहस्स णिच्चं।
परप्पपरावेक्खि-जिणिंदवाणी
एयंतमग्गे सिवमग्गहाणी॥८॥

करो भावना सेवा की तुम साधू का यह मुख्य धरम
धर्म मार्ग को प्रकट दिखाता नष्ट करे अघ अष्ट करम।
श्री जिनवर वाणी सिखलाती निश्चय अरु व्यवहार धरम
उभय धरमका ध्यान रखोतोकभी नहींहोमनविभ्रम॥८॥

अन्वयार्थ : [साहुस्स] साधु की **[सेवा]** सेवा **[हि]** निश्चय से **[पमुहो धम्मो]** प्रमुख धर्म है।**[धम्मपहस्स]** धर्म पथ का **[णिच्चं]** हमेशा **[पयासगो]** प्रकाशक है **[परप्परावेक्खि जिणिंदवाणी]** जिनेन्द्र भगवान की वाणी परस्पर में अपेक्षा रखने वाली है **[एयंतमग्गे]** एकान्त मार्ग पर **[सिवमग्गहाणी]** शिवमार्ग की हानि है।

भावार्थ : साधु की वैयावृत्ति या सेवा ही सभी का प्रमुख धर्म है। यह सेवा ही धर्म पथ को प्रकाशित करती है। सेवा में एक दूसरे की अपेक्षा रहती है । यह अपेक्षा परस्पर में धर्म बढ़ाती है। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए नय जिस प्रकार परस्पर सापेक्ष रहते हैं उसी तरह यह वैयावृत्ति धर्म है । मुझे सेवा की जरूरत नहीं है या मैं किसी की सेवा नहीं करूँगा, इस तरह की एकान्त धारणा से मोक्षमार्ग की हानि होगी।

10. अरिहंत भत्ती

संवर, निर्जरा की इच्छा करने वाला ज्ञानोपयोगी है

जे के वि सिद्धिंगदा जे के सिद्धा भवियं भविस्संति।
ते अरिहंताणं भत्तिं किच्चा तम्हा तुमं कुज्जा॥१॥

भूत काल में जो नर मुक्ति, गये, जा रहे, जाएँगे
वे अरिहन्त चरण की भक्ति का फल पाए पाएँगे।
जिनकी भक्ति करते करते परिणति सम्यक् हो जाती
ऐसीअर्हद्भक्ति करने क्योंतवमति नालग जाती? ॥१॥

अन्वयार्थ : [जे के वि] जो कोई भी **[सिद्धिंगदा]** सिद्धि को प्राप्त हुए **[जे के]** जो कोई **[सिद्धा]** सिद्ध **[भवियं]** भविष्य में **[भविस्संति]** होंगे **[ते]** वे **[अरिहंताणं]** अरिहंतों की **[भत्तिं]** भक्ति को **[किच्चा]** करके हुए हैं **[तम्हा]** इसलिए **[तुमं]** तुम **[कुज्जा]** करो।

भावार्थ : अतीत काल में जो कोई भी सिद्ध हुए हैं, वे कभी न कभी अरिहंतों की भक्ति अवश्य किये हैं। बिना अरिहंत भक्ति के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। भविष्य में भी जो सिद्ध होंगे वे भी सभी अरिहंत भक्ति से होंगे। इसलिए हे भव्य! तुम भी अरिहंतों की भक्ति करो।

विचार करो ! जब एक मेंढ़क जिनेन्द्र भक्ति से ओत प्रोत हो पूजा के लिए जा सकता है तो तुम पंचेन्द्रिय मनुष्य होकर पूजा क्यों नहीं करते हो। मेंढक ने बावड़ी में ही सुना था कि भगवान् महावीर का समवशरण आया है और विपुलाचल पर्वत पर आज सभी नगरवासी दर्शन के लिए जा रहे हैं। महिलाओं की आपस की इस बातचीत को सुनकर मेंढ़क भगवान् की भक्ति से भर गया। उसने सोचा हम भी भगवान् की भक्ति के लिए जाएंगे। भगवान् की पूजा के लिए और उनके दर्शन के लिए वह खाली हाथ नहीं गया। उसे मालूम था और पूर्व जन्म के संस्कारों से उसे स्मृत हो आया था कि राजा, गुरु और प्रभु के दर्शन को कभी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। उस मेंढ़क ने एक फूल की पंखुड़ी मुख से तोड़कर मुख में ही दबा ली। बावड़ी से बाहर निकल आया और फुदक-फुदक कर चलने लगा। राजा श्रेणिक पूरे राज-परिवार और समस्त नागरिकों के साथ भगवान् महावीर के दर्शन के लिए जा रहे थे। श्रेणिक राजा के हाथी के पैर से वह मेंढ़क दब गया और मर गया। पूजा-भक्ति के भाव से वह मरकर देवगति में एक ऋद्धिधारी देव बना। वहाँ उसने अन्तमुहूंत में ही युवा अवस्था प्राप्त कर जन्म लिया। उसने अवधिज्ञान से अपनी देव-

पर्याय में उत्पत्ति का कारण देखा तो वह बहुत खुश हुआ। अहो! जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति के प्रभाव से मैं क्षणभर में स्वर्ग का देव बन गया। वह शीघ्र ही भगवान के समवशरण में पहुँचकर उनका साक्षात् दर्शन कर आह्लादित हुआ। उसी समय राजा श्रेणिक भी पहुँच गए। देवों के द्वारा घिरे हुए भगवान् का दर्शन करके राजा की दृष्टि एक देव के मुकुट पर पड़ी जिस पर मेंढ़क का चिह्न बना था। राजा श्रेणिक ने देव के मुकुट पर मेंढ़क बने होने का कारण पूछा। भगवान् के उपदेश से राजा की जिज्ञासा का समाधान हुआ।

आचार्य समन्तभद्र देव कहते हैं कि हे भव्यजीवो! आप निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करो। यह जिनेन्द्र भक्ति ही इच्छित पदार्थों को देने वाली है और काम-वासना जनित दाह को शान्त करने वाली है।

जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति मुक्तिवधू से मिलाने वाली सखी है। पुण्य की प्राप्ति जिनेन्द्र भक्ति से होती है। इस पुण्य का तात्कालिक फल तो संसार के सुखों की प्राप्ति है और पारम्परिक फल मोक्ष की प्राप्ति है।

भगवान् आदिनाथ के जीव ने दश भव पूर्व में गृहस्थ अवस्था में ही संन्यास लेकर पंच परमेष्ठी की आराधना कर तीर्थंकर बनने का बीज बोया था। भगवान् नेमिनाथ का जीव भी अपने पूर्व भव में जिनेन्द्र भगवान् की तीव्र भक्ति करता था। जब यह जीव अपराजित चक्रवर्ती की पर्याय में था, तब इनके पिता और विमलवाहन भगवान् को मोक्ष की प्राप्ति हुई । यह जानकर अपराजित ने तीन दिन का उपवास धारण कर निर्वाण भक्ति की। बाद में राजा अपराजित कुबेर के द्वारा समर्पित जिन प्रतिमा एवं चैत्यालय में विराजमान अर्हत्प्रतिमा की पूजा कर उपवास करके जिनालय में अपनी स्त्रियों को धर्मोपदेश देता था। एक बार जिन मन्दिर में दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आए। मुनिराज ने अपने और राजा के पूर्वभवों को बताया तथा अन्त में कहा कि तुम्हारी आयु एक माह शेष रह गयी है। इसलिए आत्महित करो। चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के वचन सुनकर राजा अपराजित हर्षित हुआ और चिरकाल तक इस बात की चिन्ता करता रहा कि अहो ! मेरा तप करने का समय व्यर्थ निकल गया। ऐसा सोचकर वह आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता रहा और अन्त में प्रीतिंकर नामक पुत्र के लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर शरीरादि से नि:स्पृह हो गया। तत्पश्चात् प्रायोपगमन संन्यास धारण कर बाईस दिन रात तक चारों आराधनाओं की आराधना कर वह अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर की आयु का धारक इन्द्र पद को प्राप्त हुआ। यही अपराजित का जीव इससे पाँचवें भव में हरिवंश के तिलक भगवान् नेमिनाथ तीर्थंकर हुआ है।

जिनभक्ति से भरा यह जीव यदि देव पर्याय में भी जाता है तो वहाँ भी अकृत्रिम चैत्यालयों की भक्ति करता है। मनुष्य पर्याय में जब तक गृहस्थ रहता है तब तक पात्रदान, पूजा, जिनप्रतिमा, जिनचैत्यालय को

सारभूत मानकर धर्म करता है। मुनि होने पर तप से श्रेष्ठ होकर निःस्पृहता से चार आराधना को करता है। इसी तरह पार्श्वनाथ का जीव भी अपने पिछले भव में ऐसी ही अद्भुत जिनेन्द्र भक्ति करता था।

हे भव्य ! इन्हीं महापुरुषों के पथ पर चलकर तुम भी ऐसे ही महान् बनो।

अरिहंत भक्ति की विशेषता–

अरिहंताणं भत्ती मोहविस-विणासणीय सोक्ख करी।
मुच्छाकाम मदालस-दूरगा पुण्णं समासवदि॥ २॥

मोह महा विष आतम भीतर पग-पग मूर्छित करता है
वह विषनाशक जिनवर भक्ति जिससे आतम जगता है।
मन में भरे मदन को मद को आलस को जो दूर करे
उन जिनवर पदकमल भक्तिकर पुण्य फलोंको पूरअरे॥ २॥

अन्वयार्थ : [अरिहंताणं] अरिहंतों की **[भत्ती]** भक्ति **[मोह-विस-विणासणी]** मोह विष का नाश करने वाली **[य]** और **[सोक्खकरी]** सुख करने वाली है **[मुच्छा-काम-मदालस दूरगा]** मूर्छा, काम, मद, आलस को दूर करने वाली है **[पुण्णं]** पुण्य का **[समासवदि]** आस्त्रव करती है।

भावार्थ : अरिहंत भगवान् से ही मोह डरता है । जो व्यक्ति जितना अरिहन्त भक्ति में रुचि रखता है वह उतना ही मोह को जीतने की योग्यता रखता है। यह मोह विष है। इस जहर से मूच्छित आत्मा स्वरूप को नहीं समझ पाता है। आत्मा अरिहंत भक्ति से जैसे-जैसे मोह विष की शक्ति कम करता जाता है तैसे-तैसे परमात्मा और स्वआत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आनन्द बढ़ता जाता है । आत्मिक अनन्त सुख को करने वाली यह जिनेन्द्र भक्ति मूर्छा, काम भाव, अहंकार और आलस्य, निद्रा आदि को दूर करने में समर्थ है। यह भक्ति पुण्य का आस्त्रव और बंध करती है जिससे मोक्षमार्ग की अनुकूल सामग्री का लाभ होता है। हे जिनभक्त ! पुण्य दो प्रकार का होता है। पहला पापानुबन्धी पुण्य और दूसरा पुण्यानुबन्धी पुण्य। जिस पुण्य से पाप का बन्ध हो, वह पुण्य भी संसार का कारण है । भगवान् की भक्ति से जो पुण्य बन्ध हुआ उसका फल यदि सौभाग्य और वैभव की चाह हुई तो वह पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है । या जिस पुण्य के फल से जीव पुन: पाप कर्म में प्रवृत्त होता है वह पापानुबन्धी पुण्य है। ऐसा पुण्य निदान भाव से प्राप्त होता है।

ऐसे ही पुण्य से बचने के लिए शास्त्रों में कहा है कि–

पुण्णेण होइ विभवो विहवेण जायदे मइमोहो।
मइमोहेण दुपावं तम्हा खलु पुण्ण मा होउ॥

अर्थात् पुण्य से वैभव मिलता है। वैभव से बुद्धि में मोह उत्पन्न होता है । मति में मोह से पाप उत्पन्न होता है। इसलिए भगवन् ! ऐसा पुण्य मुझे प्राप्त न हो। इसके विपरीत सच्चे जिनभक्त का पुण्य संसार से मुक्ति का कारण होता है । जो पुण्य का फल नहीं चाहता वह निदान रहित जीव सच्चा जिनभक्त है। उसका पुण्य जब फल देता है तो वह पुण्य बुद्धि में मोह उत्पन्न नहीं करता है। अन्ततोगत्वा वह पुण्य उसे वैराग्य दिलाकर कर्म क्षय के लिए योग्य सामग्री और आत्म हितंकर भाव देता है। इसीलिए कहा है कि–

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेदु जदि वि णिदाणंण कुणइ॥

अर्थात्- 'सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य संसार का कारण नहीं होता है। वह नियम से मोक्ष का हेतु होता है यदि वह निदान नहीं करता है।' जिनेन्द्र भगवान् की अपार भक्ति करके ही भरत, सगर आदि चक्रवर्ती और राम, हनुमान जैसे महापुरुष मोक्ष पधारे हैं। भरत चक्रवर्ती तो समवसरण में जाकर भगवान् ऋषभदेव की उपादेय बुद्धि से भक्ति करते थे। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी त्रेसठ श्लाका पुरुषों के पुराण विस्तार के साथ सुनते थे। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अपने परिणामों को संवेग-वैराग्यमय त्रेसठ श्लाका पुरुषों के चरित्र-कथानक पढ़कर, सुनकर ही बनाता है । भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिदिन निरन्तर वन्दना के लिए अपने महल के द्वारों पर शिर का स्पर्श करने वाली वन्दनमालाएँ बंधवायी थी। इन द्वारों से घण्टियों की आवाज सुनकर भरत को चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण हो आता था। वह उन्हें परोक्ष नमस्कार करते थे।

हनुमान ने सुमेरु पर्वत पर स्थित जिनालयों की एक दिन बहुत भक्ति की। सभी अकृत्रिम जिनालयों की भक्ति करके जब वह लौट रहे थे तो मार्ग में रुक गए। रात्रि में ही आकाश में विलीन होती हुई उल्का देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। सुबह उठते ही वह अपने परिवार को छोड़कर भरत क्षेत्र में आकर जिनदीक्षा धारण कर लिए।

इसलिए जिनभक्त! सदैव भगवान् की भक्ति अत्यधिक अनुराग के साथ कर । यह अनुराग परम्परा से मुक्ति का कारण है। इसे प्रशस्त राग कहते हैं । इस प्रशस्त राग से मति में मोह उत्पन्न नहीं होता किन्तु मोह का सर्वथा नाश होता है। एक अनादि मिथ्यादृष्टि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति के परिणामों की विशुद्धि से ही प्राप्त करता है। इसके बाद वेदक सम्यग्दृष्टि भी तभी तक रहता है जब तक उसके चित्त में जिन चरणकमल की या जिनवचनों की भक्ति विद्यमान है। ऐसा

वेदक सम्यग्दृष्टि प्रशम, संवेग आदि भावों से सहित होता है। वह वेदक सम्यग्दृष्टि जब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब भी जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से अपनी भावना को विशेष रूप से बढ़ाता है। श्री राजवार्तिक ग्रन्थ में उसे 'जिनेन्द्रभक्ति प्रवर्धित विपुल भावना विशेष संभारः' इस विशेषता से क्षायिक सम्यग्दर्शन के अभिमुख क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि की भावना बताई है। ऐसा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि ही जहाँ केवली भगवन्त होते हैं, वहाँ मोह का क्षपण प्रारम्भ करता है। यदि वह क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक भी बनता है तो भी वह अपनी विशुद्धि बढ़ाता है। विशुद्धि से कषाय का क्षयोपशम होता है। यह विशुद्धि भी बढ़ाने के हेतु श्री राजवार्तिक में लिखे हैं- 'जैनेन्द्र पूजा-प्रवचनवात्सल्य-संयमादि प्रशंसादिपरतया' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, प्रवचन वात्सल्य की भावना और संयम आदि गुणों की प्रशंसा में तत्पर होने से ही इस प्रकार की विशुद्धि बढ़ती है जो संयमासंयम नाम का पाँचवा गुणस्थान प्राप्त करा देती है।

जिनेन्द्र भक्ति से विष दूर होना कोई आश्चर्य नहीं–

मंतस्सेवहु थंभइ जिणपडिमाभत्ती भववुडिविसं।
मंतव्वो सदाए जिणिंददेवस्स विसेसो ण॥३॥

दूर रहे अरिहन्त देव की भक्ति का माहात्म्य यहाँ
उनकी प्रतिमा की भक्ति भी भव वृद्धि को रोक यहाँ।
ज्यों विषनाशक मन्त्र शक्ति से विष तन का हो दूर अवश्य
त्यों श्रद्धा से श्री जिनेन्द्रकी मोह महा विष हरेअवश्य॥३॥

अन्वयार्थ : [जिणिंद-देवस्स] जिनेन्द्र देव की **[सदाए]** श्रद्धा से **[जिण-पडिमाभत्ती]** जिन-प्रतिमा की भक्ति **[भव-वुड्डिविसं]** भव वृद्धि के विष को **[मंतस्स इव]** मंत्र के समान **[हु]** निश्चित ही **[थंभइ]** स्तम्भित कर देती है **[विसेसो ण मंतव्वो]** इसमें कोई विशेष नहीं मानना चाहिए।

भावार्थ : जैसे मन्त्र शक्ति से विष वृद्धि रुक जाती है और चढ़ा हुआ जहर उतर जाता है इसमें कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि मन्त्र का प्रभाव ही ऐसा होता है उसी प्रकार जिनेन्द्र प्रतिमा में जिनेन्द्र भगवान् की श्रद्धा से भक्ति करना भव वृद्धि के कारणभूत मोह विष को रोक देती है और निष्कासित कर देती है। इस भक्ति के प्रभाव से ऐसा हो जाना कोई विशेष आश्चर्य नहीं है क्योंकि जिनेन्द्र प्रतिमा का यह माहात्म्य सहज है। सेठ धनंजय ने अपने पुत्र को सर्प के विष से निर्विष इसी भक्ति, पूजा के प्रभाव से किया था।

अरिहंत भक्ति बिना दाम के मूल्यवान पदों को देती है–

चउतीसातिसयाणं अट्ठमहापाडिहे रजुत्ताणं।
अरिहंताणं भत्ती अमुल्लेण मुल्लपददायी।। ४।।

हुए सुशोभित समवसरण में तीस चार अतिशय वाले
अष्ट प्रातिहार्य की शोभा देख सभी हों मतवाले।
उन अरिहंत परम जिनवर की भक्ति महा अतिशयकारी
बिना मूल्य बहुमूल्य पदों को सहज दिलाती सुखकारी।।४।।

अन्वयार्थ : [चउतीसातिसयाणं] चौंतीस अतिशय वाले **[अट्ठमहापाडिहेर-जुत्ताणं]** अष्ट महा प्रातिहार्यों से सहित **[अरिहंताणं]** अरिहंतों की **[भत्ती]** भक्ति **[अमुल्लेण]** बिना मूल्य के **[मुल्लफलदायी]** मूल्यवान फल को देने वाली है।

भावार्थ : जिन अरिहंतों ने महान् तपस्या के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त किया है उनके चौंतीस अतिशय और अष्ट प्रातिहार्य बाहर से जानने में आ जाते हैं। इन अतिशयकारी गुणों से आकृष्ट होकर जो प्राणी अरिहंतों की भक्ति करता है उसे भक्ति मात्र करने का ही श्रम होता है। बदले में उसे अरिहंत पद की प्राप्ति हो रही है तो यह बहुत ही लाभदायी और सस्ता-सहज उपाय है। ऐसे उपाय को प्राप्त करने से जो वंचित रह जाय वह प्रमादी और मूर्ख नहीं तो और क्या

अरहंत भक्ति के विषय में **श्रीधवला** में लिखा है कि- "जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वे अरहन्त हैं। अथवा आठों कर्मों को दूर कर देने वाले और घातिया कर्मों को नष्ट कर देने वालों का नाम अरहन्त है, क्योंकि कर्मशत्रु के विनाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है।" अर्थात् अरहन्त शब्द का अर्थ चूँकि 'कर्म शत्रु को नष्ट करने वाला' है अत:एव जिस प्रकार चार घातिया कर्मों का नष्ट कर देने वाले सयोगी और अयोगी जिन 'अरहन्त' शब्द के वाच्य हैं, उसी प्रकार आठ कर्मों को नष्ट कर देने वाले सिद्ध भी 'अरहन्त' शब्द के द्वारा कहे जा सकते हैं। उन अरहन्तों में जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वही अरहन्त भक्ति कहलाती है। इस अरहन्त भक्ति से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है।

अरिहंत भक्ति संयम में आने वाले विघ्नों को दूर करती है–

जो संजमं खु घेत्तिय जिणभत्तिं विणा वट्टदे साहू।
सो संजम-विग्धकरं कम्मं णासेदि किह मूढो।।५।।

मैंने दीक्षा धारण कर ली श्री जिनवर का रूप मिला
रहा प्रयोजन क्या भक्ति से संयम का उपहार मिला।
जो विचारता ऐसा साधु वह संयम की बाधाएँ
कैसे नाश करेगा मूरख कर्मों की आबाधाएँ॥५॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[साहू]** साधु **[संजमं]** संयम को **[खु]** यथार्थ में **[घेत्तिय]** ग्रहण करके **[जिणभत्तिं]** जिनभक्ति के **[विणा]** बिना **[वट्टदे]** प्रवृत्ति करता है **[सो]** वह **[मूढो]** मूढ़ **[संजमविग्घकरं]** संयम में विघ्न करने वाले **[कम्मं]** कर्म को **[किह]** कैसे **[णासेदि]** नाश करेगा ?

भावार्थ : जो साधु संयम ग्रहण करके जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति नहीं करता है और उनके प्रति श्रद्धा न रखकर अपने आवश्यकों को जैसे-तैसे पूरा कर लेता है वह संयम में विघ्न उत्पन्न करने वाले कर्मों को जीत नहीं सकता है । जिनेन्द्र भक्ति संयम के कठिन रास्ते पर आने वाले उतार-चढ़ाव और बाधाओं को दूर करके सीधा रास्ता बनाती है। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति ही मोह मुद्रा के कपाट खोलती जाती है। जिनभक्ति के बिना मुक्ति के द्वार नहीं खुल सकते हैं। एकीभाव स्तोत्र में श्री वादिराज मुनि ने कहा है–

'शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
भक्तिों चेदनधिसुखा वञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
शक्योद्‌घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो
मुक्तिद्वारं परिदृढ-महा-मोह-मुद्रा-कवाटम्॥'१३

अर्थात् विशुद्ध ज्ञान और निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि जिनेन्द्र की भक्तिमय अथवा सम्यग्दर्शन रूपी कुञ्जी नहीं है तो फिर महा मिथ्यात्व रूपी मुद्रा से अंकित मोक्ष मन्दिर का द्वार कैसे खोला जा सकता है। अर्थात् भक्ति रूपी कुञ्जिका के बिना मुक्ति द्वार का खुलना नितान्त कठिन है।

इसलिए संयम ग्रहण करके जो जिनभक्ति में प्रमादी रहता है वह मूढ़ है। वह पाप कर्म का नाश करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

संयमी को जिनभक्ति बहुत आवश्यक है–

जिणभत्तीए विणा ण हि सम्मत्तं बोही समाही य।
णग्गो कह सो भिक्खू चदुगइ दुक्खं णिवारेइ॥६॥

श्री जिनवर की भक्ति बिना तो सम्यग्दर्शन नहीं रहे
रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं तो कहो समाधि कहाँ रहे ?
बोधि समाधि बिना वह दीक्षित नग्न मात्र हो क्या पाए ?
चतुर्गति का दुःख निवारण कैसे भिक्षू कर पाए ? ॥६॥

अन्वयार्थ : [जिणभत्तीए] जिनभक्ति के **[विणा]** बिना **[सम्मत्तं]** सम्यक्त्व **[बोही]** बोधि **[य]** और **[समाही]** समाधि **[ण हि]** नहीं होती है **[सो भिक्खू]** वह भिक्षु **[णग्गो]** नग्न मात्र होकर **[चदुगइ-दुक्खं]** चार गति के दु:खों को **[कह]** कैसे **[णिवारेइ]** दूर करेगा ?

भावार्थ : सम्यग्दर्शन की पहचान जिनेन्द्र भक्ति है। जो अरिहंत भगवान् की भक्ति में तत्पर नहीं रहता है वह साधु हो या श्रावक सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। रत्नत्रय की प्राप्ति होना बोधि है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति जिनेन्द्र भक्ति से अर्जित पुण्य के बिना कदापि संभव नहीं है । रत्नत्रय का परभव में ले जाना समाधि है। जो जिनभक्ति से दूर है उसकी समाधि से मृत्यु नहीं हो सकती है। समाधि के बिना परभव में कैसे उसे सुख मिलेगा ? जो भिक्षु मात्र नग्न होकर रहता है और जिन-भक्ति के बिना रहता है वह चार गतियों के दुःख दूर नहीं कर सकता है। ऐसा साधु पुन: पुन: इसी संसार में भ्रमण करता है।

जिनभक्ति क्या-क्या नहीं देती ?

जो कुणदि सयं भवियो अण्णं विकारयदि जिणभत्तिरुइं।
सो लहदि लोगकित्तिं किं किं ण हु देदि जिणभत्ती॥७॥

भव्य जीव जो जिन भक्ति में सहज रुची को रखता है
और अन्य को उसी भक्ति में रुची करा हर्षाता है।
ऐसा पुण्यवान ही प्राणी तीन लोक में कीरत पा
क्या-क्या सुफल नहीं देती है भक्तों को जिनदेवकृपा॥७॥

अन्वयार्थ : [जो भवियो] जो भव्य **[सयं]** स्वयं **[जिणभत्तिरुइं]** जिनभक्ति में रुचि **[कुणदि]** करता है **[अण्णं वि]** अन्य को भी **[कारयदि]** कराता है **[सो]** वह **[लोगकित्तिं]** लोक में कीर्ति को **[लहदि]** प्राप्त करता है **[जिणभत्ती]** जिन भक्ति **[किं किं]** क्या-क्या **[ण हु]** नहीं **[देदि]** देती है।

भावार्थ : भव्य जीव स्वयं जिनेन्द्र भगवान् में अतिशय भक्ति रखता है और अन्य जीवों को उसी भक्ति में लगाता है। भक्ति में रुचि भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करके दिखाता है। जो पूजा, अभिषेक,

विधान की महिमा से भव्यों को आकृष्ट करता है वह जीव लोक में उत्तम कीर्ति को प्राप्त करता है। उस पुण्य आत्मा को जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति क्या-क्या नहीं देती ? अर्थात् सब कुछ देती है।

भगवद्भक्ति की महिमा का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

देहप्पभेदंकर णाण सत्तिं
पावेदि जीवो कमसो दु मुत्तिं।
जिणिंद-भत्तो वसगो सुहेण
णिधत्तिकम्माणि णिहंति जेण॥८॥

देह-आत्म के भेद ज्ञान की शक्ति मिले जिन भक्ती से
निज इन्द्रिय को वश में रखकर कर्म हने निज शक्ती से।
कर्मों की जो शक्ति निकाचित औ निधत्ति भी विनश रही
सब जप-तप से बढ़कर भक्ति अचरज रखकर विलस रही॥८॥

अन्वयार्थ : [जिणिंद भत्तो] जिनेन्द्र भक्त **[जीवो]** जीव **[देहप्पभेदंकर-णाण सत्तिं]** देह, आत्मा में भेद करने वाली ज्ञान शक्ति को **[पावेदि]** प्राप्त करता है **[वसगो]** जितेन्द्रिय हुआ **[जेण]** चूँकि **[सुहेण]** सुख से **[णिधत्तिकम्माणि]** निधत्ति कर्मों को **[णिहंति]** नष्ट करता है **[दु]** इसलिए तो **[कमसो]** कम से **[मुत्तिं]** मुक्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ : शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान करने की शक्ति अरिहंत भक्ति से ही आती है। निरन्तर भगवान् की स्तुति, ध्यान करने से यह विचित्र सामर्थ्य भव्यात्मा को प्राप्त होती है। जिसे भेदविज्ञान होता है वही इन्द्रियों को वश में कर सकता है। वही जितेन्द्रिय होता है। निधत्ति, निकाचित कर्म का क्षय जिनेन्द्र भक्ति से ही होता है। ऐसा आत्मा सुख से क्रमशः मुक्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है–

'जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो' ।

श्री धवला ६/४२७

अर्थात्- जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्ति, निकाचित मिथ्यात्वादि कर्म समूह का नाश देखा जाता है।

निधत्ति और निकाचितपना कर्म का एक विशिष्ट परिणमन है। कर्म जिस समय आत्मा में बंधते हैं तभी कुछ कर्म परमाणुओं में यह बन्ध हो जाता है। जो कर्म परमाणु बंधने के बाद उदीरणा और संक्रमण के अयोग्य होते हैं उन्हें निधत्ति संज्ञा से कहा जाता है। जो कर्म परमाणु उदीरणा, संक्रमण, अपकर्षण और उत्कर्षण इन चारों ही करणों के अयोग्य होते हैं वह निकाचित संज्ञा से कहा जाता है।

11. आइरिय भत्ती

जगुदुद्धारगचेदा णिय-अप्पणो भावगो पयत्तेण।
आइरिओ बहुपुण्णो भववइदरिणीतरणतरणी॥१॥

निज आतम उद्धार हेतु जो साधु बने हैं भावों से
साथ-साथ जग का कल्याणक बने सूरि सद्भावों से।
स्वयं पुण्य से बने, पुण्य से लाभ मिले आचारज का
भव वैतरणी पार करन को नाव मिली फिर अचरज क्या॥१॥

अन्वयार्थ : [जगदुद्धारगचेदा] जगत् के उद्धारक आत्मा **[पयत्तेण]** प्रयत्न से **[णियअप्पणो]** अपनी आत्मा की **[भावगो]** भावना करने वाले **[आइरिओ]** आचार्य **[बहुपुण्णो]** बहुत पुण्य वाले हैं जो **[भव-वइदरिणीतरण-तरणी]** भव-वैतरिणी से तरने के लिए लघुनौका हैं।

भावार्थ : आचार्य परमेष्ठी जगत् के उद्धारक आत्मा हैं। आचार्य देव प्रयत्न पूर्वक अपनी आत्मा की भावना करते हैं। व्यवहार और निश्चय पंचाचार आत्मा के अनन्य गुण हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, वीर्याचार, तपाचार और चारित्राचार इन पंच आचारों/आचरण का स्वयं पालन करते हैं और अन्य भव्य आत्माओं को कराते हैं। संसार रूपी वैतरणी नदी को तरने के लिए दीक्षा-शिक्षा और प्रायश्चित्त देकर भव से पार लगाते हैं, इसलिए आचार्य परमेष्ठी ही संसार से तराने वाली नाव हैं। आचार्य परमेष्ठी बहुत पुण्यवान् आत्मा होते हैं।

आचार्य देव धर्म पताका को फहराते हैं–

बहुजम्मपुण्णदो खलु दिस्सदि मुत्ती गुणभरियदेवस्स।
धम्मस्स वा पदागा विपरिप्फुरदि जस्स लोगम्मि॥२॥

जन्म-जन्म के पुण्य भविक जन जब संचित कर लेते हैं
गुण-गण भरे देह सूरी की दिव्य मूर्ति तब लखते हैं।
सर्व लोक में जिनकी महिमा जैन धर्म को बता रही
उन आचार्य देव की जग में धर्म ध्वजा पथ बता रही॥२॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिनके **[धम्मस्स]** धर्म की **[पदागा वा]** पताका **[लोगम्मि]** लोक में

[विपरिप्फुरदि] स्फुरित होती है। **[गुणभरियदेवस्स]** गुण से भरे उन आचार्य देव की **[मुत्ती]** मूर्ति **[बहुजम्मपुण्णदो]** बहुत जन्मों के पुण्य से **[खलु]** वास्तव में **[दिस्सदि]** दिखती है।

भावार्थ : लोक में जिनके धर्म की ध्वजा बिना बाधा के फहरा रही है। अनेक गुणों से भरे उन आचार्य देव का दर्शन अनेक जन्मों के पुण्य से प्राप्त होता है।

निर्मल कीर्ति को धारण करने वाले आचार्य जयवन्त हों–

जस्स य णिम्मलकित्ती छादयदि चंदिगेव दिगंतराणि।
हिदयं करेदि सीदं ससिमुहसूरी सया जयउ॥३॥

जिनकी जग में निर्मल कीर्ति दिगंतरों में छाती है
जैसे चन्द्र चाँदनी नभ में उजली-उजली भाती है।
चन्द्र तुल्य जिनका मुख मण्डल दर्शन शीतलता देता
रहें सदा जयवन्त जगत में सूरि दर्श अघ हर लेता॥३॥

अन्वयार्थ : [जस्स य] जिनकी **[णिम्मलकित्ती]** निर्मल कीर्ति **[चंदिगेव]** चाँदनी के समान **[दिगंतराणि]** दिगन्तरों को **[छादयदि]** आच्छादित करती है जो **[हिदयं]** हृदय को **[सीदं]** शीतल **[करेदि]** करते हैं **[ससिमुहसूरी]** चन्द्रमा के समान मुख वाले आचार्य **[सया]** सदा **[जयउ]** जयवन्त हों।

भावार्थ : जिन आचार्य की कीर्ति ने चन्द्रमा की चाँदनी के समान दिशाओं के अन्तराल को व्याप्त किया है और जो सभी भव्य जीवों के संसार दुःख से संतप्त हृदय को शीतलता पहुँचाते हैं, चन्द्रमा के मुख समान वह आचार्य सदा जयवन्त रहें।

दीपक के समान प्रकाशमान आचार्य सदा जयवन्त हों–

जो दीवोव्व पयासइ जिणमग्गंणयजुदं हि णिल्लोहो।
वदसमिदिगुत्तिपुण्णो सो आयरिओसया जयउ॥४॥

दो नय की आँखों से सबको गुरुवर पथ दिखलाते हैं
बिना लोभ के ज्यों स्वभाव से दीप प्रकाश दिखाते हैं।
व्रत-समिती-गुप्ति से पूरण पंचाचार परायण हैं
जयवन्तें आचार्य देव जो नर होकर नारायण हैं॥ ४॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णिल्लोहो]** लोभरहित होकर **[दीवोव्व]** दीपक के समान **[णयजुदं]** नय सहित **[जिणमग्गं]** जिनमार्ग को **[पयासइ]** प्रकाशित करते हैं **[सो]** वह **[वदसमिदिगुत्तिपुण्णो]** व्रत, समिति, गुप्ति से परिपूर्ण **[आयरिओ]** आचार्य **[सदा]** सदा **[जयउ]** जयवन्त हों।

भावार्थ : जो आचार्य परमेष्ठी जिनमार्ग को किसी एक नय से नहीं प्रकाशित करते हैं किन्तु व्यवहार और निश्चय नय से प्रकाशित करते हैं। जिनेन्द्र मार्ग को प्रकाशित करने में वह ख्याति-पूजा-लाभ का लोभ नहीं रखते हैं किन्तु दीपक की तरह निर्लिप्त भाव से जगत् को ज्ञान प्रकाश देते हैं। व्रत, समिति और गुप्ति से वह आचार्य परिपूर्ण होते हैं। ऐसे आचार्य परमेष्ठी सदा जयवन्त हों।

तीर्थंकर की वाणी को पीने एवं पिलाने वाले आचार्य जयवन्त हों–

तित्थयर-दिव्वझुणी मइअंजुलिणा हि सूरिणा पीदो।
पाययइ पुणो अण्णं सो आयरिओ सया जयउ॥५॥

तीर्थंकर की दिव्य ध्वनी का अति अथाह वच पान किया
अपनी मति अंजुलि से जिनने पिया स्वयं फिर पिला दिया।
जो पाया वह बाँट रहे हैं निज-पर उपकारक आचार्य
रहें सदा जयवन्त जगत में परमेष्ठी पद धारक आर्य॥५॥

अन्वयार्थ : [सूरिणा] आचार्य ने **[तित्थयरदिव्वझुणी]** तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को **[मइअंजुलिणा]** मति रूपी अंजुलि से **[हि]** निश्चय से **[पीदो]** पिया है **[पुणो]** पुनः वह **[आयरिओ]** आचार्य **[सया]** सदा **[जयउ]** जयवन्त हों।

भावार्थ : आचार्य परमेष्ठी अपनी बुद्धि रूपी अंजुलि से तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का पान करते हैं। भगवान महावीर की ध्वनि को गौतम गणधर ने पीया। उनके बाद अंग-पूर्व के एकदेश के ज्ञाता मुनियों की परम्परा छह सौ तेरासी (६८३) वर्ष तक चली। इसके बाद भी होने वाले आचार्य यथालब्ध जिनवाणी को अपनी बुद्धि से क्षयोपशम के अनुसार स्वयं ग्रहण करते हैं और अन्य भव्य जीवों को भी प्रदान करते हैं। इसी उपकार के कारण परमेष्ठी सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे आचार्य सदैव जयवन्त हों।

आचार्य की विशेषता और बताते हैं–

जो खाईलाहेण ण कुणदि एगंतगेहिं संमोहं।
णेव विणासइ समिदिं सो आयरिओसया जयउ॥६॥

मत एकान्त समर्थन करने वालों से ना घुले मिले
ख्याति लाभ की इच्छा से ना, मान दिलाते मान मिले।
नहीं प्रतिष्ठापन, ईर्यादिक समिति गुप्ति का नाश करें
वह आचार्य परम परमेष्ठी जयवन्ते भवि पाप हरें॥६॥

अन्वयार्थ : [जो] जो आचार्य **[खाईलाहेण]** ख्याति लाभ से **[एगंतगेहिं]** एकान्त मती लोगों से **[संमोहं]** संमोह **[ण कुणदि]** नहीं करते हैं **[समिदिं]** और समिति को **[णेव विणासइ]** विनष्ट नहीं करते हैं **[सो आयरिओ]** वह आचार्य **[सया जयउ]** सदा जयवन्त हों।

भावार्थ : लोक में कलिकाल के कारण एकान्तमतियों का बहुत उत्कर्ष देखा जाता है। उन्हें अपने प्रभाव में लेकर लोक ख्याति की इच्छा करना ठीक नहीं है। ऐसा करने में उनका आदर, उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है जिससे सम्यग्दर्शन में दोष तो लगता है साथ ही उनका एकान्त अभिप्राय और दृढ़ होता है। जो आचार्य ख्याति, लाभ के लोभ में आकर उनसे मोह करके उन्हें अपना बनाकर अपनी मान-बढ़ाई बढ़ाते हैं तथा जो समिति पालन में तत्पर नहीं रहते हैं वह धर्म की हानि करते हैं। जो धर्म की हानि नहीं करते हैं, वह आचार्य जयवन्त होवें।

शिष्यों की रक्षा करने वाले वह आचार्य जयवन्त हों–

जो णट्टमग्गजीवे संबोहिय देदि सम्मचारित्तं।
रक्खदि पुणो वि सिस्से सो आयरिओसया जयउ॥७॥

मार्ग भ्रष्ट जो जीव हैं उनको सम्बोधन देकर
सम्यक् चारित ग्रहण कराते शिव सुख का लालच देकर।
फिर उस शिष्य की रक्षा करते विषय मोह से पापों से
सो जयवन्त रहें आचारज पितु सम पालें प्राणों से॥७॥

अन्वयार्थ : [णट्ठमग्गजीवे] मार्ग भ्रष्ट जीवों को **[जो]** जो आचार्य **[संबोहिय]** संबोधन देकर **[सम्मचारित्तं]** सम्यक् चारित्र **[देदि]** देते हैं **[पुणो वि]** फिर **[सिस्से]** शिष्यों की **[रक्खदि]** रक्षा करते हैं **[सो]** वह **[आयरिओ]** आचार्य **[सया जयउ]** सदा जयवन्त हों।

भावार्थ : जो जीव मार्ग से भटके हुए हैं। उन्हें किस मार्ग पर चलने से उत्तम सुख की प्राप्ति होगी? यह जिन्हें ज्ञात नहीं है, उन्हें ज्ञान देकर मार्ग पर लगाते हैं और सम्यक् चारित्र प्रदान करते हैं। चारित्र की

शिक्षा और संस्कार देने के बाद उनकी रक्षा करते हैं। पालन-पोषण में तत्पर वह आचार्य देव सदा जयवन्त हों।

उपसंहार करते हुए कहते हैं–

विणीद-भावेण धरेदि भारं
वदस्स सिस्सस्स महाबली जो।
सो दिव्ववेजो भवदुक्खणासी
आरोग्गबोहिं खलु देउ सत्तिं ॥ ८॥

महाव्रतों का भार धारते निज आतम में बन अति नम्र
और शिष्य समुदाय पालते महाबली जो पूरी उम्र।
भव दुख रोग विनाशन हेतू दिव्य वैद्य बनकर आए
उनसे भक्त प्रार्थना करके बोधि-निरोग-शक्ति पाए॥८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**महाबली**] महाबलवान् [**वदस्स**] व्रत के [**सिस्सस्स**] और शिष्य के [**भारं**] भार को [**विणीदभावेण**] विनीत भाव से [**धरेदि**] धारण करते हैं [**सो**] वह [**भवदुक्खणासी**] संसार दु:ख का नाश करने वाले [**दिव्ववेज्जो**] दिव्य वैद्य हैं [**खलु**] निश्चित ही वह हमें [**आरोग्गबोहिं**] आरोग्य बोधि और [**सत्तिं**] शक्ति को [**देउ**] देवें।

भावार्थ : जैसे कोई दैवीय वैद्य रोगी का दुःख दूर कर देता है वैसे ही आचार्य देव संसार दुःख को नाश करने वाले वैद्य हैं । वैद्य स्वयं औषधि के भार को रखता है वैसे ही आचार्य स्वयं व्रतों के भार को धारण करते हैं। जैसे वैद्य अपने रोगी की चिकित्सा नम्र बनकर करता है वैसे ही शिष्य को और स्वयं अपने व्रतों को जो नम्रभाव से पालनपोषण करते हैं, वह बहुत ही सहिष्णु होते हैं । महाबलवान् और महान् धीर वह आचार्य हमें शक्ति प्रदान करें और आरोग्य लाभ तथा बोधि प्रदान करें।

12. बहुसुदभत्ती

बहुश्रुतवान् कौन हैं?

सिद्धंतपारगा जे अइसरला अप्पसंथुदीमुक्का।
कम्मविसोहि-णिमित्तं पढंति पाढयंति वंदामि॥१॥

जो सिद्धान्त महाशास्त्रों का पार पा लिए, सरलमना
फिर भी आत्म प्रशंसा बिन हैं श्रुत भक्ति से शुद्धमना।
कर्म निर्जरा कारण पढ़ते और पढ़ाते भविजन को
बहुश्रुतधारक पाठक मुनि को वन्दन है मतिवर्धन हो॥१॥

अन्वयार्थ : [जे] जो **[सिद्धंतपारगा]** सिद्धांत के पारगामी हैं **[अइसरला]** अति सरल हैं **[अप्पसंथुदीमुक्का]** अपनी स्तुति करने से रहित हैं और **[कम्म-विसोहि-णिमित्तं]** कर्म विशुद्धि के निमित्त **[पढंति]** पढ़ते हैं **[पाढयंति]** तथा पढ़ाते हैं **[वंदामि]** उनकी वंदना करता हूँ।

भावार्थ : बहुश्रुत भक्ति में मुख्यतया बहुत श्रुत को धारण करने वाले साधु परमेष्ठी की भक्ति है। ऐसे साधु परमेष्ठी की भक्ति से श्रुतज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है। श्रुत अर्थात् जिनवाणी जो द्वादशांग शास्त्र हैं। बारह अंगों से युक्त अर्थ वाले शास्त्र तो आज उपलब्ध नहीं हैं फिर भी जितना भी आगम उपलब्ध है उसमें सिद्धान्त आगम को हृदय में धारण करने वाले पूज्य हैं। वर्तमान में जो सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम आदि उपलब्ध हैं उनका ज्ञान विशिष्ट क्षयोपशम के धनी आत्मा को ही होता है। उस सिद्धान्त ज्ञान को धारण करके भी जो गर्व से उद्धत न हों किन्तु सरल हों वे मुनिराज बहुश्रुत से सहित हैं।

श्री धवल ग्रन्थ में कहा है कि-"जो बारह अंगों के पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थ के अनुकूल प्रवृत्ति करने में या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श करने को बहुश्रुत भक्ति कहते हैं। उससे भी तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है, क्योंकि यह भी दर्शन विशुद्धता आदि शेष कारणों के बिना संभव नहीं है।"

ऐसा भव्य आत्मा अपनी आत्म स्तुति नहीं करता है अर्थात् अपने मुंह से अपनी बढ़ाई नहीं करता है। वह विचार करता है कि पहले के मुनिराज अपार श्रुतज्ञान को धारण करके भी मौन रहते थे। एकान्त में वास करते थे। आज तो बहुत थोड़ा सा ज्ञान है उसे पढ़कर हम अभिमानी बनेंगे तो श्रुत-ज्ञानावरण का बन्ध होगा। अल्प श्रुत को धारण कर लेने मात्र से हमारा कल्याण नहीं हो जाएगा किन्तु कल्याण होगा

मोह की कमी होने से और आत्म विशुद्धि बढ़ने से। हमारा ज्ञान तो क्षयोपशम वाला है जो कमती-बढ़ती होता रहता है । इस ज्ञान का कब लोप हो जाए? कोई भरोसा नहीं है। यह क्षयोपशम ज्ञान कर्म के क्षयोपशम के अधीन है, ऐसा विचार करके सम्यक् श्रुतज्ञानी मौन रहता है। ये विचार कुछ इस प्रकार हैं–

ज्ञान हो, फिर भी मौन रहूँ
ऐसा ज्ञानी बनूँ
शक्ति हो, फिर भी क्षमा रखू
ऐसा ध्यानी बनूँ।
पंख हों, उड़ा न करूँ
ऐसा परिन्दा बनूँ
मन हो मचला न करूँ
ऐसा मुनिन्दा बनूँ॥

बहुत कठिन होता है जब कोई अपनी योग्यता का ढिंढोरा न पीटे । जिस ज्ञानी आत्मा को इस लोक के साथसाथ परलोक भी दिखता है वह धैर्य धारण करके अपनी योग्यता को और बढ़ाता जाता है।

ऐसा भाव करना और संयमित रहना किन्हीं-किन्हीं को अपराध दिखता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। आप सोच सकते हैं कि शास्त्रों में कहा है- '**ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।**' अर्थात् जिन धर्म की प्रभावना ज्ञान, तप, जिनपूजा और विद्या के अतिशय से करनी चाहिए। और यहाँ आप ज्ञान रखकर मौन रहने की बात कर रहे हैं, क्या यह विरोधाभास नहीं है? नहीं है । हे भ्रात! फूल में गन्ध होती है तो फूल की ओर अपने आप सबकी नासा खिंच आती है। वह फूल स्वयं चौराहे पर बैठकर अपनी गन्ध से परिचय दूसरों को कराये तो यह मूर्खता ही है । ज्ञान का प्रदर्शन किए बिना भी ज्ञानी आत्मा दूसरों को देता है। वह पढ़ाता है परन्तु बदले में कुछ नहीं चाहता है। यहाँ पढ़ना-पढ़ाना ज्ञान का प्रदर्शन नहीं समझना किन्तु ख्याति, पूजा, लाभ की इच्छा से ज्ञान का प्रदर्शन बंध-कारक है। कोई ज्ञानी यदि अपने ज्ञान से अनेक ज्ञानियों को तैयार कर देता है तो वह महान् पुण्य का कार्य करता है। जिनवाणी की परम्परा को आगे बढ़ाना, जिन धर्म की प्रभावना करना तीर्थंकर सदृश पुण्य बंध का कारण है । जो ज्ञानीजन कर्म की विशुद्धि के लिए श्रुत का अध्ययन करता और कराता है उनकी मैं वंदना करता हूँ। वह आचार्य परमेष्ठी हों, उपाध्याय परमेष्ठी हों, या साधु परमेष्ठी, मैं सभी श्रुतज्ञानधारी आत्माओं की वंदना करता हूँ।

तत्त्वज्ञानी की वंदना करते हुए कहते हैं–

सुदणाणजलेण सया सयंवि पहाणं करेदि कारयदि।
देहप्पविब्भमलयं कहेदि तच्चं णमंसामि॥ २॥

शास्त्र ज्ञान के भाव ज्ञान से शीतल जल से नहा रहे
स्वयं धो रहे विधि-अघ रज को पाप कलुषता बहा रहे।
देह आत्म का विभ्रमनाशी तत्त्व दिखाकर भविकों को
स्वयं स्वस्थ हैं स्वस्थ बनातेन नमूँ-नमूँ श्रुत श्रमिकों को॥२॥

अन्वयार्थ : [सुदणाणजलेण] श्रुतज्ञान के जल से **[सया]** सदा **[सयं वि]** स्वयं भी **[पहाणं]** स्नान **[करेदि]** करते हैं **[कारयदि]** और कराते हैं **[देहप्पविब्भमलयं]** देह और आत्मा के विभ्रम का नाश करने वाले **[तत्त्वं]** तत्त्व को **[कहेदि]** कहते हैं **[णमंसामि]** उन्हें नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : आत्मा की निर्मलता के लिए श्रुतज्ञान ही जल है जिससे आत्मा विशुद्ध होती है। जैसे-जैसे आत्मा श्रुतसागर में अवगाहन करता जाता है, वैसे-वैसे देह और आत्मा का भ्रम विलीन होता जाता है। देह और आत्मा का भ्रम जिससे नाश हो, वही तत्त्व है। तत्त्व का कथन करने वाले उन आत्मा को मेरा नमस्कार है।

हे भव्य आत्मन् ! ऐसा नहीं समझना कि देह और आत्मा का भेद विज्ञान मात्र समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़कर ही होता है किन्तु प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को पढ़कर भी होता है। पुराण ग्रन्थों में ऐसे बहुत से उदाहरण आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन, वैराग्य और धर्म की प्राप्ति अपने या किसी अन्य जीव के भवों का ज्ञान करने से हो जाता है। कितने ही जीव भव-भवान्तरों को सुनने मात्र से वैराग्य को प्राप्त हो दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। फिर अन्य अनुयोग के ज्ञान से आत्मा निर्मल होता है।

प्रथमानुयोग से पुण्य का फल, महापुरुषों की जीवन शैली ज्ञात होती है । करणानुयोग से भगवान् की सर्वज्ञता का विश्वास होता है। चरणानुयोग से वर्तमान में आचरण की विधि ज्ञात होती है। द्रव्यानुयोग से आत्म तत्त्व की वीतरागता का ज्ञान होता है। इसलिए हे भव्य ! चारों अनुयोगों पर श्रद्धान रखो।

पुनः उस श्रुतज्ञान को नमस्कार करते हैं–

कुमदंधयारबहुलं जम्मजरामरणदुक्खदीहकरं।
खिप्पदि य अण्णतित्थं सव्वसमत्थं णमंसामि॥३॥

जन्म जरा मृति वर्धन कारक दुःखों की नित ही भरमार
अन्धकार में रखने वाले कुमति प्रदायक तीर्थ अपार।

अनेकान्त से खण्डित करके मण्डित करते जिनमत को
जिनवर भाषित श्रुत को नमता सर्वसमर्थ बना श्रुत जो॥३॥

अन्वयार्थ : [कुमदंधयार बहुलं] कुमतों के अन्धकार की बहुलता वाले **[जम्म-जरा-मरण-दुक्खदीहकरं य]** जन्म, जरा, मृत्यु के दुःख को बढ़ाने वाले **[अण्णतित्थं]** अन्य तीर्थों को **[खिप्पदि]** जो दूर करता है **[सव्वसमत्थं]** सर्व समर्थ उस श्रुत को **[णमंसामि]** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : हे भव्य ! अन्य शास्त्रों में मिथ्या बुद्धि का बहुत अन्धकार है। मिथ्या कथानकों में पात्रों का वर्णन ज्ञानियों की बुद्धि में उपहास कराता है।

जो महापुरुष हुए हैं उनके बारे में अन्यत्र वर्णन कितना विचित्र है? क्या कभी गंगा नदी से पुत्र की प्राप्ति हो सकती है? विचार करो गंगा नदी स्त्री है या किसी नदी का नाम है? यदि स्त्री है तो उसे नदी क्यों कहा? और यदि नदी है तो किसी पानी में से अचानक कोई पुत्र उत्पन्न हो सकता है? जैन दर्शन में आचार्यों ने अनेक गुणों से सम्पन्न जन्हु नामक राजा की गंगा नाम की पुत्री होना बताया है। उसका पराशर राजा से विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसके एक पुत्र की प्राप्ति हुई । उस पुत्र का नाम गांगेय था। यही बाद में भीष्म पितामह के नाम से ख्यात हुए। अन्य पुराणों में इस गांगेय की उत्पत्ति गंगा नदी से कही है। लोक में प्रचलित मान्यता जब बिना विवेक के स्वीकारी जाती हैं तो यही लोक मूढ़ता कहलाती है। टेलीविजन पर महाभारत दिखाई गई। उसमें भी ऐसी ही गंगा देवी को गंगा नदी में से निकलता दिखलाया गया। अविवेकी मोही जन मोह के वशीभूत हो सब देखते हैं। उन्हें सही-गलत का विचार कहाँ रहता है? मन को जो अच्छा लगे वही सही मान लेता है। और कभी-कभी तो इसलिए सत्य रूप में स्वीकार लेता है कि दुनिया ऐसा ही देख रही है, मान रही है।

गंगा नदी में देवी रहती है। वह देवी देव गति की एक स्त्री है। इन देवी-देवताओं के पुत्र नहीं रहते हैं। गंगा नदी में देवी रहने से गंगा को ही देवता मान लिया और उसमें नहाकर अपने आप को पवित्र मान लिया। गंगा को तीर्थ बना दिया। भला! विचार करो, वास्तविकता क्या थी? और लोगों ने मान्यता क्या बना ली? गंगा आदि नदियों में व्यन्तर आदि देवों का आवास होता है। ये देव पर्वतों, वृक्षों, वनों में सर्वत्र निवास करते हैं । इनके रहने से उन सब स्थानों को देवस्थान मानकर भय से लोग उनकी पूजा करते हैं । ऐसी मूढ़ता विश्व में सर्वत्र व्याप्त है।

गंगा नदी में रहने वाली देवी गंगा कहलाती है। लेकिन वह देवी भगवान् तो नहीं है। यदि हम पानी को पानी और देवी को देवगति का जीव मानते हैं तब तो यह विवेक ज्ञान है। अन्यथा अविवेक है । जैन पुराणों के पढ़ने से वास्तविक स्थिति का बोध होता है।

भगवान् आदिनाथ के समय की बात है। जब भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार से सुलोचना का स्वयंवर विधि से विवाह हुआ था। जब सुलोचना गंगा नदी से हाथी पर बैठकर नदी पार कर रही थी तो सरयू नदी के संगम पर एक काली देवता ने उसे पकड़ लिया। उस काली देवी ने पूर्व भव के बैर से सुलोचना सहित हाथी को डुबाने का प्रयास किया। हाथी को डूबता देखकर तट पर खड़े हेमांगद आदि कुमार बड़े वेग से उस महानदी में कूद पड़े। इधर सुलोचना अर्हन्त नाम का उच्चारण मन में करने लगी। सुलोचना ने उपसर्ग समाप्त न होने तक आहार, शरीर और भोग-उपभोग के सभी पदार्थों का त्याग कर दिया। उस समय सुलोचना गंगा देवता की तरह बहुत लोगों के साथ गंगा नदी में डूबती चली जा रही थी। तभी गंगा कूट पर रहने वाली गंगा देवता का आसन कंपा। और उसने सबको तट पर लाकर छोड़ दिया। दुष्ट कालिका को खूब बुरा भला कहा और गंगा देवता ने सुलोचना को जयकुमार से मिला दिया। तत्काल गंगा देवी ने विक्रिया से गंगा के तट पर समस्त सम्पदाओं से सहित एक महल बनाया और रत्न सिंहासन पर बिठाकर सुलोचना की पूजा की। और कहने लगी- हे सुलोचने! आपने पूर्व भव में जो मुझे पंच नमस्कार मंत्र दिया था, उसके प्रभाव से मैं इन्द्र की वल्लभा रानी गंगा देवता हुई हूँ।

इसी तरह हनूमान्, सुग्रीव जैसे महापुरुषों को बंदर कहना मूर्खतापूर्ण है। समझ में नहीं आता कि लोग बंदर को भगवान् कैसे मान लेते हैं? भगवान् बंदर है या बंदर भगवान् है, विवेक से विचार करो। जब तक ऐसी अनेक मिथ्या मान्यताओं को दूर करके हृदय का अंधकार नष्ट नहीं होता तब तक सम्यक्त्व रूपी सूर्य का उदय कैसे होगा?

सब प्रकार का धर्म करके भी मिथ्या मान्यताओं का पोषण करने वाला जीव अपने संसार को बढ़ाता ही है। कुछ लोग इस तरह की मान्यताओं से बच जाते हैं। जिनेन्द्र भगवान् के तीर्थ में दीक्षित हो जाते हैं पर दूसरी देवी के चक्कर में पड़ जाते हैं । गंगा को छोड़ा तो पद्मा आ गई। चारों अनुयोगों के जानकार होकर भी भीतरी मिथ्यात्व का अन्त जब तक नहीं होता तब तक आत्मा मिथ्यात्व का पोषण किसी न किसी तरह करता है। जब भीतर मिथ्यात्व बैठा रहता है तब ज्ञानी आत्मा भी शास्त्रों में से उसी तरह के उद्धरण खोजता है जिससे उसके अभिप्राय की पुष्टि हो। किसी न किसी तरह खींचतान कर उन शास्त्रों की बातों का सहारा लेकर अपने भीतर की मान्यता को ही पुष्ट करता है, शास्त्र की मान्यता को नहीं। जब वीतराग श्रमण सरागी देवी के उपकार को मनवाने के लिए संदर्भ देता है तो वह गृहस्थ भी नहीं रहा। देखो! अपने ऊपर उपकार करने वाली उस गंगा देवी की सुलोचना ने पूजा-आरती नहीं की किन्तु उस देवी ने सुलोचना को सिंहासन पर बिठाकर पूजा । न तो सुलोचना और न ही जयकुमार उस गंगा के उपकार के गीत गाते रहे । एक गृहस्थ होकर भी देवी-देवताओं की न पूजा करते हैं और न उनके गीत गाकर पूजा करवाते हैं, फिर जब एक श्रमण ऐसा करे, समझना कि कलिकाल का प्रभाव है। सुलोचना

विचार करती है कि- 'पिछले जन्म में मेरे साथ क्रीड़ा कर रही सखी को सर्प ने काट लिया। मैंने उसे तत्काल नमस्कार मंत्र सुनाया और उसी उपकार को चुकाने यह गंगा देवी यहाँ आयी है। वह मेरी सखी ही इस प्रकार मरण करके गंगा देवी बनी। उस सखी को पढ़ाने के लिए उसके पिता ने उसे मुझे सौंपा था।' विचार करो! अपने प्राण बचाने वाली उस देवी के पैर भी सुलोचना ने नहीं पड़े। जयकुमार ने उसकी आरती नहीं की। उलटा उस देवी ने सम्यग्दृष्टि जयकुमार और सुलोचना की पूजा-वन्दना की। बन्धो! उपकारी और पूज्य में अन्तर समझो। इधर लोग जल, हवा, सूर्य, अग्नि, पर्वत के उपकारों को मानकर ही उन्हें पूज रहे हैं और तुम भी यहाँ उन देवी-देवताओं के उपकार को दिखा रहे हो, पूज रहे हो, पुजवा रहे हो। एक गड्ढे से निकले दूसरे में गिर पड़े। तुम्हारी इस दयनीय दशा को देखकर तुम पर तरस आता है। बेटा ! भीतर का मिथ्यात्व बाहरी नग्नता से ढकता नहीं है । पूज्यता के लक्षण अलग होते हैं। पूज्यता आत्मा में लगी कषायों के नाश से आती है। उपकार तो कोई भी कर देता है? उपकारी का उपकार मानना कृतज्ञता है पर उसे पूज्य मान लेना अज्ञता है। किस पर उपकार किया था उस देवी ने? अरे ! जिन पार्श्वनाथ पर किया था, वे मानते उसका उपकार। उन्होंने तो कुछ नहीं माना और बावले भक्त आज तक बावले बने हुए हैं।

यह श्रुत ऐसी समस्त मिथ्यामान्यताओं को अपने वचनों की तरंगों से दूर फेंक देता है। इसीलिए जिनेन्द्र भगवान् का तीर्थ सभी तीर्थों से विशिष्ट है। ऐसे तीर्थ को नमस्कार हो।

रत्नत्रय संयुक्त श्रुतज्ञानियों की पदरज हमारे शिर पर हो–

विणएण सुदमधीदं गुरु सयासम्मि जेहि महामुणिहिं।
रयणत्तय-संजुत्ता तेसिं पदरयं हवे सिरसि॥४॥

महामुनीश्वर जिनने सीखा गुरु पद निकट शास्त्र का ज्ञान
विनय भरी निज हृदय वेदि पर किया मनन चिंतन संधान।
रत्नत्रय संयुक्त ऋषीवर श्रुतज्ञानी जिनमत आधार
उनकी पदरज से मम मस्तक शोभित होता हर्ष अपार॥४॥

अन्वयार्थ : [विणएण] विनय से **[जेहि महामुणिहिं]** जिन महामुनियों ने **[गुरु-सयासम्मि]** गुरु के निकट **[सुदं]** श्रुत का **[अधीदं]** अध्ययन किया **[रयणत्तय-संजुत्ता]** रत्नत्रय से संयुक्त **[तेसिं]** उन श्रमणों की **[पदरयं]** पदरज **[सिरसि हवे]** शिर पर होवे।

भावार्थ : विनय से जिन महामुनियों ने गुरु के पास रहकर श्रुत का अध्ययन किया है उनका ज्ञान

ही पवित्र ज्ञान है। विनय से अर्जित किया गया ज्ञान मद उत्पन्न नहीं करता है।

हे भव्य ! जितना हो सके गुरु सान्निध्य में रह । गुरु के पास रहकर उनकी सेवा से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है। गुरु की विनय छल-कपट से मत कर। गुरु की सेवा से स्वयं ऐसा आशीष मिलता है जो ज्ञान का दुरुपयोग होने से बचाता है । आचार्य कुन्द-कुन्द ने पंचास्तिकाय में ज्ञान के दुरुपयोग को पाप कहा है । ज्ञान का प्रचार-प्रसार हो या न हो किन्तु उसका दुरुपयोग न हो यही सम्यग्ज्ञान की भावना है।

हे आत्मन्! शास्त्र ज्ञान से बढ़कर गुरु के अभिप्राय को समझना है। जब तेरी बुद्धि गुरु के संकेतों को समझने लगे तो तू समझदार हो गया और जब तेरी बुद्धि उन संकेतों के अनुसार आचरण करने लगे तो तू खेवनहार हो गया और जब तेरी बुद्धि स्वयं आचरण में न ढलकर दूसरों को उन संकेतों को समझाने लगे तो तू मंझदार में डूब गया।

श्रुतज्ञान रत्नत्रय की आराधना के लिए है। श्रुतज्ञान सुनने से ही नहीं होता है किन्तु देखने से भी होता है। विनय का पहला अर्थ है ख्याति, पूजा की इच्छा के बिना नमन में प्रवृत्ति करना। विनय का दूसरा अर्थ है विशिष्टो नयो विनयः। नय नीति को कहते हैं। विशिष्ट नीतिवान् बनना विनय है। विद्या ददाति विनयं' इस सूक्ति के दोनों अर्थ जानना। विद्या आत्मा को विनयवान् बना देती है और विद्या आत्मा को नीतिवान् बना देती है। विनय का तीसरा अर्थ है विशेष रूप से नयों का जानकार । जो विद्याध्ययन करता है उसे सातों नयों का जानकार होना चाहिए। सप्त नयों का प्रयोग करना और उनका महत्त्व समझ में आना चाहिए। सातों नयों का जो सम्यक् प्रयोग करना जानता है वही विनयी है। विनय से ही विनेय शब्द बनता है जो शिष्य के अर्थ में आता है। दोनों ही शब्द 'नी' धातु से बने हैं जिसका अर्थ है ले जाना। विशेष गुण से ले जाने वाला गुण विनय है । जो लक्ष्य तक पहुँचाता है, वह विनय गुण ही है और जो पहुँचता है वह विनेय/शिष्य है।

धन्य हैं वह चन्द्रगुप्त श्रमण, जो कि एक महान् सम्राट होकर भी भद्रबाहु के चरणों की पूजा करते थे। गुरु भक्ति उनमें कूट-कूट कर भरी थी। गुरु चरणों का ध्यान करते हुए उन्होंने समाधिमरण किया था। ऐसे श्रमणराज चन्द्रगुप्त के चरणों में नमन करता हूँ जिन्होंने गुरु की आज्ञा से कान्तार चर्या की। जंगल में आहार की गवेषणा की। आहार विधि न मिलने पर लौट आए और गुरु चरणों में निवेदन किया। गुरु ने शास्त्रोक्त विधि से आहार लेने को कहा। धन्य हैं वह श्रमणराज! जो अपने व्रतों में इतने अडिग थे कि उनकी दृढ़ता देखकर जंगल में भी देवों ने उन्हें आहार कराया। हम उन चन्द्रगुप्त मुनि के पदों की रज अपने शिर पर धारण करते हैं।

बहुश्रुत को जानने वाले मुनियों की वन्दना करते हुए दो गाथाएँ हैं–

विजति जाणि संपहि सत्थाणि जीवकम्मकंडाणि।
सव्वाणि विजाणंति बहभत्तीए णमंसामि।।५।।

हीन काल यम के मुख से जो बचे हुए हैं शास्त्र महा
न्याय, पुराण और अध्यातम जीवकाण्ड सिद्धान्त अहा।
उन सबको जो जान रहे हैं बहुश्रुत मुनिजन कहलाते
उनके चरण कमल की भक्ति मन हरती है सुख पाते।।५।।

अन्वयार्थ : [संपहि] वर्तमान में **[जाणि]** जितने **[सत्थाणि]** शास्त्र **[जीव-कम्म-कंडाणि]** जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदि **[विजति]** विद्यमान हैं **[सव्वाणि]** उन सभी को **[विजाणंति]** जो जानते हैं **[बहुभत्तीए]** बहुत भक्ति से **[णमंसामि]** उन्हें नमस्कार है।

भावार्थ : वर्तमान में अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं । सभी शास्त्र चार अनुयोगों में किसी न किसी अनुयोग में गर्भित होते हैं । यहाँ विशेष रूप से जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड को जानने वाले आत्मा को नमस्कार किया है। यद्यपि मूल गाथा में यह नहीं लिखा है कि जीवकाण्ड आदि का जानकार आत्मा श्रावक है या श्रमण, फिर भी यहाँ श्रमण का ग्रहण किया है, ऐसा समझना। पूजन, अर्चन नमस्कार के योग्य श्रमण ही होते हैं। ऐसे श्रमण जब विशेष रूप से कम से कम जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदि सिद्धान्तों के ज्ञाता हों तो वह विशेष रूप से नमस्कार योग्य हो जाते हैं।

हे आत्मन् ! इन शास्त्रों को अध्यात्म ग्रन्थ कहा है। यह सिद्धान्त ग्रन्थ परम अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को जाने बिना आत्मा और कर्म का सही श्रद्धान नहीं होता है। समयसार आदि परम अध्यात्म ग्रन्थों का भी रहस्य उन्हें ही समझ में आता है जो इन सिद्धान्त ग्रन्थों के समीचीन ज्ञाता होते हैं।

अरे! जीवात्मन् ! जीवकाण्ड को जाने बिना जीवात्मा के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान असम्भव है। इस संसार में अनन्त जीवात्माएँ हैं । वे किन-किन गतियों में किस तरह जन्म-मरण करती हैं। इसका अध्ययन जीवकाण्ड से होता है।

यदि कहो कि जीवकाण्ड से तो अशुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है और समयसार पढ़ने से शुद्धात्मा का ज्ञान होता है इसलिए हमें जीवकाण्ड आदि पढ़ने से क्या प्रयोजन?

यदि तुम इस प्रकार सोचते हो तो निश्चित ही किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित हो । तुमने जिनवाणी को सम्यक् रीति से नहीं समझा। तुम किसी असंयमी एकान्त निश्चयवादी के उपदेश सुनकर ऐसा कह रहे हो।

भव्यात्मन् ! जीवकाण्ड में एकान्त रूप से अशुद्ध आत्मा का ही ज्ञान नहीं दिया जाता है किन्तु अशुद्ध दशा का कथन करके शुद्ध दशा का कथन भी किया जाता है । जब चौदह गुणस्थानों का वर्णन करते हैं तो अन्त में सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का भी कथन करते हैं । मार्गणा में जीव को पहचानते हुए भी प्रत्येक मार्गणा में अन्त में मार्गणा रहित जीवों का कथन किया जाता है । गति मार्गणा में पंचम गति का वर्णन करते हुए सिद्धों का वर्णन करते हैं । इसी तरह काय आदि मार्गणा में जानना।

और सुनो! इन्हें सिद्धान्त ग्रन्थ भी इसलिए कहा जाता है कि सिद्धों का अन्त में कथन होने से सिद्धान्त कहलाता है।

ऐसी धारणा मत बनाओ कि सिद्धान्त ग्रन्थों के पढ़ने से एकान्ततः अशुद्ध आत्मा का ही ज्ञान होता है। वास्तविकता यह है कि अभी हमें अशुद्ध आत्माओं के बारे में भी पूर्ण ज्ञान नहीं है। केवल संसारी आत्मा, चार गति में भटकने वाला आत्मा या कर्म से बन्ध आत्मा अशुद्ध आत्मा है, इतना सामान्य से जानना अशुद्ध आत्मा का पूर्ण ज्ञान नहीं है। जब इन सिद्धान्त ग्रन्थों में एकेन्द्रिय आदि जीवों की संख्या, जीवों की संज्ञा, उनके प्रमाण, भव्य, अभव्य राशि, अनन्त प्रमाण निगोद आदि जीव, भिन्न-भिन्न मार्गणाओं में गुणस्थान आदि का वर्णन पढ़ते हैं तो इन जीवों की भावात्मक, कषायात्मक, जन्म-मरणात्मक सूक्ष्म परिणति का ज्ञान होता है । जब इस परिणति का सच्चा श्रद्धान बनता है तभी अपनी आत्म परिणति को सुधारने का भाव प्रबल बनता है। जब अनन्त संसार में अनन्त आत्माओं के बीच एक अपने आत्मा का अस्तित्व ज्ञात होता है तो कषायें आपोआप शान्त हो जाती हैं और सम्यक् पुरुषार्थ करने का मन बनता है। इन विशेषताओं के ज्ञान से सिद्ध आत्मा में कुछ विशेषता दिखती है, अन्यथा मेरा आत्मा शुद्ध है, कर्म का उदय मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी समयसार की मात्र बातों से आत्मा में पुरुषार्थ जन्य कोई उपलब्धि नहीं होती है अपितु प्रमाद और कषाय ही बढ़ती है।

हे आत्मसिद्धि के इच्छुक! सिद्धान्त ग्रन्थों में आत्मा का विशेष रूप से वर्णन होता है और अध्यात्म ग्रन्थों में सामान्य रूप से आत्मा का कथन होता है। उस सामान्य प्ररूपणा में वस्तु के अखण्ड, अभेद रूप, कर्मातीत अवस्था का वर्णन किया जाता है। प्रारम्भ दशा में वस्तु में इस सामान्य रूप को जानने मात्र से मन स्थिर नहीं होता है। मन की स्थिरता विशेष स्वरूप समझने से ही होती है। सामान्य दशा में रहने की योग्यता अप्रमत्त दशा में मुनिराज को आती है। इससे पहले की दशा में विशेष रूप से मन को स्थिर करके भेदविज्ञान का अभ्यास किया जाता है। वह अभ्यास भी बिना संयम के बनता नहीं है। इसलिए गुणस्थान और मार्गणा के दर्पण में अपना आत्मा देखो और अपनी वास्तविक स्थिति का विचार करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार की गाथा १४ में लिखा है–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥

अर्थात् परम भाव दर्शियों ने जाना है कि शुद्ध स्वरूप एक स्वभाव का अनुभव करने वाले जीव को शुद्ध का उपदेश अर्थात् शुद्ध नय का उपदेश कार्यकारी है और जो अशुद्ध अवस्था में , अपरमभाव में स्थित हैं उनके लिए व्यवहार नय प्रयोजनीय है।

इस गाथा की टीका करते हुए लिखा है कि जो शुद्ध दशा का अनुभव करते हैं ऐसे शुद्ध आत्माओं के लिए ही शुद्धनय का कथन है । इसके अलावा सभी अशुद्ध आत्माओं का व्यवहार नय का ही आलम्बन लेकर ही भेदज्ञान निष्ठ बना जाता है, व्यवहार नय को छोड़कर नहीं।

पुन: कहते हैं–

णच्चा खलु सिद्धतं धवलादिमहाबंध-सुदणाणं।
सुद्धप्प समयसारं झायदि तं पाढगं वंदे॥ ६॥

धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ के जो रहस्य को जान रहे
वे ही समयसार को पढ़कर निज आतम को जान रहे।
कर विश्वास निजातम पर जो शुद्धातम को ध्याते हैं
उन पाठक साधु के चरणन नित हम शीश झुकाते हैं॥ ६॥

अन्वयार्थ : [धवलादि-महाबंध-सुदणाणं] धवल आदि महाबंध श्रुतज्ञान **[सिद्धतं]** सिद्धान्त को **[खलु]** निश्चय से **[णच्चा]** जानकर **[सुद्धप्पसमयसारं]** शुद्धात्म समयसार को **[झायदि]** जो ध्याते हैं **[तं]** उन **[पाढगं]** पाठक की **[वंदे]** मैं वंदना करता हूँ।

भावार्थ : आओ! थोड़ा सा जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की रूपरेखा जान लें। जिस जिनवाणी का आज थोड़ा सा अंश हमारे पुण्य से हमें प्राप्त है उस जिनवाणी का कम से कम नाम भी अपने मुख पे आ जावे तो यह जिह्वा धन्य हो जाए। तीर्थंकर की साक्षात् दिव्य ध्वनि आज हम नहीं सुन सकते तो कोई बात नहीं किन्तु उसी वाणी का कुछ अंश हमारे पास है।

तीर्थंकर भगवान् के द्वारा कहे हुए अर्थश्रुत को गणधर परमेष्ठी ने बारह अंगों में पिरोया। बारह अंगों में निबद्ध इस वाणी को ही द्वादशांग कहा जाता है। बारह संख्या को संस्कृत में द्वादश कहते हैं । द्वादश अंग जिसमें हों वह द्वादशांग शास्त्र हैं। एक-एक विषय का बहुत ही विस्तृत वर्णन करने वाले शास्त्र को अंग का नाम दिया है। अंग अर्थात् अवयव। जैसे अपना शरीर आठ अंगों से मिलकर बना है वैसे ही

जिनवाणी के बारह अंग हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि बारह अंग हैं।

हे भव्यात्मन्! तुमने सुना होगा कि जिनवाणी के बारह अंग और चौदह पूर्व होते हैं, सो ठीक ही सुना है। वैसे तो बारह अंग कहना ही पूर्ण और पर्याप्त है किन्तु बारह अंगों में अन्तिम बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद अंग है। इस अंग के पाँच भेद हैं।

इनमें पूर्वगत जो भेद है उसका विस्तार बहुत है। इस पूर्व के चौदह भेद हैं। इन पूर्व शास्त्रों का विस्तार इतना अधिक है कि चौदह पूर्व पृथक् रूप से कहे जाने लगे। वस्तुतः इनका समावेश बारह अंगों में ही हो जाता है। उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय पूर्व आदि चौदह पूर्वो के नाम हैं। इन अंगों और पूर्वो का विस्तार सहित वर्णन राजवार्तिक आदि ग्रन्थों से जानना।

हे जिनवाणी के आराधक! अभी तो केवल इतना समझो कि वर्तमान में जो कसायपाहुड़ और षट्खंडागम सूत्र ग्रन्थ हैं उनका सम्बन्ध इन्हीं अंग, पूर्व से है। षट्खंडागम सूत्रों को आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबली ने रचा है। कसायपाहुड़ सूत्र गाथा रूप हैं जिन्हें आचार्य गुणधर ने रचा है। इनमें षट्खण्डागम सूत्रों पर आचार्य श्री वीरसेन महाराज ने जो विस्तृत व्याख्या की है उस व्याख्या का नाम उन्होंने श्रीधवल रखा है। वर्तमान में सोलह पुस्तकों में श्रीधवल ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इसी तरह कसायपाहुड़ की जो व्याख्या (टीका) की है उसका नाम श्री जयधवल रखा है। श्री जयधवल की भी सोलह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जो अपने मूल स्वरूप में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। इसी महाबन्ध को कोई-कोई महाधवल कहते हैं, किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि मूल ग्रन्थ आचार्य भूतबली का है जिस पर आचार्य वीरसेन जी की कोई टीका नहीं है। ये सब उनतालीस (३९) ग्रन्थ हैं। श्रीधवल की १५वीं पुस्तक के पीछे एक 'सत्कर्मपंजिका' मूलरूप में संलग्न थी। इस पंजिका का अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं था सो उसका हिन्दी अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे मिला। अभी-अभी इस ग्रन्थ का सोलापुर से प्रकाशन हुआ है। इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थ की चालीस पुस्तकें वर्तमान में श्रुतज्ञान की अमूल्य धरोहर हैं।

इन सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करके शुद्धात्म समयसार को जो ध्याते हैं वह ही वास्तव में उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उनकी मैं वंदना करता हूँ।

अब विरोध का परिहार करते हुए कहते हैं–

जे साहवो दिसंति णयजुगलविरोहमुक्कसव्वत्थं।
सिवपहदेसगमुणिणं बहुभत्तीए णमंसामि।। ७।।

निश्चय और व्यवहार नयों से निर्विरोध सब अर्थ यहाँ
हर पहलू से वस्तु समझते ऐसे साधु विरल यहाँ।

सदा दे रहे धर्म देशना दोनों नय से भक्ती से
बहुश्रुतवन्त महामुनिवरको नमन कर रहा निज मति से॥७॥

अन्वयार्थ : [जे साहवो] जो साधु **[णयजुगल-विरोहमुक्कसव्वत्थं]** दोनों नयों के विरोध से रहित सभी पदार्थों को **[दिसंति]** कहते हैं **[सिवपहदेसगमुणिणं]** शिव पथ दिखाने वाले उन मुनि को **[बहुभत्तीए]** बहुत भक्ति से **[णमंसामि]** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : हे आत्म आराधक! भगवान् जिनेन्द्र की वाणी में सभी प्रकार के अभिप्रायों का समावेश है। अपने अभिप्राय को या दृष्टिकोण को ही नय कहा जाता है। नय आपस में कभी विरोध नहीं रखते हैं फिर उनको जानने वाले विरोध क्यों करें? व्यवहार नय हो या निश्चय नय सब अपनी-अपनी जगह कार्यकारी हैं। जब व्यवहार नय की मुख्यता होती है निश्चय नय मौन हो जाता है और जब निश्चय नय की मुख्यता आती है, व्यवहार नय मौन हो जाता है। कोई भी नय किसी अन्य का विरोध नहीं करता है। यह जैनदर्शन अनेकान्त दर्शन है। इससे तो विरोध का नाश होता है। आचार्य अमृतचन्द्र जी पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहते हैं कि- 'विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्' उस अनेकान्त को नमस्कार हो जो विरोध का नाश करता है।

हे स्याद्वादविज्ञ! प्रत्येक नय कहाँ पर किन जीवों के लिए उपयोग में आता है, यह जान लें। व्यवहार नय तब तक उपयोग में आता है जब तक हम निश्चय को प्राप्त न कर लें और जैसे ही निश्चय नय आता है व्यवहार छूट जाता है।

इस निश्चय की प्राप्ति ध्यान अवस्था में है। ध्यान भी उनका जो वीतराग हैं। वीतराग होकर भी जब निर्विकल्प दशा में बैठे तब ध्यान होता है। ध्यान में ही आत्मानुभव होता है। यह आत्मानुभव शुक्लध्यान में होता है। वर्तमान में शुक्लध्यान नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त अवस्था में किसी-किसी मुनि को अभ्यास दशा में क्षणिक आत्मानुभूति होती है। इससे निचली अवस्था में श्रद्धान, ज्ञानात्मक और निर्णयात्मक परिणति चलती रहती है । गृहस्थ और श्रमण आत्मा का श्रद्धान करके जब भी ध्यान करने बैठता है वह आत्मा की रुचि बढ़ाता है, आत्मा की भावना करता है किन्तु आत्मा का अनुभव नहीं हो पाता है । आत्मा का अनुभव साक्षात् आत्मा का, आत्मा में, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए एकाग्र होने पर होता है । यही स्वरूप का अनुभव है।

हे अनेकान्तमर्मज्ञ! व्यवहार नय से आत्मा को जानो और निश्चय नय से भी आत्मा को जानो। नय जानने का एक साधन है । नय साध्य नहीं है । शुद्ध आत्मा का जब जानना होता है तब निश्चय नय को साधन बनाया जाता है। जब आत्मा को गुणस्थान, मार्गणा के द्वारा आत्मा जानते हैं तो व्यवहार नय साधन बन जाता है। यह तो हुआ नय के द्वारा आत्मा की शुद्ध-अशुद्ध दशा का ज्ञान। ज्ञान होने से हमें निश्चय की प्राप्ति हो गई ऐसा नहीं समझना। ज्ञान के माध्यम से हमने दोनों पहलुओं का विचार किया है। ज्ञान ही नय

हैं। वक्ता का अभिप्राय नय है । आत्मवस्तु को दोनों नयों से जानकर जब हम शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने का, उसका अनुभव करने का पुरुषार्थ करते हैं तो व्यवहार नय से जानने में आने वाली अनुभूति धीरे-धीरे विलीन होती जाती है। निश्चय नय के विषय की अनुभूति उत्पन्न होती जाती है और जिस समय आत्मा पूर्ण शुद्ध, सिद्ध बन जाता है। आत्मा को हम जानेंगे तो निश्चय नय का सहारा लेंगे लेकिन जो आत्मा उस निश्चय को प्राप्त कर चुकी है उसे किसी नय का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह साध्य को प्राप्त कर चुकी है। साध्य की प्राप्ति होने पर साधन स्वतः छूट जाता है। जैसे निश्चय नय की प्राप्ति होने पर व्यवहार नय छूट जाता है उसी तरह आत्मा की प्राप्ति होने पर निश्चय नय भी छूट जाता है क्योंकि नय विकल्प है, साधन है। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार में कहते हैं कि जब आत्मा समयसार मय होता है तब वह दोनों नयों के विकल्पों से मुक्त होता है । 'णयपक्खातिकतो भणिदो जो सो समयसारो।' समय अर्थात् आत्मा। उस आत्मा का सार मात्र ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति होना है। ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति होना ही समय के सार की उपलब्धि होना है। इस तरह निश्चय नय का प्रयोग दो तरह से होता है। एक तो उस निश्चय के द्वारा वस्तु का अभेद-शुद्ध, एक स्वरूप जान लेना और दूसरा उस वस्तु का उसी रूप में अनुभव होना। जो निश्चय का पहला प्रकार है, जिसमें मात्र जानना है, अनुभव नहीं है । उस ज्ञान को जब हठाग्रह से अनुभव रूप मान लेते हैं तो हम गलती कर जाते हैं । निश्चय एकान्त इसी भूल का परिणाम है। आत्मा शुद्ध है, सिद्ध है, यह हमने निश्चय से जाना है। जानने मात्र से हमें उन सिद्धों की, शुद्ध दशा की अनुभूति यदि होने लगेगी तो हम लक्ष्य को जानने मात्र से ही प्राप्त कर लिए, ऐसा होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अभी हमने जाना है और जानना वस्तुतः निश्चय की प्राप्ति नहीं किन्तु एक निर्णय की अवस्था है। यह निर्णय किया है कि हमारी आत्मा का स्वभाव शुद्ध है। इस निर्णय को निश्चय मानकर बैठोगे तो कभी भी उस निश्चय की प्राप्ति नहीं हो पायेगी।

आप दिल्ली जाने के लिए जो जानकारी लिए वह मात्र ज्ञान है, अनुभव नहीं। घर में बैठे हुए दिल्ली का ज्ञान कर लेने से आपको दिल्ली का अनुभव नहीं होगा। दिल्ली जाना है, यह आपका निर्णय है, निश्चय नहीं। जिस समय आपका दिल्ली में पहुँचना होगा तभी आपको दिल्ली में हूँ, यह निश्चय होगा, उससे पहले नहीं, इसी प्रकार सिद्धत्व के विषय में जानना।

हे सिद्ध समान आत्मन् ! चलो उस सिद्धत्व को प्राप्त करने का आज हम निर्णय पक्का करते हैं। निर्णय को निश्चित ही हम अनुभूति में बदलेंगे। हम चलते हैं उस सिद्धपद की ओर परन्तु उससे पहले और कौन से स्टेशनों से हमें गुजरना होगा? यह भी जान लें। उन स्टेशनों से हमें गुजरना होगा। पुरुषार्थ करना होगा। वह पुरुषार्थ बाहर से भी होगा और भीतर से भी। बाह्य पुरुषार्थ की हँसी उड़ाकर तुम भीतर से भी पुरुषार्थ हीन हो जाओगे। इसलिए चलो, आगे बढ़ो।

जैसे ही चलने की बात आती है हम बगलें झाकने लगते हैं। क्यों ऐसा होता है? सहज स्वभाव है मानव का ऐसा करना। जब पास में पैसा न हो और दिल्ली ले जाने कोई हमारा मन बना दे तो वह निर्धन क्या करेगा? मेरे पास सामर्थ्य नहीं है, इसलिए नहीं जा पा रहा हूँ, ऐसा कहने में तो शर्म आती है ना? हमारे अन्दर से इतना महान् पुरुषार्थ करने का साहस नहीं आ पा रहा है, हमारी योग्यता की कमी है, हमारे पुण्य का प्रबल भाव नहीं है जो घर से बाहर ले चलने में सहयोग दे, यह सब कहकर हम कमजोर क्यों बनें? ऐसा सोचकर हम अपने को गरीब की कोटि में क्यों डाल दें? जब हम किसी वस्तु को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं तो हम उस वस्तु पर ही दोषारोपण करने को तैयार हो जाते हैं। अंगूर नहीं मिले तो लोमड़ी कहती है अंगूर खट्टे हैं। इसी तरह जब हम दिल्ली तक जाने की योग्यता नहीं रखते हैं तो मार्ग को दूषण देते हैं या मार्ग पर चलने वाले को। भैया! उस रास्ते पर नहीं जाना बहुत चोरीडकैती होती है, बहुत कठिनाई से गुजरना होता है उसका एक्सीडेंट हो गया। रास्ते में ही मर गया। रास्ते में ही लुट गया फिर घर वापस आ गया। जो रकम थी वह खो बैठा। ऐसी गलती तुम नहीं करना।' इत्यादि ढंग से डराना अनुचित है।

अरे! अनगढ़ आत्मन्! रास्ता होता है तो उस पर दुर्घटनाएँ भी होती हैं। लोग लुटते भी हैं, मरते भी हैं, असफल भी होते हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम ऐसी दलीलें देकर स्वयं न चलें और न किसी को चलने दें। आज यही हो रहा है। जिस किसी ने ऐसे लोगों की एक बार भी क्लास अटेन्ड कर ली तो वह और कुछ जाने या न जाने इतना तो जान ही जाता है कि द्रव्यलिंगी मुनि ही आजकल होते हैं, भावलिंगी मुनि तो हैं ही नहीं। और उसे कुछ रटाया जाय या नहीं सिखाया जाय पर एक दोहा जरूर रटा दिया जाता है, वह है–

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

देखो! मुनिव्रत धारण करने से कुछ नहीं होता है। हमने अनन्त बार मुनिव्रत धारण किये हैं और अनन्त बार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए हैं परन्तु आत्मज्ञान के बिना सुख नहीं मिला है, इसलिए पहले आत्मज्ञान की बात समझो।

इस तरह से अंगूर खट्टे दिखाकर लोमड़ी लोगों को रोकने लगी। जब लोग रुककर उसके पास इकट्ठे हो गए तो वही दूसरा रास्ता दिखाने लगी और अपना ज्ञान बांटने लगी।

भोले भाले आत्मन् ! जरा सुनो, समझो, विचार करो। किसी भी रास्ते पर यदि हम दुर्घटना ग्रस्त लोगों की संख्या का सर्वे करें तो पायेंगे कि दस साल में ही इस रास्ते पर सैकड़ों लोग दुर्घटनाग्रस्त हुए हैं। यदि हम यह संख्या मात्र दिखाकर दूसरे लोगों को डराते रहें तो अपनी ही नासमझी होगी। जो मर गये, लुट

गए उनकी ओर क्यों देखते हो? जो उस रास्ते से कितने बार निकले हैं और रास्ता पार किये हैं उनकी संख्या तो कई हजार गुनी, मरने वालों की संख्या से आएगी। इसी तरह मोक्षमार्ग पर समझना। यह मार्ग तो अनादि काल से चला आ रहा है। अनन्त काल इस मार्ग को हो गया है, यदि ऐसे मुनियों की संख्या भी लगाई जाय तो वह अनन्त आ गई, इसमें क्या बड़ी बात है? आखिर, सिद्ध भी इसी मार्ग से हुए हैं उनकी संख्या भी इसी काल में अनन्तानन्त है। इन मुनियों में दोनों प्रकार की संख्या है- अभव्य और भव्य। जो अभव्य होने के कारण सिद्धत्व पद प्राप्त नहीं किये उसमें उनकी कोई गलती ही नहीं हैं। वे तो उसके योग्य थे ही नहीं, फिर भी वे चल दिये और चलते-चलते इतनी ऊँचाई तक पहुँच गए जहाँ कि कोई भी आत्मज्ञानी श्रावक कभी नहीं पहुँच सकता। नौवां ग्रैवेयक बहुत ऊँचा स्वर्ग है । इतना पुण्य का संचय मुनि बने बिना नहीं हो सकता है। इन मुनियों की तो इसमें कोई गलती नहीं क्योंकि आत्मा की इस योग्यता का ज्ञान किसी को नहीं होता है कि हम भव्य हैं या अभव्य हैं । इन अभव्य मुनियों की खिल्ली उड़ाने की बजाय हमें यह सोचना चाहिए कि धन्य हैं, ऐसे जीव, जिन्होंने अपनी जितनी योग्यता थी उतनी क्षमता का पूरा उपयोग कर लिया। इससे ज्यादा सुख तो इन्हें किसी भी पर्याय में मिल ही नहीं सकता है। हमें इस परिणति पर दया आना चाहिए कि अभव्य जीवों को कभी मोक्ष सुख नहीं मिल सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी गाड़ी में पेट्रोल डालकर अपने लक्ष्य की ओर दिल्ली की ओर चला जा रहा है और उसके पास गाड़ी का लायसेंस नहीं है, ड्रायविंग का लायसेंस नहीं है। रास्ते में पकड़ा गया, उसे जेल हो गई। अभव्यों की स्थिति भी ऐसी ही है। ये बिना लायसेंस के यात्रा करते हैं। इन्हें द्रव्यलिंगी मुनि कहा जाता है। हम ऐसे लोगों के बारे में भी पाजीटिव सोचें। सही सोच से ही असफलता का सही कारण ज्ञात होता है।

भव्यों में दो प्रकार के मुनि होते हैं। एक भोगार्थी, दूसरे आत्मार्थी । ख्याति, पूजा, लाभ के लोभ में अनेक भव्य जीव भी दीक्षित होते हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया भोग निमित्तक होती है इसलिए उन्हें मोक्ष नहीं मिल पाता है। ऐसे जीवों के लिए यही कहा जा सकता है कि अभी उनके सम्यक् पुरुषार्थ करने की काललब्धि नहीं आ पाई है। दूसरे ऐसे भव्य जीव हैं जो भोगों की इच्छा के बिना आत्मसिद्धि के लिए निर्ग्रन्थ पद धारण करते हैं। इन दोनों में से किसी की बाह्य परिणति को देखकर हम मात्र एक स्थूल अनुमान लगा सकते हैं। कम से कम जिनका आचरण मूलाचार के अनुसार समीचीन नहीं हो रहा है उन्हें द्रव्यलिंगी कहा जा सकता है पर हर किसी को नहीं। द्रव्यलिंग और भावलिंग में इतना सूक्ष्म आन्तरिक परिणमन है कि यह किसी को जानने में क्या, खुद उस मुनि को भी समझ में नहीं आता है।

इन भव्य श्रमणों की परिणति को भगवान् सर्वज्ञ ही जानें। केवली की वाणी में आया है कि भावसंयम कोई भी जीव अधिक से अधिक बत्तीस बार ही ग्रहण करता है, इससे अधिक नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि भव्य आत्मा यदि आत्मार्थी बनकर मोक्षमार्ग पर चले तो वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त

कर लेगा। इसलिए मार्ग पर चलने पर बाधक मत बनो। अपनी कमजोर दलीलों से मार्ग को दूषित मत करो। यह पाप ऐसा है जो मिथ्यात्व का बंध कराता है। आत्मज्ञान पुरुषार्थ सहित आत्मभावना से ही आता है, केवल चर्चा करने से आत्मज्ञान नहीं होता है। अतः धर्म का लायसेंस लो और आगे बढ़ो यही व्यवहार और निश्चय का सही प्रयोग है।

अब बहुश्रुत भावना का उपसंहार करते हैं–

(शार्दूल विक्रीडित छन्द)

चत्ता दव्वसुदं पदत्थसहिदं सद्दाउलं भारदं
णच्चा णाणसुहारसेण भरिदं णिव्वाउलं सारदं।
जे सठवोत्थवियप्पजालरहिदं विण्णाणमित्तं चिदं
चिंतंतीह बहुस्सुदा समरदा सव्वे मए संथुदा॥८॥

शब्द, अर्थ, पद की महिमा से विपुल भार श्रुत द्रव्य रहा
उसको तज निज ज्ञान सुधा से चित् चिन्मय को जान रहा।
निर्विकल्प हो ज्ञान मात्र ही निज आतम अनुभव करते
बहुश्रुत समतारत साधक के पद रजकी संस्तुति करते॥८॥

अन्वयार्थ : [पदत्थसहिदं] पद, अर्थ सहित **[सदाउलं]** शब्दों से पूर्ण **[भारदं]** भार देने वाले **[दव्वसुदं]** द्रव्यश्रुत को **[चत्ता]** छोड़कर **[णिव्वाउलं]** निर्व्याकुल **[सारदं]** सार देने वाले **[णाणसुहा-रसेण]** ज्ञान सुधा रस से **[भरिदं]** भरे हुए **[चिदं]** चैतन्य आत्मा को **[णच्चा]** जानकर **[जे]** जो **[सव्वोत्थवियप्पजालरहिदं]** सभी उठे हुए विकल्प जाल से रहित **[विण्णाणमित्तं]** विज्ञान मात्र आत्मा का **[इह]** यहाँ **[चिंतंति]** चिंतन करते हैं **[बहुस्सुदा]** वे बहुश्रुत **[समरदा]** शम भाव में रत **[सव्वे]** सभी जीव **[मए]** मेरे द्वारा **[संथुदा]** स्तुति के पात्र हुए हैं।

भावार्थ : यहाँ द्रव्य श्रुत को छोड़कर भावश्रुत में रत रहने वालों की स्तुति की गई है। द्रव्य श्रुत अनेक अर्थ और पदों से सहित होता है । शब्द जाल से भरा हुआ वह द्रव्य श्रुत मन के लिए भार सहित है। किन्तु द्रव्य श्रुत से अपने आत्म तत्त्व की प्रयोजनीय सारभूत, निर्व्याकुल परिणति को जानकर जो श्रमण ज्ञानामृत के रस से भरे अपने आत्मा को चैतन्य मात्र, सभी प्रकार के उत्पन्न हुए विकल्प जाल से रहित, विज्ञान मात्र अनुभव करते हैं वही वस्तुतः समस्त श्रुत के धारक हैं। इन्हें ही भावश्रुतकेवली कहा जाता है । शम भाव में निरत उन भाव श्रुतवान् मुनियों की मैं निरन्तर स्तुति करता हूँ।

जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानते हैं वे द्रव्य श्रुतकेवली हैं। ऐसे ऋद्धिधारी महाश्रमण भी जब द्रव्यश्रुत से आत्मा को जानकर मात्र आत्मरस का आनन्द लेते हैं, तभी वह निर्विकल्प समाधि में होते हैं। निर्विकल्प वीतराग स्वसंवेदन काल के समय ही आत्मा का अनुभव होता है। जिस समय आत्मानुभव की यह परिणति होती है वह निश्चय से भाव श्रुतकेवली होते हैं। उन भाव श्रुतकेवली ने जिनशासन का सार देख लिया है, उन्हें मेरा नमस्कार है।

13. पवयण भत्ती

प्रवचन में क्या समाविष्ट है? यह कहते हैं–

छहदव्वणवपदत्थे पंचत्थिकाय सह सत्ततच्चाणि।
लोयालोयं वि दिसदितं पवयणं सया पणमामि॥१॥

नव पदार्थ पंचास्किाय हैं सात तत्त्व छह द्रव्य यहाँ
लोक-अलोक का ज्ञान तथा जो विस्तृत ढंग से बता रहा।
वह ही प्रवचन कहलाता है जिसको जिनवर कहते हैं
जिनवर को भी नमन हमारा जिनवाणी को नमते हैं॥१॥

अन्वयार्थ : [छहदव्व णव पदत्थे] छह द्रव्य, नौ पदार्थ **[पंचत्थिकाय सह सत्त तच्चाणि]** पंचास्किाय के साथ सात तत्त्व **[लोयालोयं]** और लोक-अलोक **[वि]** भी [दिसदि] देता है **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : प्रकृष्ट वचनों को प्रवचन कहते हैं। ऐसे प्रकृष्ट वचन तीर्थंकर अरिहन्त के होते हैं। उनके वचनों से ऐसे द्रव्य आदि का ज्ञान होता है जो अन्य के वचनों में संभव नहीं है। अरिहन्त प्रवचन में ही छह द्रव्यों का कथन है।

भव्यात्मन् ! इन द्रव्यों के श्रद्धान से आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। तुम विचार कर सकते हो कि ब्रह्माण्ड में फैले इन द्रव्यों से आत्मा में सम्यक्त्व कैसे होगा? बाह्य पर द्रव्य क्या हमारी आत्मा की परिणति को समीचीन बना सकते हैं? हाँ भ्रात! अवश्य बना सकते हैं। सर्वप्रथम समीचीन पथ पर चलने की शुरुआत इन्हीं द्रव्यों के श्रद्धान से होगी। जब आपको सर्वज्ञ कथित द्रव्य व्यवस्था का निश्चय होगा तभी सम्यक् रूप से आत्म अवस्था का निश्चय होगा। इतने स्वार्थी भी ना बनो कि हम अपने सिवाय विश्व की व्यवस्था को न समझ पाएँ।

हे आत्मन् ! अपना आत्मा इन छह द्रव्यों के साथ सह-अस्तित्व रखता है। पुद्गल द्रव्य के श्रद्धान के बिना आत्मा की पुद्गल से भिन्न पहचान नहीं हो सकती है। कर्म पुद्गलों का आत्मा से एकमेक होना और वैभाविक परिणति से इस संसार में परिभ्रमण होना अन्यथा बन नहीं सकता है। जब यह आत्मा कर्ममुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करेगा तो इसका गमन कहाँ तक होगा, यह धर्मद्रव्य पर निर्भर करेगा। एक स्थान पर आत्मा किस द्रव्य के आधार से स्थिर बना रहेगा? यह अधर्म द्रव्य के अस्तित्व से ज्ञात होता है। ये सभी

द्रव्य कहाँ रहते हैं और इन द्रव्यों के बिना भी कोई स्थान है यह आकाश द्रव्य के बिना सम्भव नहीं है । इन सभी द्रव्यों के परिणमन का मुख्य बाह्य कारण क्या है? तो काल द्रव्य का अस्तित्व इस परिणमन को बनाए रखता है। इस तरह छह द्रव्य इस संसार की व्यवस्था स्वतः बनाए हुए हैं। इन द्रव्यों को कोई बनाने वाला ब्रह्मा नहीं और न कोई मिटाने वाला महेश है । यह द्रव्य स्वभाव से हैं और बने रहेंगे। इन्हीं द्रव्यों से लोक-अलोक के विभाग का निश्चय होता है। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य पाए जाएँ उतना आकाश लोकाकाश है। इसके आगे जितना आकाश मात्र है वह अलोकाकाश कहलाता है।

लोकाकाश का क्षेत्र असंख्यात प्रदेश बराबर है और अलोकाकाश का क्षेत्र अनन्त प्रदेशी है। जैसे हम क्षेत्र की, दूरी को मीटर, किलोमीटर में नापते हैं वैसे ही जैनदर्शन में क्षेत्र को नापने का मात्रक (युनिट) प्रदेश होता है। एक पुद्गल परमाणु जितना क्षेत्र घेरता है उतना एक प्रदेश कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य कितने स्थान में समा जाता है या कितना स्थान घेरता है इसको नापने के लिए 'प्रदेश' युनिट का प्रयोग किया जाता है। यह विषय भगवान् सर्वज्ञ के ज्ञान में ही आता है इसलिए इस ज्ञान को रुचिपूर्वक समझो। यह दुर्लभ वीतराग विज्ञान है।

देखो ! एक जीव-आत्मा जब भी कभी कहीं पर रहेगा तो वह असंख्यात प्रदेश बराबर क्षेत्र घेरेगा। प्रत्येक आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है। जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म हो, जिसकी काया एक बिन्दु से भी छोटी दिख रही हो, ऐसे जीव का शरीर भी असंख्यात प्रदेश में ही रहता है। चींटी भी असंख्यात प्रदेश में रहती है। मक्खी, भौंरा, मच्छर भी असंख्यात प्रदेश में रहते हैं और हाथी भी असंख्यात प्रदेश में रहता है। आप सोच रहे होंगे कि लघुकाय जीव भी असंख्यात प्रदेश में रह रहा है और दीर्घकाय जीव भी असंख्यात प्रदेश में रहा है तो असंख्यात का एक नाप क्या हुआ? इसका समाधान यह है कि असंख्यात बहुत प्रकार का होता है।

ध्यान रखना कि हमने प्रदेश की तुलना एक परमाणु बराबर क्षेत्र से की है। परमाणु अत्यन्त छोटा पुद्गल का ऐसा भाग है जिसका कोई दूसरा उससे छोटा पुनः भाग न हो सके। जिसका फिर से विभाजन सम्भव न हो वह जैनदर्शन में परमाणु कहलाता है । यह परमाणु किसी भी सूक्ष्मदर्शी से देखा नहीं जा सकता है । विज्ञान में जो अणु, परमाणु पढ़ाये जाते हैं वे सभी अनेक परमाणु के समूह हैं। जैन विज्ञान के अनुसार वे सभी अनेक परमाणु के पिण्ड रूप स्कन्ध हैं । जैन विज्ञान में अणु, परमाणु एक ही वस्तु है।

इसलिए एक अत्यन्त छोटा जीव भी असंख्यात परमाणु के बराबर जगह घेरता है। चींटी भी, मक्खी भी, मनुष्य भी और हाथी, घड़ियाल भी असंख्यात परमाणु के बराबर जगह घेरते हैं। इससे यह समझना कि असंख्यात के भेद भी असंख्यात होते हैं । असंख्यात संख्या अनेक प्रकार की है।

जिज्ञासु आत्मन्! यह मत सोचना कि हम जीव के प्रदेश बता रहे थे और यहाँ उसके शरीर के प्रदेश बताने लगे तो दोनों क्या एक ही हैं या भिन्न-भिन्न? ऐसा सोचना आपका स्वाभाविक है । देखो! कोई भी जीव-आत्मा अपने शरीर प्रमाण बराबर ही होता है । जीव-आत्मा का अस्तित्व उसके शरीर को देखकर ही लगाया जाता है इसलिए वस्तुत: जीव-आत्मा के प्रदेश असंख्यात हैं, यह शरीर के माध्यम से जाना जाता है। इसलिए कथंचित् एक ही हैं। जीव-आत्मा अलग है और शरीर का स्वभाव अलग है, उसके प्रदेश अलग हैं इसलिए कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं।

तीन सौ तैंतालीस (३४३) घन राजू प्रमाण तीन लोक का घनफल है। इन तीन लोक को ही लोकाकाश कहा जाता है । इस लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं। इस पूरे लोकाकाश में कोई भी जीव हो वह इस लोकाकाश का जो हिस्सा घेरेगा वह असंख्यातवाँ भाग ही कहलाएगा। जीव-आत्मा का यह संकोच-विस्तार स्वभाव होता है, इसके कारण आत्मप्रदेशों का संकाच-विस्तार होकर भिन्न-भिन्न काया का आकार बनता है।

पुद्गल परमाणुओं का इकट्ठा होकर रहना भी होता है। उन एकत्रित हुए परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है । पुद्गल के एक सिंगल परमाणु का तो मात्र एक प्रदेश होता है । चूँकि इसका मात्र एक प्रदेश है इसलिए सिद्धान्त में इसे प्रदेश रहित कहा जाता है।

जो स्कन्ध हैं वे तीन प्रकार के होते हैं- संख्यात प्रदेशी स्कन्ध, असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध । बहुतायत में जो कुछ भी पुद्गल हमें दिखने में आता है वह असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। जैसे हमारा शरीर औदारिक शरीर है। इस औदारिक शरीर में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर में भी असंख्यात गुणे, असंख्यात गुणे प्रदेश होते हैं परन्तु रहते तो असंख्यात प्रदेश हैं । अर्थात् ये तीनों शरीर असंख्यात पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। तैजस और कार्मण शरीर अनन्त प्रदेशी होते हैं। ये दोनों शरीर आत्मा में निरन्तर बंधे रहते हैं इन्हें अनन्त प्रदेश वाले कहा है।

धर्म द्रव्य जीव, पुद्गलों की गति में सहायक होता है। जो गति कर रहे हैं उन्हीं की गति में सहायक होता है सबकी नहीं। जैसे पटरी रेलगाड़ी के चलने में सहायक है। अधर्म द्रव्य ठहरे हुए जीव, पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है जैसे रुके हुए पथिक को छाया सहायक होती है।

ये दोनों ही द्रव्य एक हैं, अखण्ड हैं, पूरे लोकाकाश में तिल में तैल की तरह फैले हैं। इसलिए इनके प्रदेशों की संख्या भी लोकाकाश के बराबर है। अर्थात् धर्म द्रव्य के और अधर्म द्रव्य के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है। ये सभी असंख्यात प्रदेशी द्रव्य हैं।

आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को स्थान देता है। आकाश में भी लोकाकाश में ही संसारी और मुक्त आत्माएँ रहती हैं।

काल द्रव्य सभी द्रव्यों का परिणमन कराने में निमित्त है। यह काल द्रव्य एक प्रदेशी अणु की तरह हैं। प्रत्येक कालाणु एक स्वतन्त्र द्रव्य है । असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु व्यवस्थित है। रत्नों की राशि के समान ये कालाणु असंख्यात संख्या में स्थित हैं।

इस तरह छह द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन के लिए कारणभूत है।

इन्हीं छह द्रव्य में काल द्रव्य को छोड़कर पाँच द्रव्यों को पाँच अस्तिकाय कहते हैं। जो अस्ति रूप हों और काय रूप भी हों वह अस्तिकाय हैं। अस्ति रूप तो सभी द्रव्य होते हैं किन्तु काय रूप सभी नहीं हैं । अस्ति अर्थात् जिनका अस्तित्व है । काय अर्थात् बहुप्रदेशी । काय शरीर को या पिण्ड को कहते हैं। जिनका अस्तित्व है और बहुत प्रदेश भी हैं ऐसे द्रव्य पंचास्तिकाय हैं। काल का एक ही प्रदेश होता है । कालाणु में अन्य कालाणु से मिलकर एक रूप होने की क्षमता भी नहीं होती है इसलिए कालाणु एक प्रदेशी है। पुद्गल परमाणु में स्कन्ध बनने की क्षमता होती है। इसलिए उसे अस्तिकाय में लेते हैं।

ब्रह्माण्ड की यह व्यवस्था सर्वज्ञ प्रणीत है। अन्य लोग तो अंदाज लगाकर अनेक तरह की कल्पनाओं और अनुमानों को बताते हैं जो भौतिक विज्ञान के द्वारा सभी को पढ़ाया जाता है। इसलिए जैन विज्ञान को जानना सम्यग्ज्ञान है।

छह द्रव्य बाह्य जगत् की व्यवस्था के लिए हैं तो अन्तर्जगत् की व्यवस्था बताने के लिए सात तत्त्व हैं। इन छहों द्रव्यों में आत्मद्रव्य के अन्दर ही सात तत्त्व घटित होते हैं । जब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप, असंख्यात प्रदेशात्मक जीव को कहते हैं तो वह जीव द्रव्य कहा जाता है। जब जीव में आस्रव, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष को समझाया जाता है तो वह जीव तत्त्व कहलाता है । द्रव्यगत परिणमन को जीव द्रव्य से जाना जाता है और भावगत परिणमन को जीव तत्त्व से जाना जाता है। जीव तत्त्व अर्थात् जानने-देखने का स्वभाव। जीव तत्त्व कहते ही ज्ञाता, दृष्टा स्वभाव की ओर उपयोग जाता है।

संसारी जीवों के जीव तत्त्व में कर्मरूप पुद्गल तत्त्व भी मिश्रित है। इन्हीं जीव और कर्म के मिश्रण से आत्मा में आस्रव तत्त्व घटित होता है। आस्रव तत्त्व अर्थात् कर्मों का आना। कर्मों का आकर आत्मा में बंध जाना बंध तत्त्व है। कर्मों का आना रुक जाना संवर तत्त्व है और कर्मों का आत्मा से थोड़ा-थोड़ा (एकदेश) झड़ना निर्जरा तत्त्व है तथा कर्मों का आत्मा से पूरा सफाया हो जाना मोक्ष तत्त्व है।

हे तत्त्वज्ञ! जो छोड़ने योग्य हो उसे हेय कहते हैं । जो ग्रहण करने योग्य हो उसे उपादेय कहते हैं । जो करने योग्य हो उसे विधेय कहते हैं । जो ध्यान करने योग्य हो ध्येय कहते हैं । जो जानने योग्य हो उसे ज्ञेय कहते हैं।

इनमें जीव तत्त्व उपादेय है। अजीव तत्त्व कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। कर्म को छोड़कर शरीर, मन, वचन आदि बाह्य वस्तु नोकर्म हैं। इनमें कर्म हेय है । नोकर्म ज्ञेय है । अपनी आत्मा को

छोड़कर चेतन, अचेतन सभी द्रव्य वस्तुतः ज्ञेय हैं। किन्तु प्रारम्भिक दशा में यह नोकर्म कथंचित् हेय भी हो जाते हैं। कर्म के सहायक नोकर्म हेय हैं। आस्रव और बंध तत्त्व भी हेय हैं। संवर, निर्जरा तत्त्व विधेय हैं और मोक्ष तत्त्व ध्येय हैं।

हे आत्मन् ! जाग्रत होओ। अपने ज्ञान नेत्रों पर तत्त्व ज्ञान का अंजन लगाओ। हम सभी की आत्मा अनादि काल से कर्मों से लिप्त है। प्रति समय कर्मों का आस्रव और बन्ध हो रहा है। चाहे जीवात्मा किसी भी पर्याय में हो, गरीब हो, अमीर हो, कुरूप हो, सुन्दर हो, पापी हो, पुण्यात्मा हो सभी को प्रतिसमय कर्म का बन्ध होता है। चार कारण सभी आत्माओं में अनादिकाल से मौजूद हैं। सभी की अशुद्ध दशा एक समान है और शुद्ध दशा में भी सभी एक समान आत्माएँ हैं बीच में बहुत सी विचित्रताएँ हैं जो कर्म के कारण देखने में आती हैं।

कर्म बन्धन के कारणभूत उन चार कारणों को सर्वप्रथम जानो। इन चार कारणों से ही संसार अनादि से अनवरत चल रहा है। ये चार कारण ही आत्मा में कर्म चौरों को लाने के लिए चार महाद्वार हैं। अनादि से ये चार महाद्वार खुले पड़े हैं। इन्हीं द्वारों से कर्मों ने आकर आत्मा में गहरी पैठ बना ली है। अब ये आसानी से हटने का नाम नहीं लेते हैं। विचार करो! जब कोई किराएदार दो-पाँच वर्ष तक किसी मकान में रह लेता है तो फिर वह उस मकान को खाली नहीं करना चाहता है क्योंकि उसका वह स्थान बन जाता है। उसे खाली कराना कितना मुश्किल हो जाता है। अगर किराएदार व्यसनी हो, चोर-उचक्कों को घर में बुलाता हो, तब तो मकान मालिक सज्जन है तो ऐसा भी हो सकता है कि वह किराएदार बनकर रहे और किराएदार मकान मालिक बनकर रहे। ऐसा ही हे आत्मन्! अपने साथ हुआ है, सबके साथ हुआ है। आत्मा में कर्मों का कब्जा अनादिकाल से है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति, न जाने ऐसे कितने अनन्त गुण आत्मा के इन कर्म चोरों ने लूट लिए हैं। आत्मा बहुत सीधा-सज्जन है और कर्म दुष्ट-दुर्जन हैं। आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव है किन्तु कर्म के कारण परतन्त्र हुआ है। अनादिकालीन इस गहरी, जगी हुए कर्मों की पैठ को हटाना बहुत साहस का काम है।

इन चार महाद्वारों के नाम सुनो! पहला महाद्वार है मिथ्यात्व, दूसरा महाद्वार है कषाय, तीसरा महाद्वार है अविरति और चौथा महाद्वार है योग।

कहीं-कहीं प्रमाद को भी स्वीकारा जाता है, सो यह प्रमाद अविरति या कषाय में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

प्रत्येक महाद्वार के कई उपद्वार हैं। मिथ्यात्व के पाँच उपद्वार हैं। एकान्त मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और विपरीत मिथ्यात्व।

दूसरे महाद्वार के पच्चीस उपद्वार हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ(४), अप्रत्याख्यान

क्रोध, मान, माया, लोभ (४), प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ (४), संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ (४), हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये नौ (९) नोकषाय।

तीसरे अविरति द्वार के बारह भेद हैं। छह प्रकार का प्राणीअसंयम, छह प्रकार का इन्दिय असंयम।

योग के पन्द्रह उपभेद हैं । चार प्रकार का मनयोग, चार प्रकार का वचन योग और सात प्रकार का काययोग।

ये सभी मिलकर सत्तावन (५७) भेद होते हैं । आस्रव तत्त्व के इन कारणों से ही बन्ध होता है। वह बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का होता है।

ज्ञानावरण आदि प्रकृति के रूप में कर्म पुद्गलों का परिणमन होना प्रकृतिबन्ध है। उन कर्म प्रकृतियों का एक निश्चित काल तक आत्मा में रहना स्थिति बन्ध है। उन कर्म के प्रदेशों की संख्या प्रदेश बन्ध है और कर्म के फल देने की शक्ति का नाम अनुभाग बन्ध है।

इस आस्रव और बन्ध को रोकने का काम संवर के द्वारा होता है। आस्रव की तरह संवर के भी सत्तावन भेद हैं । पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह भावना और बावीस परीषह इन भेदों से आस्रव के सभी द्वार रुक जाते हैं। संवर होने पर ही कर्म की निर्जरा मोक्षमार्गोपयोगी होती है। इस संवर पूर्वक निर्जरा की अविरल गति बनी रहने से मोक्ष तत्त्व उद्घाटित होता है । मोक्ष ही शुद्ध जीव तत्त्व की उपलब्धि है। इसलिए सर्व प्रकार से उपादेय जीव तत्त्व ही है।

इन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप का विशेष वर्णन करने पर नौ पदार्थ होते हैं । आस्रव तत्त्व में ही पुण्य और पाप अन्तर्भूत है फिर भी विशेष व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है और स्वरूप निर्धारण होता है। इस तरह सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का स्वरूप जिस प्रवचन में कहा है उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

इन द्रव्यों और तत्त्वों के समझने से लोक, अलोक स्पष्ट समझ आने लगता है। भगवान् सर्वज्ञ के प्रवचन में ही लोक, अलोक का स्वरूप व्यवस्थित ढंग से बताया गया है। ऐसे प्रवचन को मैं हृदय में धारण करता हूँ।

श्रीधवल ग्रन्थ में इस प्रवचन भक्ति के विषय में लिखा है कि- सिद्धान्त अर्थात् बारह अंगों को प्रवचन कहते हैं । वे स्वयं प्रकृष्ट हैं । अथवा प्रकृष्ट जो सर्वज्ञ उनके वचन प्रवचन हैं । ऐसी व्युत्पत्ति है । उस प्रवचन में कहे हुए अर्थ का अनुष्ठान करना, यह प्रवचन में भक्ति कही जाती है। इसके बिना अन्य प्रकार से प्रवचन में भक्ति सम्भव नहीं है क्योंकि असम्पूर्ण में सम्पूर्ण व्यवहार का विरोध है। तात्पर्य यह है कि प्रवचन में कहे ढंग से आचरण करना ही प्रवचन भक्ति है। तभी सम्पूर्णता आती है। अनुष्ठान किए बिना प्रवचनभक्ति अधूरी है।

इस प्रवचनभक्ति से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है।

यह प्रवचन सभी के लिए समान है, यह कहते हैं–

जेणविणाण हि सिज्झदि तित्थयरो चरमदेहगोणाणी।
सव्वाण समं फुरइ तं पवयणं सया पणमामि॥२॥

जिन प्रवचन के बिना कभी भी ज्ञान पा सके तीर्थंकर
चरम शरीरी ज्ञानी जन भी जिस बिन नहीं लहें शिववर।
उच्च नीच का भाव छोड़कर सबके लिए समान रहे
उन प्रवचनकोमन में रखकरमनही मनहम विलस रहे॥२॥

अन्वयार्थ : [जेण विणा] जिसके बिना **[तित्थयरो]** तीर्थंकर **[चरमदेहगो]** चरमशरीरी **[णाणी]** ज्ञानी **[ण हि सिज्झदि]** सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं **[सव्वाण]** सभी को **[समं]** समान **[फुरइ]** स्फुरित होता है **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : हे भव्यात्मन्! जरा देखो तो इस प्रवचन की महिमा कितनी है। जो चरमशरीरी हैं, तीर्थंकर हैं, ऐसे पुण्यवान् पुरुष भी इसी प्रवचन का आश्रय लेते हैं। भगवान् अरिहन्त के प्रवचन में एक समानता है। सभी तीर्थंकर जो आचरण करते हैं, वह इसी प्रवचन के अनुसार करते हैं । महापुरुष होकर भी वह अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करते हैं, इसलिए इन प्रवचनों की महिमा तीर्थंकर से भी बढ़कर है। इन प्रवचनों का पालन सभी को समान रूप से करना होता है, इसलिए आगम पक्षपात से रहित हैं। ऐसे प्रवचन को सदा प्रणाम करता हूँ।

यह प्रवचन अनादि और सादि दोनों प्रकार का है, यह कहते हैं–

बीयतरुव्व कमेण य अणादि सादियं सिया जिणुत्तं खु।
जेणुत्तिण्णा णंता तं पवयणं सया पणमामि॥३॥

वृक्ष बीज से, बीज वृक्ष से होता आया सदा सदा
यह अनादि की संतति भी है और सादि भी यदा कदा।
जन्म-मरण की परम्परा को जिससे भविजन नष्ट करें
वह उपकारी जिनप्रवचन हैं सदा उसी के नमन करें॥३॥

अन्वयार्थ : [जिणुत्तं] जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ प्रवचन **[बीयतरुव्व कमेण]** बीज-वृक्ष के क्रम से **[सिया]** कथंचित् **[अणादि सादियं य]** अनादि और सादि **[खु]** निश्चित ही है **[जेण]** जिसके द्वारा **[णंता]** अनन्त संसार को **[उत्तिण्णा]** उत्तीर्ण कर लिया जाता है **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : हे आत्मन् ! अरिहंत प्रवचन का प्रवाह अनादि अनंत है। इस प्रवाह का कोई भी कर्ता नहीं है। जो इसी प्रवाह में अपनी आत्म शुद्धि करता है वही इस प्रवाह को और आगे बढ़ाने में सहायक होता है। तीर्थंकर भगवन्तों ने इस प्रवाह को आगे बढ़ाया है। उन तीर्थंकर की अपेक्षा इस धर्म तीर्थ का प्रवर्तन और आगे बढ़ता है जिससे यह सादि है। यह प्रवाह सतत बह रहा है जिससे अनादि है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती रहती है वैसे ही अनादि संतति की अपेक्षा अनादि और बीज की अपेक्षा सादि है। यह सनातन धर्म की परम्परा है।

हे ज्ञानपिपासो! यहाँ सब आत्माओं का प्रवाह ऐसा ही चल रहा है। पर्याय की अपेक्षा नया है, सादि है। द्रव्य की अपेक्षा अनादिपन है। विचार करो कि, हम नये हैं या पुराने हैं। इस पर्याय की अपेक्षा हम नये हैं लेकिन आत्मा अनादि से है। कोई भी परिणमन इस संसार में एकान्त रूप से न नित्य है और न अनित्य है। पर्याय अनित्य होती है। पर्याय उत्पन्न होकर नष्ट होती है किन्तु द्रव्य नित्य है। द्रव्य शाश्वत रहता है। द्रव्य की दृष्टि से द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग किया जाता है और पर्याय की दृष्टि से पर्यायार्थिक नय का प्रयोग होता है। यह नय ज्ञान कोई अलग से बना हुआ सिद्धान्त नहीं है किन्तु वस्तु को समझने के लिए एक व्यवस्था है।

इस अनेकान्त धर्म की लहरों से जिन्होंने अपने अनन्त संसार का अन्त किया है, वह प्रवचन धन्य हैं और वह आत्माएँ भी धन्य हैं जो इस संसार सागर से पार हो गई हैं।

धनि धन्य हैं जे जीव नर भवि पाय यह कारज किया
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया।

छहढाला की ये पंक्तियां ऐसी आत्माओं का ही यशोगान कर रही हैं।

संसार घात के लिए निमित्तों का कथन करते हैं–

पवयणणाणं करणं तब्भत्तिलोगपुण्णसमुग्घादं।
भवघादत्थं वुत्तं तं पवयणं सया पणमामि॥४॥

भवनाशन के साधक कारण चार कहे जिन-आगम में
द्वादशांग का ज्ञान प्रथम है दूजा भक्ति जिनागम में।

तथा तीसरा करण भाव ही कारण तीजा कहलाता

समुद्घात श्री जिनकेवलि का चौथा कारण मन भाता॥४॥

अन्वयार्थ : [पवयणणाणं] प्रवचन का ज्ञान **[करणं]** करण परिणाम **[तब्भत्तिलोगपुण्ण-समुग्घादं]** प्रवचन भक्ति और लोक पूरण समुद्घात **[भवघादत्थं]** भवघात के लिए **[वुत्तं]** कहा है **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : संसार की स्थिति का नाश करने वाले चार परिणाम सिद्धान्त में कहे हैं। आचार्य जयसेन म. जी ने समयसार की व्याख्या में कहा है कि १. द्वादशांग का अवगम २. उसी में तीव्र भक्ति ३. अनिवृत्तिकरण परिणाम ४. केवली समुद्घात ये चार परिणाम संसार की स्थिति को अतिअल्प करते हैं।

इन्हीं चार कारणों को यहाँ कहा है–

हे भव्यात्मन्! द्वादशांग का ज्ञान संसार की स्थिति का घात करता है। द्वादशांग के ज्ञान से आत्मा पूज्य होता है। इतना पूज्य हो जाता है कि देव लोग भी उस आत्मा का पूजन करते हैं। द्वादशांग का अध्ययन करने वाले मुनिराज जब दशवें पूर्व का अध्ययन करते हैं तो उनके सामने एक दो नहीं बारह सौ देवता आकर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं आप हमें स्वीकार कर लें। जो उन विद्याओं को स्वीकार लेते हैं उनके महाव्रत भंग हो जाते हैं। जो उन विद्याओं को नहीं स्वीकारते हैं वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। इन विद्याओं में पाँच सौ (५००) महाविद्यायें और सात सौ (७००) लघुविद्याएँ होती हैं। अभिन्नदशपूर्वी मुनिराज की पूजा भक्ति भाव से देव लोग करते हैं। इसी तरह जब मुनिराज को चौदह पूर्व का ज्ञान हो जाता है तब भी पूजा करने के लिए देव लोग आते हैं।

अहो! कितना महत्त्व है इस द्वादशांग का कि देव लोगों को भी यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि इस आत्मा को दश पूर्व का या चौदह पूर्व का ज्ञान हो गया है। देव लोग मात्र ज्ञान की पूजा करने नहीं आते हैं। ज्ञान के साथ मुनि का सम्यक् चारित्र और निरीह भाव भी जुड़ा रहता है उसी अनासक्ति की पूजा की जाती है, इसे ही उपेक्षा चारित्र कहा जाता है।

हे मोक्ष पथगामी निजात्मन्! यदि आज द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है तो भी कोई बात नहीं है। यदि अंग-पूर्वो का ज्ञान नहीं है तो भी कोई बात नहीं है। हमारा सौभाग्य है कि पूर्वाचार्यों का ज्ञान आज भी हमें मिला है। उसी जिनवाणी का अंश हमारे पास है जिसका पान पूर्वाचार्यों ने किया है। अमृत का समुद्र नहीं है तो कोई बात नहीं उसकी एक बूंद भी आत्मसात् करने का हमारे पास क्षयोपशम नहीं है। यदि है भी, तो भी कितने लोग उस ज्ञान को आत्मसात् कर पाते हैं। श्रीधवल, जयधवल और महाधवल का पूर्ण ज्ञान होना भी बहुत पुण्य के उदय में सम्भव है।

ध्यान रखना! ज्ञान का पाचन संयम के माध्यम से ही होता है। लोग ज्ञान प्राप्ति करने के लिए तीव्र

लालसा रखते हैं किन्तु संयम नहीं रहने से वह ज्ञान हानि पैदा करता है। हमारे पास थोड़ा ही ज्ञान सही किन्तु वह भी ख्याति, पूजा, लाभ से निरपेक्ष हो तो आत्मोन्नति का कारण बनता है। देव लोग तो ज्ञानी, तपस्वी, संयमी के चरणों की आराधना करके अपने को धन्य मानते हैं और तुम संयमी बनकर देवता की सिद्धि के लिए मन्त्र, तन्त्र की उपासना में लग रहे हो, इससे कोई लोकोपकार नहीं होगा। अपना अपकार करके दुनिया का उपकार करना कौन सी बुद्धिमानी है? मन्त्र, तन्त्र करने से अपना आत्महित तो कुछ होता नहीं है और लोक लुभावने के लिए अपने संयम की बलि चढ़ाना तो अज्ञानता है। यदि कहो कि परोपकार में आत्म उपकार निहित है सो भैया! परोपकार के तो और भी तरीके हैं। मन्त्र, तन्त्र से तो आदमी पराश्रित ही बना रहता है उसे देव-शास्त्र-गुरु की समीचीन श्रद्धा से वंचित ही रहना पड़ता है। ऐसा परोपकार किस काम का जिससे अपनी समाधि भी बिगड़ जाय।

हे मुनीश्वर! क्या पहले कहे हुए इस विद्या सिद्धि के प्रसंग से अपने को शिक्षा नहीं लेनी चाहिए। इतने तपस्वी महामुनीश्वर भी जब विद्या देवता को स्वीकार कर लेते हैं तो उनके महाव्रत नष्ट हो जाते हैं। आचार्य श्री वीरसेन जी लिखते हैं कि- '**भंग महव्वदो होइ।**' अपने महाव्रतों को भंग करके दूसरे का उपकार कितना सा होगा? लोग तो तुम्हें महाव्रती समझकर पूजते हैं, आहार देते हैं, जयकार करते हैं और तुम भीतर से व्रतभंगी हो। ऐसा करने से तो इस नग्न रूप को बेचकर अपना जीवन चला रहे हो, यही कहना पड़ेगा। केवल बाह्य नग्रता धारण करके तुम जैन गुरु की पहिचान पाते हो और भीतर से तुम्हारा उद्देश्य लोक लुभावने का है तो तुम तो उस अभव्य से भी गयेबीते हो गए जो अभव्य मुनि कम से कम तपस्या करके इतना पुण्य तो अर्जित कर लेता है कि आगामी भव में अन्तिम ग्रेवेयक के महासुख को भोग लेता है।

जैसे विद्या सिद्धि के लिए मन्त्र तन्त्र किया जाता है वैसे ही तुम परोपकार के लिए कर रहे हो। गृहस्थ के लिए मन्त्र तन्त्र आराधना सर्वथा वर्जित नहीं है किन्तु मुनि के लिए तो सर्वथा वर्जित है। क्षुल्लक महाराज तक ही विद्या सिद्धि का परिग्रह अपने पास रख सकते हैं, मुनि महाराज तो कदापि नहीं। मन्त्र के द्वारा देवताओं की सिद्धि करना बहुत बड़ा परिग्रह रखना है। अपरिग्रह महाव्रतिन्! क्या यह चेतन परिग्रह तुम्हें निश्चिन्त रहने देगा? जीना तो दूर ढंग से मरने भी नहीं देगा। इसलिए परिग्रह पाप से बचो। आचार्य कुन्दकुन्द देव इसीलिए कहते हैं कि बाल के अग्रभाग बराबर परिग्रह रखने वाला भी श्रमण निगोद वास को या निम्न गति को प्राप्त होता है। दूसरों की थोड़ी दुकान चल भी जाय, लड़के-बच्चे हो जाय या विवाह-शादी हो जाय तो इन संसार वृद्धि के कार्यों में सहयोग करके तुम उनके ऊपर कौन सा उपकार कर रहे हो? और उस उपकार के बदले में अपनी गति बिगड़ जाय, निगोद में जाना पड़े तो कौन सा फायदे का सौदा हुआ?

इसलिए कहा जा रहा है संसार का नाश करने का एक ही अचूक उपाय है 'केवलि पण्णत्तं धम्म सरणं पव्वज्जामि' अर्थात् केवली भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म। मैं उसी धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। उसी धर्म की शरण में जाने से संसार की स्थिति का नाश होगा। यह बहुत सरल उपाय है अपने आत्म कल्याण का।

यदि यह भी नहीं हो पाता तो इसी जिनागम की तीव्र भक्ति करो। यह दूसरा कारण कहा है संसार को नाश करने का। जिनवाणी की पूजा करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव एवं आचार्य पूज्यपाद स्वामी के द्वारा लिखी गई प्राकृत एवं संस्कृत की भक्तियाँ पढ़ो। जिनवाणी की रक्षा करने का अभिप्राय रखो। शास्त्रों के प्रकाशन में अपने धन का उपयोग करो। जैसे दक्षिण भारत में अतिमब्बे नाम की महारानी ने एक गरीब बेटे को पढ़ाया, लिखाया और कन्नड़ साहित्य का महाकवि बनाया। उस कवि का नाम आज भी कन्नड़ साहित्य में अमर है । रन्न कवि के नाम से उसकी ख्याति है। ऐसे व्यक्ति तैयार करो जो साहित्य की सेवा करें। स्वयं ज्ञान से भरे हों और दूसरों को भी ज्ञान से भर दें। ऐसे ही अगर एक माँ अपने या पराये किसी भी पुत्र, पुत्री को जैन धर्म के संस्कार देकर, जैन दर्शन पढ़ाने का महाउपकार करने का संकल्प करे तो यह धर्म बहुत आगे बढ़ता रहेगा। धर्म की परम्परा एक गृहस्थ भी बढ़ा सकता है। हम पढ़े नहीं हैं तो कोई बात नहीं किसी को पढ़ाकर बहुत बड़ा उपकार कर सकते हैं । यह जिनवाणी की भक्ति से भरे होने पर ही सम्भव है।

जब ऐसा ही कोई संकल्प लेना हो तो किसी आत्मा को जैन दर्शन का मर्मज्ञ, किसी भी एक अनुयोग का प्रकाण्ड विद्वान् बनाने का संकल्प लेना। केवल उसे प्रवचनकार बनाकर ही अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं समझ लेना।

पूर्वज कवियों के जिनवाणी के लिए लिखे गए भजन से भी आत्मा में विशुद्धि बढ़ती है, जब हम उन्हें पढ़ते हैं और उनका अर्थ समझकर अपनी भक्ति बढ़ाते हैं । वीर हिमाचल से निकसी.........', 'साँची तो गंगा है वीतराग वाणी.........' इत्यादि बहुत से भजन मन को आह्लादित करते हैं।

जब जिनवाणी के ज्ञान से और उसकी भक्ति से विशुद्धि बढ़ती है तो आत्मा में कुछ विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं । जो विशेष परिणाम संसार नाश के कारण होते हैं उन्हें करण कहते हैं। करण नाम परिणामों का ही है। इन विशेष परिणामों को तीन प्रकार का कहा है । १. अध:प्रवृत्तकरण २. अपूर्व करण ३. अनिवृत्तिकरण।

ये तीनों परिणाम क्रमशः होते हैं । प्रत्येक का समय अन्तर्मुहूर्त का है। तीनों ही परिणाम क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि के साथ होते हैं। अनिवृत्तिकरण में वह कार्य नियम से पूर्ण होता है।

डरो मत! आओ इन परिणामों की परिभाषा को सरलता से समझते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण- यहाँ ऊपर-ऊपर के समय सम्बन्धी परिणामों के साथ अन्य जीव के नीचे के समय सम्बन्धी परिणाम समान होते हैं इसलिए इसे अधःप्रवृत्तकरण कहा जाता है। अर्थात् वे परिणाम जो अपने बाद के, नीचे के समय सम्बन्धी परिणामों से समानता लिए होते हैं।

ये करण परिणाम एक जीव में होते हैं किन्तु समझाने के लिए जो परिभाषा बनाते हैं, उसमें नाना (अनेक) जीवों का सहारा लेकर समझाते हैं।

जैसे कोई दौड़ में भाग लेने वाले धावक एक साथ दौड़ना प्रारम्भ करते हैं। उनमें से कोई तो आगे निकल जाते हैं, कोई बीच में रह जाते हैं और कोई पीछे रह जाते हैं।

कल्पना करो कि पाँच मिनट बाद फिर धावकों की एक टुकड़ी उसी स्थान से दौड़ लगाती है। उनमें से कुछ धावक पहले दौड़ने वाले किन्हीं धावकों को पा लेते हैं। जो पाँच मिनट पहले दौड़े थे, उनमें जो सबसे आगे थे उन्हें तो नहीं मिला पाते हैं किन्तु उनमें जो बीच में दौड़ रहे थे या पीछे रह गए थे उनको मिला लेते हैं।

जो पाँच मिनट पहले एक साथ दौड़े थे लेकिन पीछे रह गए। उनकी विशुद्धि कम थी और जिन धावकों ने बाद में चलना प्रारम्भ किया किन्तु आगे वालों को मिला लिया उनकी विशुद्धि अधिक थी। इसी तरह अधःप्रवत्तकरण में कुछ परिणाम ऐसे होते हैं जिनकी विशुद्धि अपेक्षाकृत कम होती है और एक, दो सेकण्ड या मिनट बाद कोई अधःप्रवृत्तकरण प्रारम्भ करता है तो पहले वाले से उसके परिणाम मिल जाते हैं पिछले वाले जीव से इसी समानता के कारण इन्हें अधःप्रवृत्त अर्थात् नीचे प्रवृत्ति करने वाले कहे जाते हैं।

नाना जीवों से तुलना करने का तात्पर्य उन परिणामों की क्वालिटी बताने का है जो परिणाम अन्तर्मुहूर्त तक एक समान नहीं रहते हैं।

अपूर्वकरण- इस करण में भिन्न समय में रहने वाले जीव के परिणाम समान, असमान दोनो होते हैं।

इसका नाम अपूर्वकरण इसलिए है कि यहाँ आगे-आगे के समयों में स्थित जीवों के द्वारा जो पूर्व-पूर्व समयों में नहीं प्राप्त हुए हैं ऐसे विशुद्ध परिणाम प्राप्त किए जाते हैं।

पूर्वोक्त उदाहरण में जो पाँच मिनट बाद दूसरी टुकड़ी ने रेस लगाई। मान लो कि उस टुकड़ी के धावक कितना ही तेज दौड़ें फिर भी परिणामों की विशेषता है कि भिन्न-समयवर्ती जीव के परिणामों में भिन्नता ही रहेगी। इसके विपरीत अधःप्रवृत्तकरण में भिन्न-भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता पायी जाती है। तथा एक समयवर्ती जीवों में जैसे अधःप्रवृत्तकरण में समानता और असमानता दोनों होती है वैसे ही अपूर्वकरण में भी है।

अनिवृत्तिकरण- यहाँ एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता पाई जाती है तथा उपरिम समयवर्ती जीवों की विशुद्धि अनन्त गुणी बढ़ी हुई रहती है।

जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में एक टुकड़ी एक साथ दौड़ लगाने को तत्पर हुई तो वे सभी जीव एक साथ अनिवृत्तिकरण प्राप्त करेंगे उनके प्रति समय के परिणाम समान होंगे। जो धावक एक समय पीछे दौड़ना प्रारम्भ किए तो वे आगे वाले के समान नहीं हो पाएंगे, इसी तरह जो एक समय बाद अनिवृत्तिकरण को प्राप्त किए हैं, उनके परिणाम अनन्तगुणे हीन विशुद्धि वाले होंगे और आगे वाले के अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होंगे। इससे स्पष्ट है कि भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता ही होती है और समान समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही होती है।

जैसे किसी मशीन में तीन प्रकार के कटर लगे हों और आगे-आगे के कटर अधिक-अधिक पैने हों ऐसी ही स्थिति इन तीन प्रकार के परिणामों की जानना।

हे कर्मविलिप्तात्मन्! ये अनिवृत्तिकरण परिणाम ही बहुत तीक्ष्ण पैनी धार के समान हैं जो कर्मों का घात करने में समर्थ होते हैं । मोक्षगामी जीव को इन परिणामों को कई प्रसंगों में अलग-अलग समय पर प्राप्त करना होता है।

सर्वप्रथम तो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव इन परिणामों को तब प्राप्त करता है जब वह उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख होता है। इसी प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । प्रथम बार सम्यग्दर्शन का लाभ इन्हीं करण परिणामों से प्राप्त होता है।

दूसरी बार इन परिणामों की प्राप्ति अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना के समय होती हैं। इन परिणामों के बिना अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता का अभाव नहीं होता है।

तीसरी बार क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय इन अनिवृत्तिकरण परिणामों की कृपा चाहिए पड़ती है।

चौथी बार द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय इन अनिवृत्तिकरण परिणामों का प्रसाद चाहिए।

पांचवी बार चारित्र मोहनीय का उपशम करते समय और छठवीं बार चारित्र मोहनीय का क्षय करते समय इन परिणामों की प्राप्ति होती है, तभी यह उपलब्धियाँ होती हैं।

संसार की स्थिति का घात करने वाला चौथा कारण केवली समुद्घात है। अरिहन्त केवली ही इस परिणाम से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के बराबर कर लेते हैं। केवली भगवान् का वह समुद्घात आयु का अन्तर्मुहूर्त काल अवशिष्ट बचने पर होता है। यह समुद्घात चार प्रकार का होता है

। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण । इस प्रक्रिया में क्रमश: पहले तो एक-एक समय में आत्म प्रदेशों का विस्तार होता है फिर प्रत्येक समय में संकोच होता हुआ आठवें समय में शरीर में आत्मा के प्रदेश प्रवेश कर जाते हैं।

जिस प्रवचन(आगम) में इन चार कारणों को बताया गया है, उस प्रवचन को मैं भक्ति से प्रणाम करता हूँ।

उसी प्रवचन की महिमा और कहते हैं–

जस्स य भत्तिविजुत्तो समणो कदा ण होदि एयग्गमणो।
ण हि झाणं विण्णाणं तं पवयणं सया पणमामि॥५॥

श्री जिन के प्रवचन में डूबा ज्ञान उसी का सम्यग्ज्ञान
वही श्रमण एकाग्रमना है प्रवचन भक्ति-भाव में ध्यान।
ज्ञान-ध्यान का मुख्य हेतु है श्री जिनवाणी का नित पान
श्रमण बना पर शास्त्र बिना तो द्रव्य श्रमण वह है नादान॥५॥

अन्वयार्थ : [जस्स य] जिसकी **[भत्तिविजुत्तो]** भक्ति के बिना **[समणो]** श्रमण **[एयग्गमणो]** एकाग्रमना **[कदा]** कभी **[ण होदि]** नहीं होता है **[ण हि झाणं विण्णाणं]** न ही ध्यान और विज्ञान होता है **[तं पवयणं]** उस प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : प्रवचन का माहात्म्य अनिवर्णनीय है। हे प्रियात्मन्! यह प्रवचन श्रमण और श्रावक दोनों के लिए बहुउपकारी है। इस प्रवचन, शास्त्र की भक्ति के बिना श्रमण का मन कभी एकाग्र नहीं होता है, श्रावक की तो बात ही क्या? भक्ति एक ऐसी चीज है कि अज्ञानी के मन में भी यदि जिनवाणी के प्रति भक्ति आ जाए तो उसका मन एकाग्र हो जाता है। भक्ति परिणामों को निर्मल बनाती है । भक्ति का फल बहुआयामी है। भक्ति से श्रद्धा उत्पन्न भी होती है और उत्पन्न हुई श्रद्धा दृढ़ भी होती है।

अरे सम्यग्दृष्टि जीव! सम्यग्दृष्टि जीव के मन में भक्ति की तरंगें हिलोरें लेती रहती हैं । यदि भक्ति के साथ ज्ञान भी हो तो वह भक्ति अत्यन्त विशुद्ध और दृढ़ परिणाम उत्पन्न करती है।

कितना अद्भुत है, कितना साहस है और श्रद्धान है उन मुनिराज का जो एक पूर्व कोटि की आयु के धारक हैं। उन्होंने यदि ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में दीक्षा ग्रहण कर ली तो एकान्त में मौन रहकर इतना दीर्घकाल व्यतीत कर लेते हैं। जिनवाणी की भक्ति से वह विज्ञान की आराधना करते हैं। विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान, जिसे भेदविज्ञान कहते हैं। अपनी आत्मा से पृथक् रूप परिणति में किञ्चित् भी एकत्व स्थापित न हो

जाए, इस सावधानी से वह आत्म परिणति के निकट रहते हैं। इसी भेद विज्ञान की अभ्यस्त दशा में ध्यान लगता है। एकाग्र परिणति श्रमण के लिए उत्तम धन है। एकाग्र परिणति से ही श्रामण्य है। एकाग्र परिणति से ही विज्ञान है और एकाग्र परिणति की पूर्णता का नाम ही ध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द देव इसी एकाग्रता परिणति पर जोर देते हुए कहते हैं–

एयग्गगदो समणो एयत्तं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।।

अर्थात् श्रमण एकाग्रचित्त होता है । वह एकाग्रता पदार्थों का निश्चय करने से आती है। यह निश्चयात्मक परिणति आगम से आती है इसलिए आगम में चेष्टा करना ही उत्कृष्ट है।

हे कुन्दकुन्दभक्त ! जरा सोचो कि आचार्य कुन्दकुन्द देव स्वयं प्रेरणा दे रहे हैं और प्रेरित कर रहे हैं कि आगम में उपयोग लगाए रहो। आगम को समझो। आगम से ही पदार्थ व्यवस्था का उचित निश्चय होता है। यह पदार्थ का निश्चय भी क्यों करना? इसका प्रयोजन भी बताया है कि एकाग्रता इसी निश्चय से आएगी। मन एकाग्र होगा तो ध्यान लगेगा। ध्यान से कर्मों का क्षय होता है। कर्म क्षय के लिए कारण- कार्य व्यवस्था है। यह व्यवस्था आगम से शुरु होती है। आगम में चेष्टा करने का तात्पर्य है स्वाध्याय करना। यह स्वाध्याय मुख्य रूप से श्रमण के लिए कहा है। यहाँ प्रवचनसार में श्रमण को एकाग्रता के लिए प्रेरित किया है। एकाग्रता से श्रमणपना बना रहता है। चंचलता से श्रमण के भाव विलीन हो जाते हैं।

भगवान् कुन्दकुन्द ने स्वाध्याय उनके लिए मुख्य रूप से कहा है जो बाह्य पुरुषार्थ कर चुके हैं । जो सर्वस्व त्यागी हैं, उन्हें अन्तरंग पुरुषार्थ करना ही बचा रहता है।

अन्तरंग पुरुषार्थ में भेद विज्ञान, ध्यान की एकाग्रता आदि आते हैं। इस स्वाध्याय के लिए प्रेरित करने का प्रयोजन ध्यान में विलीन करना था। परन्तु आज स्वाध्याय का विपरीत परिणमन दिख रहा है। स्वाध्याय श्रमणों का मुख्य तप न रहकर श्रावकों का मुख्य धर्म हो रहा है। वह भी उन श्रावकों का जो जिनेन्द्र पूजा को हेय बताकर स्वाध्याय को उपादेय बता रहे हैं। जिनशासन का नाश करने वाली ऐसी बातें स्वाध्याय के फलस्वरूप सामने आ रही हैं।

श्रावक बन्धो ! सदैव ध्यान रखना, श्रावक का प्रथम कर्तव्य देवपूजा है। उसके बाद गुरु उपासना है फिर स्वाध्याय का क्रम आता है। देवपूजा को छोड़कर और गुरु निन्दा करके यदि स्वाध्याय करोगे तो यह अक्रम से प्रवृत्ति होगी, उसका फल उलटा ही मिलेगा। और यह उलटापन देखने में भी आ रहा है। स्वाध्याय करने वालों ने यह सार निकाला है कि पूजा तो बन्ध का कारण है और स्वाध्याय निर्जरा का कारण है। बस यही फल की विपरीतता है। इस अक्रम से चेष्टा करने का यह फल दिख रहा है कि स्वाध्याय करके ऐसी

विपरीत बातें जहाँ एक ओर हो रही हैं, वहीं दूसरी ओर स्वाध्यायी एकाग्रमना होने की बजाय कषायाविष्ट, गुरु निन्दक, संयमवंचित, प्रमादी और पुरुषार्थहीन होते जा रहे हैं। स्वाध्याय का फल एकाग्रचित्त होकर ध्यानी बनकर कर्म क्षय करना है न कि प्रमादी बनना।

इस स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप ऐसे अनेक तथ्य सामने आ रहे हैं जो श्री जिनेन्द्रभगवान् के अनेकान्त शासन के विपरीत हैं। दुनिया के अनेक धर्मों से यह जिनशासन इसीलिए विशिष्ट है कि इसमें वस्तु के अनेक धर्मों का स्याद्वाद पद्धति से विवेचन किया जाता है। जिस अभिप्राय को मानने से प्रमाद, निरुत्साह, पुरुषार्थहीनता आवे वह अभिप्राय कभी भी जिनशासन में मान्य नहीं है। आचार्यों ने जिनवाणी में यदि कर्म बन्ध के मिथ्यात्व आदि कारण बताये हैं तो मोक्ष के भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय रूप कारणों का वर्णन किया है । तात्पर्य यह है कि कारणकार्य की व्यवस्था जिनशासन में जितनी स्पष्ट और सटीक है, उतनी किसी भी दर्शन शास्त्र में नहीं है। संसार हो या मोक्ष, कर्म बन्ध हो या कर्म क्षय प्रत्येक की सकारण, सहेतुक व्यवस्था है। उलटे स्वाध्याय के जो उलटे परिणाम सामने आये हैं, उनके बारे में यहाँ कुछ विचार किया जाता है। समय-समय पर उनका कथन करेंगे। यहाँ पर एक अवधारणा पर विचार करना है कि केवली भगवान् ने जो-जो देखा है, वही होगा, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। सब कुछ क्रमबद्ध परिणमन पर आधारित है। इसी से क्रमबद्ध पर्याय का सिद्धान्त बना लिया और व्रत, संयम, तप के माहात्म्य को अज्ञान की क्रिया सिद्ध कर दिया। पूरे जिनशासन की उलटवार कर दी। जोर-शोर से शिविरों के माध्यम से एकान्त का प्रचार-प्रसार खुले आम हो रहा है । यह हठाग्रह इतना ज्यादा बढ़ गया कि वह कहते हैं- 'कोई भी पुरुषार्थ भी यदि हो रहा है तो वह भी केवलज्ञानी ने जैसा जाना उसी रूप से हो रहा है। भगवान् के ज्ञान के बिना हमारा परिणमन अन्यथा नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ देव ने तीन लोक के सभी पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायें एक साथ देखी हैं। उनके ज्ञान में जो झलका वही होगा। व्रत, संयम धारण करने से तुम उस परिणमन को अन्यथा नहीं कर सकते हो । जब मोक्ष होना होगा, तभी होगा। जब जो पर्याय निकलना होगी, तभी निकलेगी। वर्तमान का तुम्हारा पुरुषार्थ अज्ञानमय है, मिथ्या है। पहले सर्वज्ञ पर विश्वास करो, तभी सम्यग्दर्शन होगा। सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव ने अनन्त बार व्रत, संयम धारण किया किन्तु संसार ही मिला है। मोक्ष के रहस्य को समझो। यह बहुत दुर्लभ है। सम्यग्ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति नहीं। यह रहस्य समझना ही सम्यग्ज्ञान है।'

स्वाध्यायप्रेमिन् ! कहीं तुम भी भटक तो नहीं गए। तुम भी सोच रहे होगे कि इसमें गलत क्या है? इसमें कुछ बातें सही लग रही होंगी, कुछ गलत भी प्रतिभासित हो रही होंगी। ऐसा होना स्वाभाविक है। उसका कारण भी यह है कि अनेकान्त दर्शन की अवधारणा और न्याय आधारित वस्तु तत्त्व का निर्णय तुम्हें नहीं है। ध्यान रखना! बाजार में कोई भी माल पूर्णत: अशुद्ध कोई नहीं बेच सकता। जब भी बिकेगा

तो शुद्ध वस्तु में मिलकर ही बिकेगा। इसी प्रकार मिथ्या, एकान्त अभिप्राय भी शुद्ध जिनवाणी से निकालकर ही आपको दिखाया जायेगा ताकि आपको जिनवाणी पर विश्वास बना रहे। आज जिनवाणी में जनवाणी इस तरह मिश्रित होकर आ रही है कि भोला-भाला आत्मा मिलावट को समझ ही नहीं पाता है।

यदि आप कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं हैं तो भी निराश न होवें, वस्तु तत्त्व का निर्णय आपको होगा। यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो शास्त्रीय उद्धरण और उदाहरण देकर इस बात को समझेंगे। दोनों प्रकार के जिज्ञासुओं को समाधान मिलेगा। धैर्य धारण करके जिनवाणी का रसपान करो।

जो शास्त्र स्वाध्याय नहीं किए हैं, जिन्होंने जिनदर्शन की गूढ़ता को नहीं समझा है, वे भी इतना तो समझते हैं कि जो अभिप्राय हमें पराश्रित बना दे, आलसी बना दे, गुणों से दूर कर दे और तपस्वी का निन्दक बना दे, वह अभिप्राय(एटीट्यूड) कभी भी किसी का हितकारी नहीं हो सकता है। जिस अभिप्राय या अवधारणा का अन्तिम परिणाम शून्य हो वह अभिप्राय कभी भी समीचीन नहीं हो सकता है।

सर्वप्रथम एक क्षण के लिए यदि हम मान लें कि जो-जो वीतराग ने देखी है, वैसा ही होगा। तो इस सोच का परिणाम क्या होगा?

१. हम पराश्रित होंगे, क्योंकि हम अपनी इच्छानुसार आत्महित नहीं कर सकते हैं। हमने सुना था कि जैन दर्शन में वस्तु स्वतन्त्र है, वह अपने परिणमन से परिणमन करती है। कोई भी ब्रह्मा, विष्णु उस परिणमन को न करा सकता है और न उस परिणमन को रोक सकता है। जैन दर्शन में ईश्वरवाद नहीं है। न्याय ग्रन्थों में ईश्वर कर्तृत्ववाद का खण्डन पूर्वाचार्यों ने डंके की चोट पर किया है। जैन दर्शन को पढ़कर हमें सबसे बड़ी प्रसन्नता इसी बात की हुई थी कि हमारे ऊपर किसी ईश्वर की सत्ता नहीं चल रही है। मेरा आत्मा स्वतन्त्र है। वह किसी ईश्वर के द्वारा कभी मिटाया नहीं जा सकता। इसीलिए अपनी आत्मा का हित हमें स्वयं करना है। जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्व के आश्रित रहना कभी नहीं सिखाता है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंक देव, आचार्य विद्यानन्द जैसे महान् दर्शनकारों, न्यायवेत्ताओं के माध्यम से जब हमने आप्तमीमांसा, अष्टशती, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, तत्त्वार्थ शोकवार्तिक जैसे ग्रन्थों का अध्ययन किया तो हमने राहत की श्वास ली कि अनन्त काल से जैन दर्शन की इसी विशिष्टता को ग्रहण न करने के कारण हम संसार में भटकते रहे हैं। आत्मा स्वतन्त्र है और अपने परिणमन का जिम्मेदार वह स्वयं है। किसी अदृश्य शक्ति, किसी अदृश्य परमात्मा की रहमतों का मेरा आत्मा तलबदार नहीं है। ईश्वर को दर-किनार करके स्वयं ईश्वर बनने का पुरुषार्थ एक मात्र जैन दर्शन सिखाता है। ईश्वर का महत्त्व किन अर्थों में है उस बात को यहाँ बीच में लाना अभी अप्रासंगिक समझता हूँ। ईश्वर को जैन दर्शन मानता है लेकिन पराधीनता से नहीं। आत्मा ईश्वर के पराश्रित नहीं है, बल्कि आत्मा ईश्वर के उपकारों को मानता है।

शायद यह बात नहीं समझने के कारण ही कुछ लोगों ने जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा है।

आज हम इसी आधार पर पुनर्विचार करें कि तमाम स्वाध्याय करने के बाद हम कौन सा सार लेकर दुनिया के सामने आए। केवलज्ञानी ईश्वर के देखने के अनुसार यदि हमारा परिणमन है तो हम फिर से पराश्रित हो गए। जिस ईश्वर की पराधीनता से बचकर हमने जैन सिद्धान्तों को पढ़ा, सीखा और अन्त में हम भी किसी न किसी रूप में उस पराधीनता को फिर स्वीकार करने लगे तो कहना होगा कि संसार गोल है। जहाँ से यात्रा शुरू हुई थी वहीं पर घूमकर फिर आ गए। मोक्ष की राह तुम्हें मिलकर भी मिल न सकी। बात वही है पहले ईश्वर के कर्तृत्ववाद से हम पराधीन थे, अब ईश्वर के सर्वज्ञवाद से हम पराधीन हो गए। कोई अन्तर नहीं है इन दोनों अवधारणाओं में। पहले ईश्वर करता था अब आपका सर्वज्ञ आपको करा रहा है। अजैनों में ईश्वर करता है तो जैनों में ईश्वर का ज्ञान कर रहा है, बात एक ही है। आत्मा का कर्तृत्ववाद हमने नहीं स्वीकारा तो आत्मा के ज्ञान(केवलज्ञान) का कर्तृत्व हम स्वीकारने पर जोर दे रहे हैं। कुल मिलाकर हम उसी खाई में गिरने की पुनः तैयारी कर रहे हैं जिस खाई से हमें निकलने का संबल मिला था।

२. एकान्त मत की पहचान यह है कि जिसे मान लेने पर वस्तु की व्यवस्था ही न बने और शून्यता उपस्थित हो जाए। वस्तु को सर्वथा नित्य मान लेने पर भी शून्यता आ जाती है और वस्तु को सर्वथा अनित्य मान लेने पर भी शून्यता आ जाती है। इसीलिए एकान्तवाद मिथ्या है यह हमें अन्ततोगत्वा शून्य में पटक देता है। यह न्याय पद्धति का सार है। इसी को आचार्य समन्तभद्र देव ने इस प्रकार कहा है- 'विधेर्निषेधश्च च शून्यदोषात्।' हम विचार करें कि सर्वज्ञ के केवलज्ञान के आश्रित हो जाने पर हम स्वयं निश्चिन्त होंगे। हमें किसी भी व्रत, संयम, तप का कष्ट उठाने की जरूरत नहीं रहेगी। दुनिया से जैन धर्म का नामोनिशान भी उठ जाएगा क्योंकि जब सब कुछ सर्वज्ञ आश्रित है तो अलग से जैन धर्म यह नाम भी देने की क्या जरूरत है? सर्वत्र शून्यता, शून्यता आ जाएगी। क्या जरूरत थी सर्वज्ञ को उपदेश देने की? इस दुनिया में आलसी और मक्कारों की कोई कमी नहीं है। जब जिसकी काल लब्धि आएगी, मोक्ष की पर्याय प्रकट हो जाएगी। क्या जरूरत थी आचार्य कुन्दकुन्द को शास्त्र लिखने की, क्या जरूरत थी संयम की, दया धर्म की बात कहने की, क्या जरूरत थी उन्हें समयसार लिखते समय यह कहने की कि यदि मैं चूँक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।' जिसका जो परिणमन होता है वह तो होगा ही। क्या आचार्य कुन्दकुन्द के कहने मात्र से कोई छल ग्रहण करना छोड़ देगा? क्या जरूरत है मुनि और श्रावकों को छह आवश्यक क्रियाओं में लगाने की? भगवान् ने जिसका मरण जब देखा है तब होगा ही ऐसी स्थिति में क्या जरूरत थी विष भक्षण से, दुर्घटना से बचने की? बन्धुओं! यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो सर्वत्र शून्यता छा जाएगी। दुराचार और सदाचार सब बराबर हो जाएंगे।

३. जो लोग इस सिद्धान्त पर विश्वास रखते हैं, वे भी झूठ बोलते हैं । यदि इतना ही विश्वास तुम्हें सर्वज्ञता पर है तो क्यों अपने अलग से मन्दिर, अलग से गढ़ बनाए जा रहे हैं। क्यों लोगों को फुसला कर अपनी समाज बनाई जा रही है। क्यों गरीबों को, या गैर समाज को लालच देकर उनको अपने गढ़ में मिलाया जा रहा है? इससे सिद्ध होता है कि ऐसे लोगों को न सर्वज्ञ पर विश्वास है और न सर्वज्ञ के कहे सिद्धान्तों पर। यह विचार हुआ युक्ति से। आओ! अब हम विचार करते हैं शास्त्रीय पद्धति से, आगम से।

भगवान् के केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों के गुण और पर्याय त्रिकालवर्ती युगपत् स्पष्ट झलकते हैं, इस विषय में हमें तनिक भी सन्देह नहीं करना है। केवलज्ञान का यही स्वरूप है। सर्वज्ञदशा न्याय सिद्ध है। फिर भी भगवान् ने यह नहीं कहा है कि तुम्हें हमने जाना है या देखा है अतः तुम्हारा परिणमन हमारे अधीन है। वस्तु का परिणमन जैसा हमारे ज्ञान में है वैसा ही होगा, तुमको पुरुषार्थ करने की जरूरत नहीं है। या तुम्हारा किया हुआ पुरुषार्थ भी ऐसा ही होगा जैसा हम देख रहे हैं।

भगवान् ने केवलज्ञान से जो देखा, जैसा देखा वह सब हमें स्वीकार्य है। भगवान् ने अपनी दिव्यध्वनि में कहीं भी ऐसा नहीं कहा कि वस्तु का परिणमन, कार्य की सिद्धि हमारे अधीन है। ऐसी स्थिति में हम उस बारे में क्यों सोचें जिसे सोचना हमारे ज्ञान से परे है। भगवान् ने क्या देखा, क्या जाना? इससे हमें मतलब ही नहीं है। भगवान् के देखने, जानने से हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। हमें तो इस बात से मतलब है कि भगवान् ने क्या कहा? हमें क्या आज्ञा दी? विश्व की व्यवस्था के क्या कारण बताए?

भगवान् के कहने मात्र से भी ऐसे भगवान् पर हम कभी विश्वास नहीं करेंगे जो कहते हों कि मैंने कहा सो सत्य है, बाकी सब असत्य है। एक तो भगवान् ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि इस प्रकार कथन करने से आप सर्वज्ञ भगवान् और अन्य भगवान् में क्या अन्तर रहा? दूसरी बात अन्यत्र कहा जाता है, हे प्राणिन् तुम मेरी शरण में आओ। मेरी शरण छोड़कर तुम्हारा उपकारक कोई नहीं? मैं ही सर्वज्ञ हूँ। और इधर आपके सर्वज्ञ भगवान् भी कहें कि जो मैंने देखा वही होगा। मेरे बिना इस विश्व का कोई कार्य नहीं होगा। ऐसी स्थिति में आप सर्वज्ञ भगवान् और अन्यत्र विद्यमान ईश्वर का उपदेश एक समान हो गया। विश्व पर अपनी सत्ता कायम रखने वाले दोनों भगवान् के उपदेशों में कुछ अन्तर नहीं है। हमें ऐसे किसी भगवान् की जरूरत नहीं है जो मेरी आत्मा पर और विश्व पर अपना अधिकार जताता हो।

जैनदर्शन विज्ञात्मन्! हम वे लोग नहीं हैं जो किसी की, कुछ भी बातों पर विश्वास कर लें। भगवान् पर हम विश्वास उनकी वाणी से करेंगे। उनके कहे वचनों को न्याय की कसौटी पर कसेंगे। जब वे वचन निर्दोष और युक्तियुक्त सिद्ध होंगे तभी हमें मान्य होंगे और उन वचनों को कहने वाला वक्ता मान्य होगा।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र जी के ग्रन्थों को पढ़कर तुम्हारी बुद्धि भ्रमित हो गई हो तो अब आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलंक देव के ग्रन्थों का अध्ययन करो।

जो अपने को सर्वज्ञ कहे और कहे कि जो मैंने अपने ज्ञान में देखा है वही घटित होगा, विश्व की व्यवस्था का और कोई हेतु नहीं है, तो कान खोलकर सुन लो! हमें न ऐसे सर्वज्ञ की जरूरत है और न उस सर्वज्ञ के कहे आगम की। कारण यह कि दोनों ही मिथ्या हैं। यह कहने का साहस आपको आचार्य समन्तभद्र जैसे उद्भट दार्शनिक विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ने से ही आ सकेगा, और कहीं से नहीं। भगवान् सर्वज्ञ की परीक्षा करने का साहस मात्र उन्हीं एक आचार्य में था। उन्हीं एक आचार्य का स्पष्ट उद्घोष है कि भगवान् आप सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र के अविरुद्ध हैं। यथा

'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' आप्तमीमांसा की यह पंक्ति हमारे मन में एक बहुत बड़ा साहस भर देती है।

छह द्रव्यों से भरे इस विश्व की व्यवस्था न किसी ईश्वर से चल रही है और न किसी ईश्वर की सर्वज्ञता से। विश्व की व्यवस्था चल रही है उपादान और निमित्त कारणों की समष्टि से। इसी को अन्तरंग और बहिरंग कारण कहते हैं। जिसमें कार्य घटित हो वह उपादान कारण और जो उस कार्य में सहायक हो वह निमित्त कारण है। निमित्त कारण कभी भी कार्य रूप परिणत नहीं होता है किन्तु कार्य को पूर्ण करने में सहायक होता है। आचार्य समन्तभद्र देव ने कार्य संपादन की यही विधि बताई है। संसार भी उपादान और निमित्त के संयोग से चल रहा है और मोक्ष भी उपादान और निमित्त के संयोग से ही होगा। संसार के लिए निमित्त कारण अलग है और मोक्ष के लिए निमित्त कारणभूत अलग हैं। स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है कि–

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥

अर्थात् हे वासुपूज्य भगवन्! आपके मत में कार्य सम्पादित होने में यह बाह्य उपाधि (कारण) और अन्तरङ्ग उपाधि की समग्रता ही सब कुछ है। द्रव्यगत यह स्वभाव ही है। आत्माओं को मोक्ष की विधि अन्य प्रकार से नहीं है इसलिए गणधर आदि बुधजनों से वन्दनीय आप ऋषि हैं।

कारण-कार्य की यह व्यवस्था कार्य को उत्पन्न करती है। भगवान् के ज्ञान में दिखने से कोई कार्य नहीं होता है किन्तु कार्य होता है अपने-अपने उपादान और तदनुरूप निमित्तों के संयोगों की मुख्यता से। शुद्ध द्रव्य हों या अशुद्ध द्रव्य कार्य तो इसी प्रकार से होता है।

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने कभी भी अपनी दिव्यध्वनि से ऐसा नहीं कहा कि विश्व का परिणमन हमारे ज्ञान पर आधारित है। जैसा मैं देख रहा हूँ वैसा ही होगा। किसी भी आगम में किन्हीं भी आचार्यों ने ऐसा नहीं लिखा है। सभी आचार्यों को उपर्युक्त कारण-कार्य की व्यवस्था ही स्वीकार्य है। प्रत्येक आचार्य

ने यही व्यवस्था मानी है। साक्षात् भगवान् की दिव्यध्वनि का पान करने वाले गणधर परमेष्ठी भी इसी बात को कहे हैं और तभी उन्होंने अंगपूर्व में जिनवाणी को गूंथा है।

आत्मा में केवलज्ञान उत्पन्न होता है। सर्वज्ञता सभी को अबाधित सिद्ध है। प्रत्येक द्रव्य का त्रिकाल परिणमन ज्ञान में साक्षात् आता है, यह सब होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति उपादान और निमित्त के अनुसार ही होगी।

छह द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनमें जीव, पुद्गल को छोड़कर बाकी सभी द्रव्य एकान्ततः शुद्ध हैं। प्रत्यय, निमित्त, कारण एक ही बात है। 'स्व प्रत्यय' का अर्थ है द्रव्य की अपनी निजी योग्यता।

हे भव्य ! प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप होने से ही सत् है। प्रत्येक द्रव्य में यह परिणमन प्रति समय चलता रहता है। जो शुद्ध द्रव्य हैं उनका परिणमन हमेशा शुद्ध रूप ही रहता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें कभी भी अशुद्ध परिणमन न हुआ, न हो रहा और न कभी होगा। ये शुद्ध द्रव्य अपनी ही उपादान शक्ति से परिणमन करते रहते हैं। स्वप्रत्यय से स्वयं वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणमन कैसे होता रहता है, उसमें भी क्या कारण है? तो आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में इसका उत्तर दिया है -

'स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।' स.सि. ५/७

अर्थात् स्वनिमित्त से जो उत्पाद, व्यय होता है वह पदार्थ में रहने वाले अनन्त अगुरुलघु गुणों के कारण होता है। ये अगुरुलघु गुण आगम प्रमाण से ही जाने जा सकते हैं। ये गुण षट्स्थान में पतित वृद्धि और हानि से प्रवर्तन करते रहते हैं। इसलिए स्वभाव से इनका उत्पाद, व्यय होता रहता है।

शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल(परमाणु) का परिणमन भी इसी प्रकार होता है । अशुद्ध द्रव्य जीव और पुद्गल दो ही होते हैं । उनका यह अशुद्ध परिणमन वैभाविक परिणमन कहलाता है। चूँकि अगुरुलघु गुण के द्वारा परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य में होता है चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध हो। इसलिए अशुद्ध द्रव्यों में भी प्रतिसमय जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप सूक्ष्म परिणमन होता रहता है वह स्वप्रत्यय से होता है। और पर पदार्थ के निमित्त से जो परिणमन होता है वह पर प्रत्यय से स्थूल रूप परिणमन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि वस्तु में परिणति स्व पर प्रत्यय के कारण होती है। इस तरह अशुद्ध वस्तु में परिणमन स्व प्रत्यय के साथ पर प्रत्यय से भी होता है इसी को सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार कहा है- 'द्विविधः उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च।' इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्रत्यय द्रव्य की निजी योग्यता है । इसी योग्यता को

उपादान कारण कहते हैं। यह उपादान कारण प्रत्येक द्रव्य में स्वप्रत्यय से मौजूद है। इसका कारण है कि प्रत्येक द्रव्य में चाहे वे शुद्ध हों या अशुद्ध, वे द्रव्य अगुरुलघु गुण के द्वारा स्वयं परिणमन करने की योग्यता रखते हैं।

पर प्रत्यय में 'च' शब्द से स्वप्रत्यय भी जोड़कर चलना क्योंकि केवल पर प्रत्यय से कोई भी परिणमन नहीं होता है यदि वस्तु में परिणमन की स्वयं योग्यता न हो। इसलिए प्रत्येक परिणमन 'स्व-पर प्रत्यय' से होता है, यह जानना। आचार्य अकलंक देव ने इसी पर प्रत्यय को बाह्य प्रत्यय कहा है। यह बाह्य प्रत्यय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के लक्षण वाला है। **'द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः - ' राज. वा. ५-२**

अरे पाठकों! डरो मत। समझो। यह इसलिए बताया जा रहा है कि आचार्यों के सिद्धान्त में कहीं भी मतभेद नहीं है। जिस तरह आचार्य समन्तभद्र जी कहते हैं कि कोई भी कार्य बाह्य और अन्तरङ्ग कारणों की समग्रता से होता है उसी प्रकार आचार्य, पूज्यपाद, आचार्य अकलंक देव, आचार्य उमास्वामी आदि भी तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी टीकाओं में कहते हैं। बात एक ही है। स्वप्रत्यय का अर्थ है अन्तरङ्ग कारण । इसी को उपादान कारण कहते हैं। पर प्रत्यय का अर्थ है बाह्य कारण । इसी को निमित्त कहते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी कार्य के लिए उपादान, निमित्त या स्वपर प्रत्यय ही आवश्यक अंग या घटक बताये हैं। बाह्य प्रत्यय जो कि सहकारी कारण है इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चार ही कारण लिए जाते हैं। किसी भी कार्य का उत्पाद इसी सिद्धान्त से होता है और कोई सर्वज्ञ ज्ञान की पराश्रितता नहीं बताई गई है। स्वयं सर्वज्ञ देव ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप वस्तु कही है और उस परिणमन में निमित्त कारणों को भी स्वीकारा है। देखो ! तत्त्वार्थ सूत्र में प्रत्येक द्रव्य के उपकार का वर्णन किया है। वह उपकार वस्तुतः निमित्त कारणों को बताने के लिए है । इन कारणों में जीव द्रव्य के लिए कहा है कि **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** अर्थात् जीव द्रव्य का परस्पर में उपकार है। केवली भगवन्तों का यह महान् उपकार है जो हमें वस्तु तत्त्व का यह सूक्ष्म ज्ञान अपनी दिव्य ध्वनि से दिया है। उसके बाद गणधर परमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी की परम्परा का हमारे ऊपर महान् उपकार है। यह उपकार भी बाह्य निमित्त के रूप में है। इसमें कहीं भी पराश्रितता नहीं है।

प्रियबन्धो ! जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है कि स्वतन्त्र आत्म द्रव्य की अनुभूति करो और अनुभूति को छोड़कर जब व्यवहार में प्रवृत्ति करो और तो उन उपकारी के उपकार का भी स्मरण करो। इस तरह निश्चय और व्यवहार को अपनाते हुए पूर्णतः स्वतन्त्र आत्मा बन जाओ।

जब हम यह कहते हैं कि हमारा परिणमन सर्वज्ञ ज्ञान के आश्रित है तो हम पराधीन हो जाते हैं। इसी तरह जब क्रमबद्ध पर्याय की बात करते हैं और इस सिद्धान्त को मान्यता देते हैं तो हम पराधीन हो जाएंगे।

हमारी सभी पर्यायें जब क्रम से बंधी हैं तो हमें अब कुछ भी करने की गुंजाइश ही नहीं रही। द्रव्य बंध गया। स्वतन्त्र आत्मा की बात कैसे की जा सकेगी? इसलिए भव्यात्मन् ! किन्हीं असंयमी की बातों को इस जिनवाणी में मिलाकर इस शुद्धवाणी को अशुद्ध बनाने का अक्षम्य अपराध मत करो। बार-बार तत्त्व का चिन्तन, मनन करो। हठाग्रह छोड़ना ही मिथ्यात्व को तोड़ना है।

भूत, भविष्य और वर्तमान की ये पर्यायें केवलज्ञान में मात्र जानने में आती हैं। ज्ञप्ति(अर्थात् जानना) की अपेक्षा से भगवान् सर्वज्ञ त्रैकालिक पर्यायों को जान रहे हैं। इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है किन्तु उत्पत्ति की अपेक्षा से भगवान् ने यह नहीं कहा कि इन पर्यायों की उत्पत्ति हमारे ज्ञान के अनुसार ही होगी। उत्पत्ति का सिद्धान्त तो कार्य-कारण भाव पर आधारित है।

हे आत्मन् ! उन्हीं तथ्यों को स्वीकार करो जो पूर्वाचार्यों ने कहे हैं। एक झूठ को सिद्ध करने के लिए अनेक झूठ बताने पड़ते हैं। एक झूठ को साबित करने में अनेक झूठों का सहारा लिया जाता है। ठीक वैसे ही जैसे व्रत, तप, संयम को झूठा सिद्ध करने के लिए सर्वज्ञ ज्ञान का सहारा लिया। जैसे कोई किसी छोटी सी बात को कषाय वश बहुत बड़ा बना देता है वैसे ही क्रमबद्ध पर्याय भी बहुत बड़ी बन गई है। पर्याय तो एक समय की होती है, क्षणिक होती है पर कषाय के कारण बहुत समय तक बद्ध रहती है। क्रमबद्ध पर्याय को मानने से क्रमबद्ध कषाय कम हो जाती तो आत्मा में शुद्ध पर्याय की आय हो जाती।

हे करुणापात्र ! समूचे आगम में जिस शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है उसका इतना प्रचार। पूर्वाचार्यों ने जिस रहस्य को कहीं उद्घाटित नहीं किया वह पचास, साठ वर्ष से एक रहस्य हो गया ! समझ नहीं आता कि कोई कल्की हो गया या कलिकाल का एक नया दोष हो गया! पूजा, विधान छोड़कर क्रमबद्धपर्याय का विधान रच गया!

यह काम कोई श्रमण कभी नहीं कर सकता। जो श्रमण रोज प्रतिक्रमण करता है, वह तो कदापि नहीं कर सकता। क्योंकि उसे मालूम है कि 'अच्छा कारिद, मिच्छा मेलिदं ।' अर्थात् स्वेच्छा से कुछ मिला देना या मिथ्या तथ्य मिलाकर कहना ये ज्ञान के दोष हैं । ये ज्ञान की आसादना करने वाले दोष हैं। जिनवाणी के एक अक्षर को अन्यथा पढ़ना, कुछ का कुछ मिलाकर पढ़ना भी जिसे दोष दिखता हो वह श्रमण कभी भी इस कार्य की अनुमोदना नहीं कर सकता। आश्चर्य ! घोर आश्चर्य ! जो रहस्य किसी निर्ग्रन्थ ने, दयामूर्ति ने नहीं कहा उसे एक सग्रन्थ और निर्दयी, असंयमी बता गया। एक नया पन्थ बन गया। यह वाक्य तो समूचे आगम में नहीं है किन्तु यह खता बनी कैसे? तो सुनो। एक वाक्य, मात्र एक वाक्य समूचे आगम, सिद्धान्त और अध्यात्म ग्रन्थों में असंयमियों ने ढूंढा। वह वाक्य आचार्य अमृतचन्द्र जी की समयसार पर लिखी आत्मख्याति टीका का है। पढ़ो–

'जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः,
एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः।'

यहाँ जो 'क्रमनियमित' शब्द आया है बस इसी एक शब्द को खुजला-खुजला कर इतनी बड़ी खता बना दी कि इसकी पीड़ा बनाने वाले को नहीं है किन्तु उस खता का दुष्परिणाम, दुरन्त देखने वाले को अवश्य होती है। इसका अर्थ किया गया- क्रम यानि क्रमशः तथा नियमित यानि निश्चित । अर्थात् जिस समय जो पर्याय आने वाली है, वही आएगी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

विचार करो भव्यात्मन् ! क्या इस शब्द का यही अर्थ है । यदि यही अर्थ हो तो भी नहीं मानना क्योंकि हमने पहले भी चेताया है कि जिसका परिणाम अन्त में अहितकर हो जिसका फल पुरुषार्थ का निषेध और भाग्यवाद की पुष्टि हो, वह कभी सही अर्थ नहीं हो सकता।

एक बहुत बड़ी हिंसा तब हुई थी जब अहिंसा पर आघात हुआ था। अजैर्यष्टव्यम्' अर्थात् अज यानि बकरा कहकर अर्थ किया गया। और उस समय के वसु राजा ने कहा यही अर्थ सही है क्योंकि शब्दकोश में अज माने बकरा लिखा है । दूसरा अर्थ बताने वाले नारद कहता रहा राजन् ! यह अर्थ ठीक नहीं है। अज का अर्थ यहाँ 'नहीं उगले वाला धान्य' लेना। लेकिन पर्वत के मोह में राजा वसु ने वही अर्थ किया और उसी का समर्थन किया जो पर्वत ने कहा था। उस मोह का कारण एक बाई(पर्वत की माँ) भी थी और देखते-देखते राजा वसु नरक चला गया। यह तो केवली भगवान् ने देखा कि राजा वसु नरक में गया सो बता दिया किन्तु वर्तमान में कोई सर्वज्ञ नहीं है। हाँ! निर्णय करने की बात आये तो ऐसे राजा वसु जरूर मिल जाएंगे।

उस चतुर्थ काल में 'अहिंसा के सिद्धान्त पर यह जबरदस्त कुठाराघात था। परिणाम आज तक दिख रहा है अहिंसा से ज्यादा हिंसा का ताण्डव दिख रहा है। ठीक उसी तरह इस पंचम काल में 'अनेकान्त' के सिद्धान्त पर कुठाराघात हुआ और उसका परिणाम भी आज दिख रहा है।

समूचे समयसार में यह रहस्य उद्घाटित नहीं हो पाया। आचार्य कुन्दकुन्द की कोई बात ऐसी नहीं मिली जिससे इस असत्य को समर्थन मिलता तो खोजा गया उन आचार्य अमृतचन्द्र जी को जिनकी शैली में निश्चय की प्रधानता रहती है। पूरे समयसार की टीका में यह वाक्य नहीं मिला। मिला तो मात्र अन्त के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में। वह भी इस अर्थ में नहीं है, जिस अर्थ में उसे बताया गया।

आत्मन्! आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी निमित्त-नैमित्तिक भावों की यथा समय स्वीकारता की है। द्रव्य, गुण, पर्याय का सिद्धान्त वह कुछ अलग से नहीं कह सकते हैं । तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर उन्होंने तत्त्वार्थ सार नाम का ग्रन्थ रचा है। सभी आचार्यों ने पर्यायों को क्रमभावि कहा है। पर्याय क्रम से उत्पन्न होती है। एक के बाद एक पर्याय उत्पन्न होती रहती है। जैसे समुद्र में लहर के बाद लहर उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है।

पर्याय एक साथ बहुत से गुणों की तो उत्पन्न होती है किन्तु प्रत्येक गुण की पर्याय क्रम से ही उत्पन्न होती हैं। एक साथ सभी पर्यायें एक समय में उत्पन्न हो जाएँगी तो द्रव्य का परिणमन ही भविष्य में नहीं हो पाएगा जिससे द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। आचार्यों ने एक स्वर में कहा है कि 'क्रमभाविनः पर्यायाः' अर्थात् पर्याय क्रम से उत्पन्न होती हैं।

बस यही अभिप्राय आचाय अमृतचन्द्र जी का इस '**क्रमनियमितात्मपरिणामैः**' की पंक्ति में हैं। अर्थात् क्रम से निश्चित। बात को समझने में अन्तर है। उसका अर्थ अपने-अपने अभिप्राय से लगाने के ढंग में अन्तर है। आचार्य का कोई दुरभिप्राय नहीं है। दुरभिप्राय मात्र वक्ता का, पाठक का होता है।

भो बन्धो! आप भी कह रहे हो पर्याय क्रम से निश्चित है और हम भी कह रहे हैं कि पर्याय क्रम से निश्चित है। जब बात एक ही है तो अन्तर कहाँ? अन्तर है अपने-अपने अभिप्राय में। आप अपनी कषाय की पुष्टि के लिए नया अर्थ निकालना चाह रहे हो और हम पूर्वाचार्यों की दृष्टि अनुसार आगम कथित अर्थ कह रहे हैं।

पर्याय क्रम से निश्चित है, इसका अर्थ है कि पर्याय क्रम से ही होती है, यह बात निश्चित है। पर्याय का क्रम से होना निश्चित है, ऐसे क्रम से निश्चित हुए अपने परिणामों से उत्पन्न होने वाला जीव, जीव ही है, अजीव नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस पर्याय की जाति भी निश्चित हो गई। अर्थात् इस पर्याय के बाद यही पर्याय उत्पन्न होगी यह प्रतिबद्धता नहीं है।

जैसे किसी टैंक में हमने पानी भर दिया और उसको निकालने के लिए एक टौंटी भी लगा दी। टौंटी ऐसी लगाई जिससे एक-एक बूंद निकले। तो यह निश्चित हो गया कि इसमें में से एक-एक बूंद ही पानी की निकलेगी। न कि यह निश्चित हो गया कि इससे पानी की सफेद बूंद ही निकलेगी। हम जैसा रंग उस टैंक में डालेंगे उस पानी की पर्याय उसी रंग की हो जाएगी। पहले जल की बूंद निकली। हमने उसमें लाल रंग डाल दिया अब लाल रंग की बूंद निकलेगी। फिर हमने काला रंग डाल दिया, अब काले रंग की बूंद निकलेगी। इस तरह पर्याय का परिवर्तन अनेक संयोगों के ऊपर निर्भर करता है। हम गर्म पानी कर देंगे तो गर्म पानी की बूंद निकलेगी। हम ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल निर्मित कर दें कि पानी की परिणति ठण्डी हो जाय तो ठण्डे पानी की बूंद निकलेगी। इस तरह एक बूंद की पर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल के संयोगों से परिवर्तित होती है। इस परिणमन की कोई निश्चितता नहीं है।

इसीलिए करुणावन्त आचार्य परमेष्ठी कहते हैं थोड़ा सा कर्म सिद्धान्त भी पढ़ो। अध्यात्म सिद्धान्त नहीं है। अध्यात्म तो आत्मा के निकट पहुँचाने वाली एक भावना है। अगर कर्म की प्रक्रिया को समझोगे तो कर्मों में अपने आत्म परिणामों से, अपने पुरुषार्थ से उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि प्रक्रिया होती है, इस बात को स्वीकार कर सकोगे।

हे जैनबन्धो ! सम्पूर्ण विश्व के दर्शन और जैनदर्शन में एक मात्र विशिष्टता है तो कर्म सिद्धान्त की। कर्म सिद्धान्त का इतना व्यवस्थित, सूक्ष्म और प्रामाणिक वर्णन किसी भी दर्शन की सोच से परे है। कर्म सिद्धान्त में कर्मों के बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया सविस्तार वर्णित है। बंध और मोक्ष के सिद्धान्तों में जीव के परिणाम और कर्म के स्वभाव का वर्णन है। कर्म कभी इतना बलवान और अनुभाग शक्ति लिए रहता है कि जीव का पुरुषार्थ भी क्वचित् कदाचित् निष्फल रहता है। फिर भी लगातार जीव के पुरुषार्थ और विशुद्ध परिणामों से उन कर्मों पर भी जय पाई जाती है। जीवात्मा के संक्लेश और विशुद्धि से कर्म प्रक्रिया में अन्तर कैसे आता है यह कर्म सिद्धान्त को पढ़कर ही समझा जा सकता है। इस बंध, मोक्ष की प्रक्रिया में कहीं भी सर्वज्ञ ज्ञान के पराधीन होने की बात नहीं आती है। कर्म बंध, कर्म का फल और कर्म से मुक्ति, कर्मों की इन विविध अवस्थाओं में केवली का ज्ञान न बाधक है और न साधक है। इसलिए हे भव्यात्मन् ! तुम अपनी आत्मा के परिणामों की संभाल और कर्म बंध की प्रक्रिया पर विश्वास करके आगे बढ़ो, मंजिल तुम्हारा इंतजार कर रही है।

आगे इसी प्रवचन की और विशेषता कहते हैं–

को अप्पा परमप्पा किंच भवभोगसरीरसब्भावं।
सम्मं जो हि पयासइ तंपवयणं सया पणमामि॥६॥

आतम का स्वरूप कैसा है, कैसा है परमातम रूप
चतुर्गति में दुख सुख कितना क्या सुख बना मही का भूप।
क्या शरीर है, क्या स्वभाव है, भोग सुखों में दुख का मूल
श्री जिनवाणी प्रकट दिखाती शिवसुखका भी सम्यक्कूल॥६॥

अन्वयार्थ : [को] कौन **[अप्पा]** आत्मा **[परमप्पा]** परमात्मा है **[भवभोगसरीरसब्भावं]** भव, भोग और शरीर का स्वभाव **[किंच]** क्या है **[जो]** जो **[सम्म हि]** समीचीन रूप से **[पयासइ]** प्रकाशित करता है **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : हे जिनपथानुगामिन् ! कौन आत्मा परमात्मा है, इस बात का सही ज्ञान भी दुर्लभ है। दुनिया में लोगों ने परमात्मा के विषय में कैसी-कैसी परिकल्पना कर रखी है। सभी परमात्मा को इस दुनिया को चलाने वाला एक महान् ड्राइवर मानते हैं। सभी मानते हैं कि ईश्वर की कृपा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। परमात्मा के विषय में दिङ्मूढ़ बने विश्व के लोग उस परमात्मा का सही परिचय नहीं रखते हैं । ईश्वर, खुदा, अल्लाह, बुद्ध आदि परमात्मा को अपनी-अपनी कौम का ही मान

लिया है। कोई निर्गुण परमात्मा मानता है, कोई सर्वव्यापी परमात्मा मानता है। इस परमात्मा का सही-सही निश्चय होने पर ही भ्रान्ति दूर होकर कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

जैनदर्शन में एक परमात्मा की स्वीकारता नहीं है। सर्वज्ञ कथित प्रवचनों से हमें सम्यग्ज्ञान होता है और उस ज्ञान से परमात्मा का सही स्वरूप सामने आता है। परमात्मा अर्थात् परम, उत्कृष्ट आत्मा।

तीर्थंकर एक क्षेत्र में अपने समय में एक ही होते हैं । वह तीर्थंकर अरिहंत परमात्मा के रूप में जब तक विचरण करते हैं तब तक उपदेश, विहार के माध्यम से भव्य जीवों को प्रवचन सुनाकर और दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं । अपनी आयू पूर्ण हो जाने पर शरीर छोड़कर वही अरिहंत परमात्मा सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। सिद्ध अवस्था में उनका आत्मा मात्र ही रहता है ।इस तरह परमात्मा के दो भेद हैं अरिहंत परमात्मा और सिद्ध परमात्मा। अरिहंत परमात्माओं में कुछ अन्तर होता है। वह अन्तर भी शरीर और कर्म की अपेक्षा होता है। आत्मा के अनन्त चतुष्टय की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं होता है। केवलज्ञान की अपेक्षा सभी समान हैं। सभी सर्वज्ञ हैं। ऐसे केवली भगवान् या अरिहंत परमात्मा सात प्रकार के हैं।

१. तीर्थंकर केवली- जो तीर्थंकरपने के साथ-साथ अरिहंत दशा को धारण करते हैं, वह तीर्थंकर केवली हैं। तीर्थंकर एक विशिष्ट पद है। एक ऐसा पद जो सर्वोत्कृष्ट है। इन तीर्थंकर का ही भरत आदि क्षेत्रों में तीर्थ प्रवर्तन चलता है। धर्म तीर्थ को आगे बढ़ाने वाले और जिनवाणी से प्रवचन प्रदान करने वाले यह तीर्थंकर केवली होते हैं। नाम कर्म का एक विशेष भेद तीर्थंकर नाम कर्म है। इस कर्म का जो बंध करते हैं उन्हें ही अरिहंत अवस्था के साथ इसका विशेष फल प्राप्त होता है। अरिहंत दशा में समवशरण की अद्भुत रचना होना इस तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से होता है।

२. सामान्य केवली- जो केवलज्ञानी हैं अर्थात् अरिहन्त अवस्था को प्राप्त हैं किन्तु तीर्थंकर नाम कर्म का उदय नहीं है, उन सर्वज्ञ आत्माओं को सामान्य केवली कहते हैं। ये आत्माएँ केवलज्ञान प्राप्त करके विहार करती हैं, उपदेश देती हैं किन्तु इनके नाम का तीर्थ नहीं चलता है। ये आत्माएँ भी गन्धकुटी पर सिंहासन में विराजमान होती हैं । इनके केवलज्ञान की पूजा करने के लिए देव लोग आते हैं। किन्तु जैसा समवसरण आदि का वैभव तीर्थंकर भगवन्तों का होता है वैसा इनकी गन्धकुटी मात्र का नहीं होता है । सामान्य केवली भगवान् के सिंहासन आदि कुछ ही प्रातिहार्य होते हैं किन्तु तीर्थंकर केवली के अष्ट प्रातिहार्य नियम से होते हैं।

जैसे आदिनाथ भगवान् तो तीर्थंकर केवली हैं किन्तु बाहुबली भगवान् और बाद में राज्य त्याग कर भरत भगवान् भी केवलज्ञानी हुए तो बाहुबली और भरत भगवान् सामान्य केवली हुए। एक तीर्थंकर के समक्ष सामान्य केवली भी बहुत से उपस्थित रहते हैं।

३. मूक केवली- यह केवली भगवान् अरिहन्त अवस्था को प्राप्त करके कभी उपदेश नहीं देते हैं। इन्हें मूक केवली कहा जाता है। उपदेश नहीं देने का कोई कारण शास्त्रों में नहीं मिलता है।

४. उपसर्ग केवली- जो मुनि अवस्था में उपसर्ग सहनकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें उपसर्ग केवली कहते हैं। यह उपसर्ग तीर्थंकर और सामान्य आत्मा दोनों पर होते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकर उपसर्ग केवली हैं। देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज सामान्य उपसर्ग केवली हुए हैं।

५. अन्तःकृत केवली- जो मुनि अवस्था में ऐसा दारुण उपसर्ग सहनकर केवलज्ञानी होते हैं कि उनका शरीर उस उपसर्ग से प्रायः छिन्न-भिन्न हो जाता है और जो अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्ष प्राप्त कर जाते हैं उन आत्माओं को अन्तःकृत केवली कहते हैं। जैसे युधिष्ठर आदि तीन पाण्डव।

६. समुद्घातगत केवली- जो केवलज्ञान प्राप्त करके समुद्घात करके मोक्ष जाते हैं उन्हें समुद्घातगत केवली कहते हैं। समुद्घात एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें आत्म प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं और आठवें समय में शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। आयु कर्म के बराबर अन्य कर्मों की स्थिति को करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं। समुद्घात करने का सभी अरिहन्तों का नियम नहीं है।

७. अनुबद्ध केवली- जब एक केवली भगवान् को मोक्ष हो जाए तो उसी दिन किसी मुनिराज को केवलज्ञान हो जाए, तो वह अनुबद्ध केवली कहलाते हैं क्योंकि केवली भगवान् की यह परम्परा टूटी नहीं है। जैसे गौतम स्वामी के मोक्ष होने पर सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ और सुधर्मा स्वामी के मोक्ष होने पर जम्बू स्वामी को केवलज्ञान हुआ। अत: यह तीनों अनुबद्ध केवली हैं।

ये सभी केवली भगवन्त जब देह त्याग करके सिद्ध भगवान् बन जाते हैं तो वहाँ सबका आत्मा अपने अनन्त गुणों के एक समान शोभता है। इस तरह आत्मा की ही अरिहन्त और सिद्ध दशा में परिणति होती है। कोई भी भव्य आत्मा पुरुषार्थ करके परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है।

हे अनेकान्तवादिन् ! वस्तु तत्त्व अनेकान्त स्वरूप है। नियतता और अनियतता भी अनेकान्त धर्म के दो पहलू हैं। सर्वथा नियतपना या सर्वथा अनियतपना दोनों ही एकान्त अवधारणाएँ हैं। मोक्ष को प्राप्त करने वाले जीव भी दोनों ही तरह के देखने में आते हैं।

अक्सर स्वाध्यायी जन एक मात्र नियतपना ही दृष्टि में रखते हैं। निश्चितवाद का उदाहरण देते हैं। एक-दो उदाहरण का बार-बार कथन करके अपने मत की पुष्टि करते हैं। निश्चितवादता में मरीचि का दृष्टान्त सर्वप्रथम सुनाते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्ञान में देखा था कि वह जीव अन्तिम तीर्थंकर बनेगा सो बना। इसलिए कहते हैं जिस जीव को तीर्थंकर बनना है, वही बनेगा। सब निश्चित है।

हे स्वाध्यायरुचिक आत्मन्! आपका यह कहना सत्य है कि भगवान् ने मरीचि को अन्तिम तीर्थंकर

के रूप में देखा सो हुआ। इस उदाहरण से नियतवाद के रूप में जो देखा सो हुआ। परन्तु इस एक उदाहरण से नियतवाद का सिद्धान्त पोषण करना तो एकान्तवाद का समर्थन करना है। नियतवाद या भाग्यवाद का एकान्त धारण करना तो जैन दर्शन से बाहर हो जाना है। महान् दार्शनिक आचार्य ने इस पुरुषार्थवाद और भाग्यवाद के विषय में भी स्याद्वाद पद्धति अपनाई है। आचार्य समन्तभद्र देव आप्तमीमांसा में कहते हैं–

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धि पूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥ ९१

अर्थात् कोई भी इष्ट या अनिष्ट जब बुद्धिपूर्वक घटित होता है तो अपने पुरुषार्थ से होता है और जब वही इष्ट या अनिष्ट अबुद्धिपूर्वक घटित होता है तो अपने भाग्य से घटित हुआ जानना।

इसलिए आत्मन्! मात्र उदाहरण से एकान्त धर्म की पुष्टि नहीं हो सकती है। तीर्थंकर जैसे महान् पद को धारण करने वाले जीव कथंचित् निश्चित होते हैं। आगामी भव में जिन्हें तीर्थंकर बनना है उनमें से भी कुछ जीवों का निश्चितपना शास्त्रों से ज्ञात होता है। जैसे राजा श्रेणिक का जीव जो नरक से निकलकर उत्सर्पिणी काल का प्रथम तीर्थंकर महापद्म होगा। तीर्थकर जैसे विशिष्ट पदों का निश्चित होना सम्भव है किन्तु सामान्य से अरिहन्त पद प्राप्ति के लिए और मोक्ष जाने के लिए कोई निश्चितता नहीं है।

देखो! अनिश्चितता को दिखाने वाले भी उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। उनमें से एक दृष्टान्त यहाँ देते हैं।

उत्तर पुराण में लिखा है कि एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँचकर हाथ जोड़कर स्तुति करके गौतम गणधर से पूछे कि हे प्रभो! मैंने मार्ग में एक तपस्वी मुनिराज देखे हैं। वे ऐसा ध्यान कर रहे हैं मानो उनका रूप धारण कर साक्षात् ध्यान ही विराजमान हो। हे नाथ! वे कौन हैं? उनके विषय में जानने का मुझे बड़ा कौतुक हो रहा है, सो आप कृपा कर कहिए। इस प्रकार राजा श्रेणिक के पूछे जाने पर श्री गणधर भगवान् इस प्रकार कहने लगे–

इस भरत क्षेत्र में चम्पा नगरी में श्वेतवाहन राजा राज्य करता था। एक दिन भगवान् महावीर से धर्म का स्वरूप समझकर उसका चित्त वैराग्य से भर गया। जिससे अपने पुत्र को राज्य देकर उन्होंने संयम धारण कर लिया। बहुत दिन तक मुनियों के समूह के साथ विहार करके अखण्ड संयम को धारण करते हुए वे मुनिराज ही यहाँ आकर विराजमान हुए हैं। यह दश धर्मों से सदा प्रेम रखते हैं, इसलिए लोग इन्हें 'धर्मरुचि' कहकर पुकारते हैं।

आज यह मुनि एक महीने के उपवास के बाद नगर में भिक्षा के लिए गए। वहाँ तीन मनुष्य मिलकर

इनके पास आए। उनमें एक मनुष्य मनुष्यों के लक्षण शास्त्र का जानकार था। उसने इन मुनिराज को देखकर कहा कि इनके लक्षण तो साम्राज्य पदवी के कारण हैं परन्तु ये भिक्षा के लिए भटकते फिरते हैं, इसलिए शास्त्र में जो कहा है, वह झूठा मालूम होता है। इसके उत्तर में दूसरे मनुष्य ने कहा कि शास्त्र में जो कहा है, वह झूठ नहीं है। ये साम्राज्य का त्याग कर ऋषि हो गए हैं। किसी कारण से विरक्त होकर इन्होंने अपना राज्य भार अपने पुत्र को छोटी उम्र में ही दे दिया। तीसरा मनुष्य बोला कि 'इनका तप पाप का कारण है, इससे क्या लाभ? यह बड़ा दुरात्मा है। इसलिए दया छोड़कर लोक व्यवहार से अनभिज्ञ असमर्थ बालक को राज्यभार सौंपकर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए यहाँ तप करने के लिए आया है। मन्त्री आदि सब लोगों ने उस बालक को साँकल से बांध रक्खा है और राज्य का विभागकर पापी लोग इच्छानुसार स्वयं उसका उपभोग करने लगे हैं।' तीसरे मनुष्य के उक्त वचन सुनकर इन मुनि का हृदय स्नेह और मान से प्रेरित हो उठा जिससे वे भोजन किए बिना ही नगर से लौटकर वन के मध्य में वृक्ष के नीचे आ बैठे हैं। बाह्य कारणों के मिलने से उनके अन्त:करण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय के स्पर्धकों का उदय हो रहा है। संक्लेश रूप परिणामों से उनके तीन अशुभ लेश्याओं की वृद्धि हो रही है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गए हैं उनमें हिंसा आदि सब प्रकार के निग्रहों का चिंतवन करते हुए वे संरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यान में प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयु का बन्ध करने के योग्य हो जाएँगे।

इसलिए हे श्रेणिक! तू शीघ्र जाकर उन्हें समझा दे और कह दे कि हे साधो! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो, क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करो, मोह के जाल को दूर करो, मोक्ष का कारणभूत जो संयम तुमने छोड़ रखा है उसे फिर से ग्रहण करो, यह स्त्री, पुत्र तथा भाई आदि का सम्बन्ध अमनोज्ञ है तथा संसार को बढ़ाने वाला है। इत्यादि युक्तिपूर्ण वचनों से तू उनका स्थितीकरण कर। तेरे उपदेश से वह पुनः स्वरूप में स्थित होकर शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी सघन अटवी को भस्म कर देंगे और नव केवल लब्धियों से देदीप्यमान शुद्ध स्वभाव के धारक हो जाएंगे। गणधर महाराज के वचन सुनकर राजा श्रेणिक शीघ्र ही उन मुनि के पास गये और उनके बताए हुए मार्ग से उन्हें प्रसन्न कर आये। मुनिराज ने भी कषाय के भय से उत्पन्न होने वाली शान्ति से उत्पन्न होने वाली सामग्री प्राप्त कर द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया।

देखो! आत्मन्! इस कथा से कितने सारे निष्कर्ष निकलते हैं।

गणधर परमेष्ठी ने मुनिराज की दोनों प्रकार की परिणति की सम्भावना दिखाई। यदि कुछ निश्चित ही होता तो ऐसे सम्भावित वाक्य गणधर देव के संभव नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि अन्तर्मुहूर्त तक उन मुनि की ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकायु का बन्ध कर लेंगे।

भव्यात्मन् ! विचार करो, कहाँ? नरकायु का बंध और कहाँ केवलज्ञान? कहाँ अपार संसार और कहाँ अनन्त मोक्ष? यह भी विचार करो कि नियतवाद की स्थिति में स्थितीकरण भी कैसे होगा? कौन किस को सम्बोधित करेगा? कौन किसके परिणामों की संभाल करेगा? सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण का कोई उपयोग नहीं रहेगा।

हे मोक्षपथगामिन् ! और विचार करो कि जब किसी साधक की सल्लेखना होती है तो उसकी सेवा के लिए अड़तालीस मुनिराज लग जाते हैं। समाधिपूर्वक मरण करने से ही आत्मा का अनन्त संसार सूख जाता है । आचार्य परमेष्ठी का बहुत बड़ा उत्तरादायित्व पूर्ण होता है । सल्लेखना के समय उस साधक के परिणामों को संभालो। उसके भीतर से शल्य, निदान और छल के भाव जैसे हो सके तैसे दूर करो। कितना बड़ा उपक्रम है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने तो इस समाधिव्रत को श्रावक के बारह व्रतों में गिना है। उन्होंने स्वयं समाधिपूर्वक मरण किया था । 'जोजो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे' की रट लगाकर कुछ लोगों ने जीवन पर्यन्त सर्वज्ञता का बखान किया और अन्त में इतना भी साहस नहीं किया कि स्वयं देह की परिणति को देखते रहते और विचार करते कि देह का स्वरूप ऐसा है, 'जो-जो देखी वीतराग ने'।

अरे मुमुक्ष ! वीतराग की आँखों में अपनी परिणति देखने वाला देह राग को भूल जाता है । वीतराग की भक्ति का इतना फल होता है कि अन्त समय में उसे वीतराग भाव ही याद आता है । रागियों को अपने से दूर रखता है। शरीर की चिकित्सा में नहीं राग की चिकित्सा में लग जाता है । एक श्रावक भी बारह व्रतों का अन्तिम फल सल्लेखना मरण से पाकर यशलोक को प्राप्त कर लेता है। अरे मुमुक्ष! तूने कौन से यशलोक का पाताल पा लिया!

संसार, शरीर और भोग के स्वरूप को यदि सही ढंग से समझ लो तो समयसार का बखान करने की जरूरत ही नहीं है। जिनवाणी से इन संसार आदि तीनों का स्वरूप समझ लेना ही सम्यग्ज्ञान है।

एक बार आचार्य महाराज के पास ऐसा ही समयसार की रट लगाने वाला एक विद्वान आया। कहने लगा महाराज आप से कुछ पूछना चाहता हूँ। वैसे तो मैंने समयसार पूरा पढ़ा है। एक सौ आठ बार मैं समयसार पढ़ चुका हूँ। आचार्य महाराज ने उसे बीच में ही रोकते हुए कहा भैया! मैं कुछ ज्यादा नहीं जानता हूँ। मैंने तो एक ही बार समयसार पढ़ा था। एक बार समयसार पढ़ने से मेरा यह स्वरूप हो गया। जब १०८ बार पढ़ लूँगा तो न जाने क्या होगा?

उस मुमुक्षु को समझते देर न लगी कि वास्तव में समयसार का फल तो यही है और वह बिना कुछ पूछे मुँह नीचे किए हुए चला गया।

जिस प्रवचन भक्ति से ऐसी परिणति हो जाए, ऐसा वीतराग भाव प्रकट हो जाए उस प्रवचन को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रवचन भक्ति का कार्य और कहते हैं–

भेदण्णाण-मुहेण हु सुद्धप्परायविभेदमावण्णो।
दाएज जम्मसारं तं पवयणं सया पणमामि॥ ७॥

शुद्धातम ही निज स्वभाव है, राग-विभाव बना दुखकार
भेदज्ञान के बल से भासे पृथक-पृथक सब का आकार।
मनुज जन्म का सार मुक्ति है, मुक्ति सुखों को पाने हेतु
नमन करूँ मैं जिनवाणी को मुक्ति का जो है सेतु॥७॥

अन्वयार्थ : [भेदण्णाणमुहेण] भेदज्ञान की मुख्यता से **[हु]** निश्चित ही जो **[सुद्धप्परायविभेदमावण्णो]** शुद्ध आत्मा और राग के विशेष भेद को प्राप्त होता है **[जम्मसारं]** और जो जन्म के सार को **[दाएज]** देवे **[तं]** उस **[पवयणं]** प्रवचन को **[सया]** सदा **[पणमामि]** प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : हे आत्मन् ! मनुष्य जन्म को प्राप्त करने का सार क्या है? यह जान लो । सार उत्कृष्ट फल कहलाता है। मनुष्य जन्म पाने का उत्कृष्ट फल तो भेद विज्ञान को उपलब्ध हो जाना है। यह भेद विज्ञान श्रद्धान, ज्ञान और आचरण के फल से तीन प्रकार का होता है। जिनवाणी की कृपा से पहले संसार, शरीर, भोग को भली प्रकार समझकर जब आत्मा और उस राग के सम्बन्ध को जान लेते हैं तो यह ज्ञान मात्र है। जब यही ज्ञान बार-बार अभ्यास में आता है तो आत्मा और राग का भेद ज्ञान करने की रुचि उत्पन्न होती है । रुचि से बढ़ते-बढ़ते श्रद्धान बनता है । यह श्रद्धान जब आत्मा में स्थित हो जाता है तो आस्था बन जाती है। यह आस्था जब श्वास-श्वास में बैठ जाती है तो विश्वास बन जाता है।

हे प्रवचनविज्ञ! केवल भेदज्ञान के प्रवचन सुन लेने से या प्रवचन कर लेने से या प्रवचन पढ़ लेने से यह अनादिकालीन मोह सहज विगलित नहीं होता है। इस ज्ञान को श्रद्धान, आस्था और विश्वास में परिणत करो। यह सब अभ्यास से होता है। आचार्य पूज्यपाद देव समाधितन्त्र में कहते हैं–

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥ २८॥

मैं वह शुद्ध आत्मा हूँ, इस संस्कार को प्राप्त करके इसी में पुन: पुन: भावना करो।

दृढ़ अभ्यास से ही आत्मा में आत्मा की स्थिरता बनती है। आत्मा के उपयोग का आत्मा के उपयोग में ठहर जाना ही निश्चय चारित्र है। यह चारित्र गत भेदविज्ञान अनुभूति परक है। आत्मा और रागादि कर्म का

भिन्न अनुभव इसी निश्चय चारित्र से होता है । जिसने इस अनुभूति को पा लिया उसने मनुष्य जन्म का सार पा लिया। यह अनुभूति वीतराग दशा में होती है। वीतराग दशा बाह्य परिग्रह के त्याग किए बिना नहीं होता और महाव्रतों का ग्रहण संसारी सम्बन्धों का त्याग किए बिना नहीं होता। सम्बन्धों का त्याग गृहत्याग के बिना नहीं होता। गृहत्याग ममत्व का त्याग बिना नहीं होता।

हे आत्मन् ! इस अनुभूति का एक क्षण भी प्राप्त होना मनुष्य जन्म का सार है। जब इस अनुभूति में श्रमण अन्तर्मुहूर्त ठहर जाता है तो वह केवलज्ञानी बन जाता है।

जो प्रवचन ऐसे संसार के सारभूत पदार्थ को प्राप्त करावे उसे मैं भक्ति भाव से प्रणाम करता हूँ।

अब इस प्रवचनभक्ति का उपसंहार करते हैं–

जे सूरिणो पवयणस्स विसोहिजुत्ता
भत्तिं जिणिंदकहिदत्थसुदस्स पप्पा।
सिद्धंतसत्थमिह भव्वजणं दिसंति
तं लोगपुजसुदयं हिदये धरेमि॥ ८॥

जिनका हृदय पवित्र हुआ है जिन प्रवचन की भक्ति से
जिनवर-कथित-वचन को देते शिष्यों को निज शक्ति से।
श्री सिद्धान्तशास्त्र गुरु मुख से भविजन धारण करते हैं
पूज्य बने हैं, पूज्य बनाते प्रवचन मुनि मन हरते हैं॥८॥

अन्वयार्थ : [जे सूरिणो] जो आचार्य **[पवयणस्स]** प्रवचन की **[विसोहिजुत्ता]** विशुद्धि से सहित हैं **[जिणिंद कहिदत्थसुदस्स]** जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए अर्थ श्रुत की **[भत्तिं]** भक्ति को **[पप्पा]** प्राप्त करके **[इह]** इस लोक में **[सिद्धंतसत्थं]** सिद्धान्त शास्त्र का ज्ञान **[भव्वजणं]** भव्यजन को **[दिसंति]** देते हैं **[तं]** उस **[लोग पुज्ज सुदयं]** लोक पूज्य श्रुत को **[हिदये]** हृदय में **[धरेमि]** धारण करता हूँ।

भावार्थ : हे कल्याणेच्छो ! प्रवचन की पूज्यता आचार्य परमेष्ठी से है। आचार्य परमेष्ठी इस प्रवचन की भक्ति से भरे हुए विशुद्धियुक्त होते हैं। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ अर्थश्रुत गणधर परमेष्ठी ही अवधारित करते हैं । आचार्य परमेष्ठी भगवान् के उस अर्थश्रुत की भक्ति गणधर परमेष्ठी के ग्रन्थ(शब्द) श्रुत को पढ़कर करते हैं । अर्थश्रुत के महत्व का आंकलन आचार्य परमेष्ठी अपने भावों से करते हैं। अनेक भाषा रूप, सभी जीवों को समझ में आने वाला, एक साथ वस्तु तत्त्व को कहने में समर्थ दिव्य ध्वनि का

गंभीर प्रवाह ही अर्थश्रुत कहलाता है। गणधर परमेष्ठी के बिना उस अर्थश्रुत को सही-सही पूर्ण समझने में कोई भी समर्थ नहीं होता है।

अर्थश्रुत की गम्भीरता सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ने से ही ज्ञात होती है। वर्तमान में उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थों को जो भव्य जीवों को सिखाते हैं, सिद्धान्त के पठन-पाठन में शिष्य की रुचि बढ़ाते हैं और उस शिष्य को सिद्धान्त के पढ़ने से प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का लोभ बढ़ाते हैं उन आचार्यों को और उस प्रवचन को मैं हृदय में धारण करता हूँ। इसी प्रवचन की आराधना से आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी लोक पूज्य बन जाते हैं । ऐसे केवली प्रणीत प्रवचन(शास्त्र) की भक्ति को मैं हृदय से करता हूँ।

हे जिनवाणी! तेरी भक्ति से मुझे बोधि लाभ हो, मेरा समाधिमरण हो, मेरा सुगति में गमन हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो, यही भावना है।

14. आवस्स्यापरिहीण भावणा

आवासएसु हाणी हाणी धम्मस्स अप्पणो कहिदा।
तेण कदं पडिपुण्णं आवस्सं धम्मवसिगेहिं॥१॥

श्रमण वही जो षट् आवश्यक पाल रहा है निज रुचि से
धर्म क्रिया के वशीभूत है मन-वच-तन त्रय की शुचि से।
आवश्यक में हानी करना धर्म हानि जो जान रहा
उसके द्वारा ही आवश्यक पूर्ण हुए श्रुतगान रहा॥१॥

अन्वयार्थ : [आवासएसु] आवश्यकों में **[हाणी]** हानि **[अप्पणो धम्मस्स]** अपने धर्म की **[हाणी]** हानि **[कहिदा]** कही है। **[तेण]** इसलिए **[धम्मवसिगेहिं]** धर्म के वशीभूत जीवों के द्वारा **[आवस्सं]** आवश्यक को **[पडिपुण्णं]** परिपूर्ण **[कदं]** किया गया है।

भावार्थ : हे धर्मपथानुगामिन्! भगवान् सर्वज्ञ ने श्रमण और श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य कार्य दिये हैं। इन कार्यों को करने से ही श्रमण या श्रावक की धर्म में प्रवृत्ति व्यवस्थित बनी रहती है।

श्रावकबन्धो! गृहस्थ होकर भी धर्म किया जाता है। परिवार के बीच भी आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति करना सीखो। जैसे प्रतिदिन स्नान, भोजन आदि नित्यकर्म किए जाते हैं उसी तरह प्रतिदिन के धर्मकर्म भगवान् ने कहे हैं।

धर्मप्रियात्मन्! तुम्हारी जिम्मेदारी मुनियों से भी ज्यादा है। आचार्य और उपाध्याय से भी ज्यादा बड़ा उत्तरादायित्व तुम्हारे ऊपर है। तुम अपने को धर्म विहीन समझकर बहुत बड़ी भूल कर रहे हो। मुनियों को देखकर कभी ऐसा मत सोचना कि हम तो कुछ भी नहीं कर सकते हैं। हमारा धर्म तो कुछ भी नहीं है। जिनवाणी ने श्रमणों को उनका धर्म करना सिखाया है तो श्रावकों को भी अपना धर्म पालन करने की आज्ञा दी है। तुम श्रावक भी उसी जिनवाणी के पूत हो जिसके श्रमण हैं। तुम्हारे द्वारा ही धर्म की स्थिति है।

इस कलिकाल में श्रावक का भी उतना ही महत्त्व है कि जितना कि श्रमणों का है। धर्म रथ के दोनों पहिए हैं। एक के बिना दूसरा पहिया भी चल नहीं पाता है। धर्म रत्नत्रय है। रत्नत्रय मुनियों के पास होता है। उन मुनियों का धर्म तुम श्रावकों के कारण से पल रहा है। श्रमण को पालने वाला श्रावक ही है। श्रमणों का जीवन आहार के बिना नहीं चल सकता है। वह आहार कौन देगा? यदि आहार न मिले तो श्रमण मर जाए। श्रमण गया तो रत्नत्रय धर्म गया। इसलिए रत्नत्रय का पालन कौन करे? बिना श्रावक के वह नहीं हो सकता

है। कलिकाल के श्रमणों का मन धर्म में बिना आहार के नहीं लग पाता है। इस पंचम काल में श्रमण जंगल में नहीं रहते हैं। श्रावक से निरपेक्ष होकर श्रमण की चर्या पल ही नहीं सकती है। जिनालय में या किसी धर्मशाला आदि में रहकर भी जो रत्नत्रय का पालन किया जाता है वह जिनालय और धर्मशाला भी कौन बनाता है? श्रावक ही बनाता है। मुनिराज तो क्या भगवान् की भी स्थिति श्रावक से ही है। श्रावक न हो तो कौन मन्दिर बनाएगा? मन्दिर नहीं होंगे तो भगवान् कहाँ होंगे?

अहो! धन्य हो जैन श्रावको! तुम्हारे धन दान के बिना न श्रावकों को धर्म करने के लिए जिनमन्दिर मिल सकते हैं और न मुनियों का दर्शन। मुनियों का आहार-विहार सब श्रावक के द्वारा ही होता है। कितना बड़ा मौका तुम्हें मिला है। इसीलिए तुम्हारी प्रशंसा केवल हम जैसे मुनि ही नहीं बड़े-बड़े आचार्यों ने की है। देखो! आचार्य पद्मनन्दि महाराज कहते हैं

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्॥

६/६ प.पंच.

अर्थात् इस समय यहाँ कलिकाल में मुनियों का निवास जिनालय में हो रहा है और उन्हीं के निमित्त से धर्म, दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियों की स्थिति, धर्म और दान इन तीनों के मूल कारण गृहस्थ श्रावक हैं।

गृहस्थ श्रावक! तू भी अपने अन्दर जैन श्रावक होने का गौरव कर। अभिमान मत कर। दीन-हीन भी मत बन। गौरव से उत्साह उत्पन्न होता है, स्वाभिमान आता है। विचार कर कैसे गृहस्थी की आपाधापी के बीच में भी धर्म हो जाए। तुझे विचारने की जरूरत भी नहीं है क्योंकि जब स्वयं भगवान् ने गृहस्थ श्रावक को धर्म का पहलू बना दिया है तो उन्होंने ही क्या करने योग्य है, यह भी बताया होगा। तुम्हें अपनी तरफ से कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं है। किसी गृहस्थ की, असंयमी की वाणी को नहीं सुनना मात्र जिनवाणी को सुनना।

अरे जिनमाता के लाल! तेरे पालने के लिए भी छह आवश्यक कार्य बताए हैं और तू जिन्हें पालेगा उन श्रमणों के लिए भी छह आवश्यक कार्य कहे हैं। तू अपने करने योग्य कर्तव्य को सुन।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने॥

प.पंच. ६/७.

अर्थात् सबसे पहला कर्तव्य देवपूजा है। दूसरा गुरु की उपासना है। तीसरा स्वाध्याय है। चौथा संयम है। पाँचवाँ तप है और छठवाँ दान है। गृहस्थों के लिए यह छह कर्म प्रतिदिन करने योग्य हैं।

अहो धन्य श्रावक! सुबह जल्दी उठ। समस्त धार्मिक कार्य प्रभात बेला में ही किए जाते हैं। सुबह ही धर्म कार्य में मन लगता है। बाद में बहुत सा दिन व्यतीत हो जाने पर मन्दिर में दर्शन करने में भी मन नहीं लगता है। इसलिए आलस्य छोड़कर सर्वप्रथम स्नान आदि से निवृत्त होकर मन्दिर में जा।

स्नान करने में, शरीर शुद्धि करने में अनेक जलकायिक जीवों की तो हिंसा साक्षात् तुम कर ही रहे हो। यदि वह जल छना नहीं है तो असंख्य त्रस जीव की हिंसा का भी पाप लग रहा है। जब साबुन, सोडा लगाकर अपने वस्त्र और शरीर को धोते हो तो सारा जल तीक्ष्ण तेजाब के समान नाली में बहकर जाता है। वहाँ नाली में, शौचालय में रहने वाले बड़े-बड़े त्रस जीव उस पानी के द्वारा मर जाते हैं। तड़फ-तड़फ कर अपने प्राण छोड़ जाते हैं। विचार कर! तेरे स्नान मात्र से कितने जीवों की हिंसा हो रही है। यह हुई व्यवहार हिंसा। इस हिंसा का पाप आत्मा को लगता है। ऐसे पाप से मलिन आत्मा जब अपने नहाने के बाद शरीर को शृंगारित करता है, सजाता है तो उस शृंगार से शरीर का राग बढ़ता है। आत्मा में राग की अधिकता से पाप का बन्ध और तीव्र होता है। यह हुई निश्चय हिंसा। इस तरह अरे गृहस्थ ! तू सबेरा होते ही निश्चय पापी बना रहा, पातकी बना रहा।

माँ जिनवाणी कितनी दयालु है। तेरे इन पापों से तुझे बचाने का उपाय बता रही है। जैन धर्म भावप्रधान है। तू अपना भाव बदल दे, हिंसा के पाप से बच जाएगा। नहाना, धोना, कपड़ा साफ करना आदि के पाप से बचना है तो तू अपना उद्देश्य बदल दे। विचार कर कि मैं मन्दिर जाने के लिए स्नान कर रहा हूँ। मैं भगवान् की पूजा के लिए कपड़े धो रहा हूँ। कपड़े बदल कर मैं आज जिनेन्द्र देव की पूजन करूँगा। तेरे सारे पापों से तुझे मुक्ति मिल जाएगी। दोनों काम बन जाएँगे। पाप से भी बच गया और गृहस्थ का धर्म भी पल गया। इसीलिए कहा है कि श्रावक विवेकवान् होता है।

यह तो मुक्ति मिली तुझे नहाने धोने के पाप से। अब तू घर पर भोजन बनाएगा। भोजन सामग्री के लिए अनेक पाप कर्म से धन आदि सामग्री का अर्जन करेगा। बर्तन धोना, घर साफ करना, व्यापार करना इनसे जो पाप का अर्जन करेगा तो कहाँ साफ करने जाएगा?

देख ! दूसरा उपाय बताया है गुरु की उपासना। गृहस्थी के कार्यों से उपार्जित पाप अतिथि को दान देने से धुलते हैं। मुनि को या यथानुसार प्राप्त पात्र को दान देकर तू गृहस्थी के पापभार से मुक्त हो जा। गुरु के वचनों का श्रवण करना ही स्वाध्याय है। यदि गुरु नहीं हैं तो जिनवाणी को पढ़कर स्वाध्याय कर। थोड़ा सा इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम का पालन कर ले। कभी-कभी अष्टमी या चतुर्दशी को थोड़ा सा आहार आदि के त्याग से अनशन आदि तप का अभ्यास कर। यथाशक्ति थोड़ा ही सही, लेकिन दान

प्रतिदिन कर। यह छह आवश्यक कार्य तुझे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ बना देंगे। मुक्ति अपने आप तुझे लेने आएगी। बस! पहले इतना पुरुषार्थ तो कर।

इस पुरुषार्थ में कमी रहेगी तो आवश्यक कार्य में कमी रहेगी। आवश्यकों में कमी होना धर्म की हानि है। इस धर्म की हानि से वही बचेगा जो धर्म को प्राथमिकता देता हो। धर्म से प्रेम कर। धर्म के वशीभूत रहने वाला जीव ही तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है।

अब श्रमण के छह आवश्यक और छह काल कहते हैं–

आवस्सं छप्पयारं साहेदव्वं हु परमसमणेहिं।
छक्कालेहि अवस्सं रयणत्तय-साहणट्ठं खलु ॥ २॥

आवश्यक हैं छह प्रकार के परम श्रमण इनको साधे
रत्नत्रय के पालनहारे रत्नत्रय को आराधे।
शिक्षा, दीक्षा आदि काल जो साथ-साथ में साध रहा
श्रमण वही निज चरित धर्म को पाल रहा निर्बाध रहा॥२॥

अन्वयार्थ : [परमसमणेहिं] परम श्रमणों के द्वारा **[छप्पयारं]** छह प्रकार का **[आवस्सं]** आवश्यक **[छक्कालेहि]** छह काल से **[खलु]** निश्चय पूर्वक **[रयणत्तय साहणट्ठं]** रत्नत्रय को साधने के लिए **[अवस्सं]** अवश्य **[साहेदव्वं]** साधना चाहिए।

भावार्थ : हे श्रमण! श्रम करना तुम्हारा धन है। श्रमण को कोई शारीरिक श्रम की आवश्यकता नहीं है किन्तु मानसिक श्रम की विशेष आवश्यकता है। आहार-विहार का शारीरिक श्रम आवश्यक है। उससे भी ज्यादा आवश्यक और नियामक मानसिक श्रम है। मानसिक श्रम कैसे करना? तो आचार्यों ने छह आवश्यक कार्यों में मन लगाने को कहा है। जिस समय पर जो आवश्यक करना है उसे उसी समय पर करना आवश्यकापरिहीण भावना है। साधु को तो मन स्थिर रखना है तन भले ही गतिमान् हो। गृहस्थ का मन स्थिर रहता नहीं है शरीर भले ही घरदुकान में विद्यमान हो। इन आवश्यकों का पालन वही श्रमण कर सकता है जिसका मन अन्य किसी के वश में न हो। जो किसी के वश में न हो उसे अवश कहते हैं। इन अवशों की क्रिया आवश्यक क्रिया कहलाती है। किसी कारणवश अन्य कार्यों में तो व्यस्त हो गए और आवश्यक को टाल दिया तो वह श्रमण स्ववशी नहीं है। वह श्रमण अन्य के वश में है, यह आचार्यों ने कहा है।

समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक श्रमणों को

करणीय हैं। प्रतिदिन पुनः पुनः इन आवश्यकों में मन लगाते हुए विशुद्धि परिणाम को बढ़ाना। यह आवश्यक कर्म निर्जरा के साधन हैं । रोज-रोज करने पर उत्साह वृद्धिंगत होना ही मन का एकाग्रचित्त होना है। इन आवश्यकों से होने वाला श्रम ही श्रमण का श्रामण्य है । जो श्रमण इन आवश्यकों को नहीं करता वह द्रव्यलिङ्गी भी नहीं है । वह श्रमण की परिधि से बाहर है। द्रव्यलिङ्गी श्रमण होना भी श्रम साध्य है। जब आवश्यक तो करे और भावों में छठवाँ-सप्तम गुणस्थान न हो तो वह द्रव्यलिङ्गी कहलावे। किन्तु जो आवश्यक करे ही नहीं तो वह द्रव्यलिङ्गी श्रमण भी नहीं है । वह तो निरा नग्न पशु है। नग्नता के बल पर अपना जीवन चला रहा है। श्रमण को पहचानने के लिए भावलिङ्ग की नहीं द्रव्यलिङ्ग की आवश्यकता है। भावलिङ्ग तो किसी के द्वारा नहीं देखा जा सकता है। वह तो प्रत्यक्ष ज्ञानियों का विषय है। इसलिए भावलिङ्गी कौन है और कौन नहीं है? यह हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। यह तो गुणस्थान के बल पर जाना जाता है। गुणस्थान किसी को भी न दिखता है और न अनुमान का विषय बनता है। दिखती तो मात्र बाह्य क्रियाएँ हैं । बाह्य क्रियाओं के बिना भीतर का गुणस्थान नहीं बनता है। इसलिए आत्मन् ! आज भावलिङ्गी श्रमण नहीं होते हैं, यह तुम कैसे कह सकते हो? क्या तुम ही सर्वज्ञ हो या प्रत्यक्षज्ञानी हो? ध्यान रखो! सर्वथा अभाव किसी भी क्षेत्र, काल में नहीं है किन्तु सद्भाव विरल अवश्य है।

श्रावक हो या श्रमण, साधु हो या आचार्य कोई भी श्रमण के भावलिङ्ग को देखकर नमोऽस्तु आदि समाचार नहीं करते हैं किन्तु द्रव्यलिङ्ग को देखकर ही करते हैं । जहाँ इन छह आवश्यकों का पालन होता है और जो मोक्ष की अभिलाषा से आरम्भ और परिग्रह से विरत है वह श्रमण वन्दनीय है। जब श्रमण भी श्रमण की वन्दना भावलिङ्ग देखकर नहीं कर सकता है तो फिर श्रावक की क्या बात? इसलिए आज भावलिङ्गी श्रमण नहीं होते, इसलिए हम उनकी वन्दना नहीं करते हैं यह कहना जिनवाणी के विरुद्ध है। इस प्रकार की भावना मिथ्यात्व वर्धिनी है । गुरुजनों की यह अवमानना कषायदायिनी है।

भोले आत्मन् ! तुम जानते ही नहीं हो कि द्रव्यलिङ्गी किन्हें कहते हैं और भावलिङ्गी किन्हें कहते हैं? फिर भी तुम सुनासुनी ऐसी बातों को करने लग जाते हो, यह गृहीत मिथ्यात्व है।

सुनो! भावलिङ्गी का मतलब है जिनका छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान हो, ऐसे मुनिराज । अब तुम बताओ कि कौन से शास्त्र में गुणस्थान देखने के लिए कहा है? कौन से शास्त्र में गुणस्थान को पहचानने की विधि बताई है? आगम का ज्ञान न होते हुए भी इस प्रकार की धारणा बना लेना या इसी प्रकार की रट लगाते रहना तो अपनी हठ ग्राहिता है । यह तो ऐसी ही बात हुई कि- एक बार एक व्यक्ति ने हठ पकड़ ली कि दो और दो पाँच होते हैं । उस व्यक्ति को कई लोगों ने समझाया परन्तु वह नहीं माना। अन्त में बात राजा के पास पहुँच गई । राजा ने कहा कि कल राजसभा में निर्णय होगा। यदि इसकी बात सिद्ध न हुई तो इसे प्राणदण्ड दिया जाएगा। उस व्यक्ति को उसकी पत्नी ने समझाया कि तुम मान लो कि हम गलत बोल रहे हैं,

नहीं तो मैं कल विधवा हो जाऊँगी। तुमसे अपने प्राणों की भीख माँगती हूँ। वह व्यक्ति अपनी स्त्री को समझाते हुए बोला तू व्यर्थ में रो रही है? राजा के पास दो और दो चार सिद्ध करने की कोई मशीन तो है नहीं। रही बात प्राणदण्ड की सो वह तो तब देगा जब मैं मानूँ कि दो और दो पाँच नहीं होते हैं।

बस ऐसी ही हठ पकड़कर कुछ लोग बैठे हैं कि आज कल भावलिङ्गी मुनि नहीं होते हैं।

कोई ऐसे मुनिराज भी हो सकते हैं जिनका गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के लिए छठवें से पाँचवाँ हो गया, उन्हें पता भी नहीं है, तो अन्तर्मुहूर्त के लिए वह द्रव्यलिङ्गी हुए। एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पुन: सातवाँ गुणस्थान हो गया। ऐसी स्थिति में कैसे कोई जान सकता है कि यह द्रव्यलिङ्गी हैं या भावलिङ्गी। गुणस्थान का भान स्वयं श्रमण को भी नहीं होता है। मान लो आहार करते-करते उनका गुणस्थान थोड़े समय के लिए पाँचवाँ हो गया तो तुम क्या उन्हें आहार देना बन्द कर दोगे? इस गुणस्थान को अनुमान लगाने का कोई साधन नहीं है। आहार उपरान्त जैसे ही बैठे, कायोत्सर्ग किया उनका गुणस्थान पुनः सातवाँ हो गया। ऐसी स्थिति में श्रावक को आहार दान देने में दोष लगा हो या पाप लगा हो, या उस समय गुणस्थान गिरने से द्रव्यलिङ्गी हो जाने पर नमोऽस्तु कर लेने से कोई अपराध हो गया हो, ऐसा किसी भी आगम में नहीं कहा है।

एक श्रमण भी जब दूसरे श्रमण से समाचार करता है तो उसकी समिति में प्रवृत्ति, परिग्रह आदि से रहितता और जिन वन्दना आदि क्रियाओं में रुचि रखकर ही करता है। इसलिए इन छह आवश्यका क्रियाओं में समय पर संलग्न होना तीर्थंकर प्रकृति जैसे महान् पुण्य बंध का कारण है।

गुणस्थान का बदलना कोई आवश्यक नहीं है। जो व्रत संकल्पपूर्वक ग्रहण किये हैं, उनको जब तक मानसिक संकल्प से तोड़ा नहीं जाता तब तक गुणस्थान नहीं गिरता है। इसलिए ही ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में दीक्षा लेकर पूर्व कोटि काल तक निरन्तर संयम भाव में रहकर मुनिराज तपस्या करते हैं। वह भी षट् आवश्यक क्रियाओं से अपना भावलिङ्ग बनाए रखते हैं। इसलिए आत्मन्! गुणस्थान गिरना कोई बालक का खिलौना जैसा नहीं है कि गिरा और टूट गया। जब एक पूर्व कोटि काल तक गुणस्थान छठवाँ-सातवाँ बना रह सकता है तो कुछ वर्षों तक अक्षुण्ण बना रहे, इसमें आश्चर्य क्या? जो मुमुक्ष श्रमण अपने व्रतों में सावधान हैं, विकथाओं से दूर रहकर सम्यग्ज्ञान की आराधना से मन को एकाग्र और विशुद्ध रखते हैं उनके बारे में द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग जैसे शब्दों का सोचना भी पाप है। श्रावक का इस विषय में किसी भी श्रमण को देखकर शंकातुर होना जघन्य अपराध है।

अरे श्रावक! तू अपना दर्जा देख। तुझे हक ही क्या है कि ऐसे मुनीश्वर को देखकर तू इस प्रकार सोचे। तेरी आँखों में इतनी हिम्मत कहाँ जो उनसे आँख मिला सके। आज भी ऐसे मुनीश्वर हैं जिनको देखकर उनके चरणों में दृष्टि लगाए रखने का मन होता है।

श्रमण छह काल के द्वारा अपने जीवन का विभाजन करते हैं। दीक्षा काल, शिक्षा काल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन छह कालों से अपने जीवन को यथायोग्य व्यवस्थित बनाने वाले श्रमण रत्नत्रय की साधना के लिए आवश्यक क्रियाओं को करते हैं। जीवन पर्यन्त तक इस तरह काल का विभाजन करके रत्नत्रय की आराधना करने वाले श्रमणों को बारंबार नमस्कार करता हूँ जिससे हमारी आवश्यक क्रियाओं में कभी भी द्रव्य से और भाव से हानि न हो।

आचार्य श्री वीरसेन जी महाराज ने श्री धवला में कहा है कि इस एक भावना में अन्य पन्द्रह भावना भी गर्भित हैं। वहाँ इस प्रकार लिखा है–

आवश्यकों में अपरिहीनता से ही तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग के भेद से छह आवश्यक होते हैं।

शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मिट्टी में राग द्वेष के अभाव को **समता** कहते हैं।

अतीत, अनागत और वर्तमान काल विषयक पाँच परमेष्ठियों के भेद को न करके अरहन्तों को नमस्कार, जिनों को नमस्कार इत्यादि द्रव्यार्थिक निबन्धन नमस्कार का नाम **स्तव** है।

ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान आदि तीर्थंकर तथा भरतादिक केवली आचार्य एवं चैत्यालयादिकों के भेद को करके अथवा गुणगत भेद के आश्रित, शब्दकलाप से व्याप्त गुणानुराग स्मरण रूप नमस्कार करने को **वन्दना** कहते हैं।

चौरासी लाख गुणों के समुह से संयुक्त, पांच महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम **प्रतिक्रमण** है।

महाव्रतों के विनाश व मलोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे, वैसा करता हूँ, ऐसी मन में आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि के प्रतिग्रह(प्रतिज्ञा) का **प्रत्याख्यान** है।

शरीर और आहार विषयक अशुभ मन एवं वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर ध्येय वस्तु की ओर एकाग्रता से चित्त का निरोध करने को **व्युत्सर्ग** कहते हैं।

इन छह आवश्यकों की अपरिहीनता अर्थात् अखण्डता का नाम आवश्यकापरिहीनता है। उस एक ही आवश्यक अपरिहीनता से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है। इसमें शेष कारणों का अभाव भी नहीं है, क्योंकि दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पत्ति, व्रतशीलनिरतिचारता, क्षण लव प्रतिबोध, लब्धिसंवेग-सम्पत्ति, यथाशक्ति तप, साधुसमाधि संधारण, वैयावृत्य योग, प्रासुक परित्याग, अरहन्त भक्ति, बहुश्रत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचन वत्सलता, प्रवचन प्रभावना और निरतिचारता सम्भव ही नहीं है।

षट्आवश्यक क्रिया का महत्व कहते हैं–

आवस्सयपरिहीणो जिणण्णाविराहगो हवे साहू।
सो सम्मत्तविहूणो पावेज किमप्पसंसाए॥३॥

आवश्यक पालन ना करता श्रमण नहीं वह जिनमत में
जिनवर की आज्ञा ना माने सदा भटकता भव वन में।
स्वयं रहित वह समदर्शन से आत्म प्रशंसा में रमता
मनके इस मिथ्या सुख सेवह कितना भ्रम खुद में रखता?॥३॥

अन्वयार्थ : [आवस्सयपरिहीणो] आवश्यकों से परिहीन **[साहू]** साधु **[जिणण्णाविराहगो]** जिनाज्ञा का विराधक **[हवे]** होता है। **[सो]** वह **[सम्मत्त-विहूणो]** सम्यक्त्व से रहित साधु **[अप्पसंसाए]** आत्म प्रशंसा से **[किं]** क्या **[पावेज]** प्राप्त कर लेगा?

भावार्थ : हे साधो! अपनी आत्मा को साधने वाला ही साधु कहलाता है। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि श्रमण षट् आवश्यकों का पालन प्रतिदिन करे। यदि आवश्यकों का पालन नहीं हुआ तो जिनाज्ञा का उल्लंघन होगा। जिनाज्ञा का उल्लंघन होने से सम्यग्दर्शन कहाँ ठहरेगा? बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र सम्यक् कैसे होगा?

अरे ! लौकिक व्यवहार में लगकर आवश्यक कार्य छोड़ने में कैसी बुद्धिमानी है? विचार करो जो लौकिक लोगों से सम्पर्क रखने में ज्यादा रुचि रखते हैं वे लौकिक श्रमण हैं। श्रमण और लौकिक ये दोनों विरोधी बातें हैं। श्रमण का रूप, श्रमण की चर्या, श्रमण की वार्ता सब कुछ लौकिकता से परे होती है। भवति हि मुनीनामलौकिकीवृत्तिः' अर्थात् मुनियों की वृत्ति तो अलौकिक होती है।

अहो लौकिक श्रमण ! लौकिक सम्बन्ध तो संसार को बढ़ाने वाला है। प्रतिक्रमण, वन्दना, सामायिक आदि पारिमार्थिकी क्रियाओं को छोड़कर लौकिक क्रिया में, व्यर्थ की बातचीत करके मनोरंजन करने में आनन्द ले रहा है, यह तो जिनाज्ञा के विपरीत आचरण है। क्या तुम्हें जिनाज्ञा की विराधना का भय नहीं है? अहो! खेद का विषय है कि प्रतिक्रमण भी एकाग्रता से नहीं करता। प्रतिक्रमण में भी बीच-बीच में बातें करता है । तुझे अपने दोषों का परिमार्जन करने का भाव ही नहीं है। तू भाव प्रतिक्रमण छोड़कर मात्र द्रव्य प्रतिक्रमण कर रहा है। पूर्वाचार्यों के क्रम से चला आया प्रतिक्रमण पाठ भी पूरा नहीं करता है। इतना ज्ञानी हो गया कि उस प्रतिक्रमण को अपनी बुद्धि से तूने शॉर्ट (short) कर दिया। अरे ! मुनिभ्रात! **धर्म में शॉर्टकट (shortcut)** नहीं होता है। जिस प्रतिक्रमण के विषय में आचार्य

कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि यह प्रतिक्रमण स्वाध्याय, आलोचना, वन्दना आदि सब कुछ है, उस प्रतिक्रमण को रे भ्रात! तू भावों से, एकाग्रचित्त होकर पूर्ण विधि से कर। वन्दना को दिखाने के लिए नहीं अपितु स्वरूप देखने के लिए कर । यदि वन्दना नहीं करेगा तो आचार्य या साधु संग मिथ्यादृष्टि समझेंगे, इस भय से वन्दना मत कर । वन्दना को संघ की ऋण मुक्ति का कार्य मत समझ। अरे भ्रात! वन्दना के बत्तीस दोषों को टालकर जिनेन्द्र देव की आराधना करो। इसी तरह सामायिक में समय नहीं आत्मा देखो। इन क्रियाओं से ही मुनिजीवन अन्तिम समय तक बना रह पाएगा। अन्यथा जिस की कंपनी में काम करो और ड्यूटी(duty) पूरी न करो तो या तो कंपनी छोड़कर जाना पड़ेगा, या फिर जीवन गुजारने का वेतनमान पूर्ण नहीं मिलेगा। इन क्रियाओं में हीनता का फल ऐसा मिलेगा कि या तो यह पद छोड़ना पड़े; ऐसे कर्म उदय में आएँगे अथवा जैसे-तैसे पराश्रित होकर इस पद का निर्वाह करने के लिए विवश होना पड़ेगा।

जिनाज्ञा छूटने से सम्यक्त्व छूट जाता है और सम्यक्त्व छूटने से चारित्र टूट जाता है। अरे श्रमण ! लौकिक असंयमी लोगों से आत्म-प्रशंसा सुनने के लिए अपने आवश्यकों में कमी मत करो। ज्ञानी जन जिसकी प्रशंसा न करें ऐसी क्रिया या चर्या से बचना ही श्रेयस्कर है। आत्म प्रशंसा साधक की साधना में बाधक भ्रम है। आत्म प्रशंसा सुनने का रोग उन्हीं के भीतर होता है जिन्हें आत्म विश्वास नहीं होता है । आत्मा का विश्वास बढ़ाओ, आत्मा की रुचि रखो। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय में आत्म प्रशंसा के भाव होते हैं। इस कर्मोदय को जीतकर चारित्राराधना में मन लगाओ। अपने चारित्र का स्वाभिमान रखने वाला ही मुनि होता है। और भी महत्त्व की बात करते हैं–

आवस्सय परिचत्तं समणं जदि सावगोत्थ पूजेदि।
सो वि धम्मविमुक्को जिणधम्मपरामहो होदि।।४।।

सामायिक, वन्दन आदिक जो श्रमण नहीं नित करता है
उसको भेष मात्र से लख यदि श्रावक पूजा करता है।
धर्म रहित का पूजक जन भी धर्म रहित हो जाता है
भाव रहित, अज्ञानी जन वो भव वन में खो जाता है।।४।।

अन्वयार्थ : [आवस्सय परिचत्तं] आवश्यक से रहित **[समणं]** श्रमण को **[जदि]** यदि **[अत्थ]** यहाँ **[सावगो]** श्रावक **[पूजेदि]** पूजा करता है **[सो]** वह **[वि हु]** श्रावक भी निश्चय से **[धम्मविमुक्को]** धर्म से रहित **[जिणधम्मपरामुहो]** जिन धर्म के विपरीत **[होदि]** होता है।

भावार्थ : श्रावक! तू भी सावधान रह। मोह से, अपने स्वार्थ से यदि तू ऐसे श्रमण की पूजा-प्रशंसा में लगा है जो अपनी आवश्यक क्रियाएँ नहीं कर रहा है तो तू भी उस श्रमण की धर्म विराधना में निमित्त है। तू यह मत सोच कि उनका धर्म वह जाने। अपने को तो उनका गुणगान करना ही श्रेष्ठ है। श्रावक! श्रमण की साधना को बिगाड़ने में कभी निमित्त नहीं बनना। श्रमण को विचलित करने में कारण नहीं बनना। श्रमण को अपने स्नेह से रागी नहीं बनाना। श्रावक! यह पाप दोनों के ले डूबेगा। वर्तमान में श्रमण को श्रावक के बीच रहना पड़ता है। ऐसे बहुत से श्रमण नादानी में ऐसे श्रावकों के कारण श्रमण धर्म छोड़ देते हैं। यह उस श्रमण के पाप कर्म का तीव्र उदय तो है ही किन्तु इस कलिकाल में कर्मोदय में निमित्त ऐसे स्वार्थी श्रावक भी बन रहे हैं।

जो श्रावक यह जानता है कि यह मुनि आचार्य की आज्ञा के विपरीत चल रहा है, संघ की निन्दा करता है फिर भी वह श्रावक यदि उस श्रमण से अत्यधिक सम्बन्ध रखता है, तो वह श्रावक भी धर्म रहित है। जिनाज्ञा से विपरीत श्रमण की सेवा, शुश्रुषा में अत्यधिक रुचि रखने वाला श्रावक भी जिनधर्म से रहित है।

श्रावकबन्धो ! जीवन में कोई पुण्य कार्य कर पाओ या न कर पाओ, इससे कोई दुगर्ति नहीं होगी किन्तु किसी को मार्ग से पतित करने में निमित्त बने तो अवश्य दुर्गति होगी। इसीलिए आचार्यों ने सावधान किया है कि–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थात् गृहस्थ यदि निर्मोही है तो मोक्षमार्ग पर स्थित है किन्तु साधु यदि मोही है तो वह मोक्षमार्ग पर स्थित नहीं है। इसलिए ऐसे साधु से तो वह निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

मोह के रूप विचित्र हैं। मोह साधु से भी राग उत्पन्न करा देता है। मोह साधु के साथ भी पाप भाव करा देता है। मोह मिथ्यात्व को भी बढ़ा देता है। मोह अप्रभावना करा देता है। मोह किसी साधु से राग उत्पन्न कराके निर्दोष में भी दोष दिखा देता है। मोह के कारण मोही साधु श्रेष्ठ लगता है और निर्मोही महत्त्वहीन।

इस मोह की विचित्रता से श्रावक और श्रमण दोनों ही जिनधर्म से पराङ्मुख हो जाते हैं। ऐसे मोह को धिक्कार हो।

आवश्यकों की विशेषता दिखाते हैं–

अपमत्तो सो साहू अण्णं कज्जं दु वोसरित्ता जो।
परिपूरदि आवस्सं ण हि सिग्धं दिग्घकाले वा॥५॥

क्वचित् कदाचित् यदि वह साधू अन्य कार्य में लग जाता
अप्रमत्त वह सावधान हो उन्हें छोड़ निज में जाता।
नहीं शीघ्रता आवश्यक के पूरण में वह कभी करे
या विलम्ब भी यथाकाल का उल्लंघन कर नहीं करे॥५॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[अण्णं कज्जं]** अन्य कार्यों को **[दु]** तो **[वोसरित्ता]** छोड़कर **[आवस्सं]** आवश्यक को **[सिग्धं]** शीघ्र **[वा]** अथवा **[दिग्धकाले]** दीर्घकाल में **[ण हि]** नहीं **[परिपूरदि]** पूर्ण करता है **[सो]** वह **[साहू]** साधु **[अपमत्तो]** अप्रमत्त है।

भावार्थ : आत्मन्! आवश्यकों को पूर्ण करने के लिए शीघ्रता करना जिस प्रकार दोष है, उसी प्रकार अधिक विलम्ब करना भी दोषकारक है। जो आवश्यकों के इन हीनाधिक दोषों से बचता है, वह साधु ही अप्रमत्त है।

पत्तेयं आवस्सं जावज्जीवं जहु त्तकालम्मि।
करणीयं जो कुव्वदि आवस्सयपुण्णदा तस्स॥६॥

जिस विधि से जिस समय पे करना कहा गया जिनवाणी में
उस विधि से उस समय पे करता नहीं रमे मनमानी में।
जीवन भर जिन आज्ञा का जो भार धार भी हलका है
आवश्यक परिपूर्ण यती को नहीं भरोसा पल का है॥६॥

अन्वयार्थः [जावज्जीवं] जीवन पर्यन्त तक **[जहुतकालम्मि]** यथोक्त काल में **[करणीयं]** करने योग्य **[पत्तेयं]** प्रत्येक **[आवस्सं]** आवश्यक को **[जो]** जो **[कुव्वदि]** करता है **[तस्स]** उसके **[आवस्सयपुण्णदा]** आवश्यकों की पूर्णता होती है।

भावार्थ : जिस काल में जो आवश्यक कहे हैं, उन्हें उसी काल में करना। जिन आवश्यकों के लिए जो काल वर्जित है उन्हें छोड़ देना। आवश्यक करते समय जो कायोत्सर्ग किए जाते हैं उनके काल प्रमाण को भी ध्यान रखना। इस तरह सावधानीपूर्वक जो जीवन पर्यन्त इन आवश्यकों को करता है वह आवश्यकों की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

व्यक्ति जब-जब दुःखी होता है, तब-तब उसके पीछे एक ही कारण होता है कि उसे किसी से जो अपेक्षा थी उसकी पूर्ति नहीं हुई। पर वस्तु में इच्छा होना मानव की सहज प्रकृति है। अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक गृहस्थ पहले अनेक सपने संजोता है, अनेक योजनायें बनाता है, अनेक प्रकार की महत्त्वाकांक्षायें रखता है। उन सबकी पूर्ति कदापि किसी को भी नहीं हो सकती है। जितनी मन की हो जाती है उससे उसकी इच्छा शक्ति बढ़ जाती है और पुन: उससे अधिक, और अधिक पाने की, संग्रह करने की वृत्ति बलवती बनी रहती है। परिणाम अन्ततः सब कुछ करके भी, सब कुछ पाके भी, सब कुछ होके भी सन्तुष्टि, शान्ति, सुख और आनन्द से दूर ही महसूस होता है। इच्छा पूर्ति होने पर जो हमने एन्जॉय (enjoy) किया यह भी कुछ देर तक। ऐसा कुछ नहीं जो हमारी अपनी चीज हो, जिस पर हमारा अधिकार हो, जो स्थायी हो। ऐसा क्यों होता है क्या आपने सोचा, अपने से पूछा या किसी से इन विचारों को शेयर (share) किया? नहीं तो आइये हम चलें ज्यादा तर्क किये बिना, ज्यादा कुछ सोचे बिना, एक ऐसे रास्ते पर, जो सच्चा सुखद और शाश्वत है।

तर्क और सोच के लिए मना इसलिए है कि, इन उलझनों में तो हम पहले ही उलझे हैं इसलिए तर्क वितर्क से कुछ सीखने में समय बर्बाद न करके हम चलते हैं उस पथ पर जो अब तक अछूता है या जिसको पाकर के भी हम उसका समुचित उपयोग न कर पाए।

ऋषि महात्माओं ने जिस मार्ग को स्वयं अपनाया उसी पर चलने के लिए सदा-सदा ही गृहस्थों को भी प्रेरित किया है। कई मनीषियों का विचार है कि श्रावक के षट् कर्म' यह एक अर्वाचीन (नई) पद्धति है। प्राचीन परंपरा तो वही है जो मुनियों की है। श्रावक भी मुनि की तरह षट् आवश्यकों का पालन करता था। पर धीरे-धीरे व्यस्तता बढ़ी, प्रभावना में उतार चढ़ाव आये। श्रावक इन आवश्यकों से दूर हो गया और आचार्यों ने सम-सामयिकता को ध्यान में रखते हुए देव पूजा आदि षट् कर्म का नियम बना दिया। आज की स्थिति में वे जैनी भाई बहुत कम बचे हैं, जो इन षट्कर्मों या षट् आवश्यकों का बखूबी पालन करते हों। परिणाम ! मानसिक तनाव, हृदय आघात, केन्सर, ब्रेन हेमरेज, ट्यूमर, डायबिटीज, मोटापा, हाई ब्लडप्रेशर आदि अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों को आमंत्रण।

विज्ञान चाहे कितना ही तकनीकी विकास कर ले, चाहे कितना ही आसमान में उड़ाने भर ले, चाहे कितनी ही सुविधायें जुटा ले, चाहे जितना अन्तरिक्ष में आवास बना ले, पर सुख की खोज में उसे लौटना होगा, अन्ततोगत्वा अपने में लौटना होगा, अपने में संतुष्ट होना होगा और अपने तक ही सीमित।

जो लोग धर्म से डरते हैं या धर्म करने में हिचकते हैं या जो धर्म में रुचि रखते हैं, उन सबके लिए यह छह कार्य प्रतिदिन आवश्यक रूप से करने योग्य हैं। सुखी जीवन के यह छह सूत्र हैं।

प्रथम सूत्र स्तवन/स्तुति- अर्थात् अपने से ज्यादा शक्तिमान, स्वस्थ और निर्दोष व्यक्तित्व की ओर

दृष्टिपात । इस फॉर्मूले को आप अपनायें क्योंकि चिन्ता प्रत्येक मानवीय मस्तिष्क का एक रोग है । इस चिन्ता से बचने के लिए उस चेतना को याद करें, जो सुपर है, जिससे बढ़कर कोई नहीं। चेतना, एक शक्ति का स्रोत है, जो सबके अन्तस् में विद्यमान है। स्तुति करने से हम निराशा, विषाद, अवसाद और अनिद्रा जैसी स्थितियों पर नियंत्रण कर सकते हैं। जब हम परेशान होते हैं तो हमारी शक्ति का अपव्यय होने लगता है। उसे रोकें और उसे रोकने का सबसे आसान तरीका है पंच परमेष्ठी की पूजा, स्तुति, उनके गुणों का आह्लादित होकर गुणगान करना, भक्ति करना, जोर से स्तुति पढ़ना। एक-एक करके चौबीस तीर्थंकरों का गुणगान, उनके सहस्र नाम का उच्चारण । आस्था और लगन के साथ अपने को उस महाचैतन्यवान/शक्तिमान सत्ता के प्रति समर्पित कर देना। हम बिना आस्था के जी नहीं सकते। हममें से हर एक की कहीं न कहीं आस्था रहती है। यह आस्था एक शक्ति है, इस शक्ति को मोड़ दें उस मूर्ति की तरफ जो शान्त है, जिसकी मुख मुद्रा में अनेकों रहस्य छिपे हैं। जिसकी आँखें अब इस विश्व की ओर देखने के लिए नहीं उठती हैं । जिसने सब कुछ कर लिया है इसलिए हाथ पे हाथ रखे बैठा है, जिसे कहीं नहीं जाना है, जो स्थिर है, जिसमें काम नहीं, वासना नहीं, चिन्ता नहीं, मान-अपमान का एहसास नहीं, उस वीतराग निर्विकार के चरणों में भक्ति की आस्था से भर जाना। किसी ने कहा है कि-"आस्था उन शक्तियों में से एक है जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं, और इसके पूर्ण अभाव का अर्थ है धराशायी हो जाना।"

दूसरा सूत्र है- प्रार्थना, वन्दना अर्थात् बन्ध ना- जब हम चौबीस तीर्थंकरों की थोड़ी स्तुति से सबके गुणों में एक-जैसा पन ही देख लेते हैं तो मन होता है कि, क्यों न हम एक ही महापुरुष का गुणगान अच्छे ढंग से करें, बस इसी मनोवृत्ति का नाम है वन्दना। एक ही तीर्थंकर महापुरुष की चेतना में अपने को देखना, उसी की स्तुति सरोवर में स्नान करना और अपने मन को शुद्ध बना लेना। अनेक द्वन्द्वों और उलझनों को जीते जागते भूल जाना। यही जीवन का वह क्षण है जब हम महसूस कर सकते हैं कि हाँ, हमने आज जीवन जिया है। बाकी का जीवन तो यूँ ही बिताया है। हर दिन हमें ऐसे ही जीना है ताकि चिन्ता की गठरी इकट्ठी होकर दिमाग में ट्यूमर का रूप न ले ले। डॉ. कैरेल ने एक लेख में कहा था- **"प्रार्थना किसी के द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का सबसे सशक्त रूप है। यह शक्ति उतनी ही वास्तविक है जितनी कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति । एक डॉक्टर होने के नाते मैंने देखा कि, सभी चिकित्साओं के असफल हो जाने के बाद भी लोग प्रार्थना के शान्त प्रयास द्वारा अपने दुःख और रोग से मुक्त हो गये... प्रार्थना रेडियम की तरह चमकदार, अपने आप उत्पन्न होने वाली ऊर्जा है।... प्रार्थना में इन्सान समस्त ऊर्जा के अनन्त स्रोत के सम्पर्क में आकर अपनी सीमित ऊर्जा को बढ़ा सकता है। जब हम प्रार्थना करते हैं तो हम अपने आपको उस अविनाशी शक्ति के साथ जोड़ लेते हैं जो पूरे ब्रह्माण्ड को चलाती है। जब भी हम दिल से प्रार्थना करते हुए ईश्वर को सम्बोधित करते हैं हम अपनी आत्मा और शरीर दोनों को**

बेहतर बना लेते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई आदमी या औरत एक पल के लिए भी प्रार्थना करे और उसे बेहतर परिणाम न मिलें।"

तीसरा सूत्र- प्रत्याख्यान- यानी आत्म उत्थान का सोपान- प्रतिदिन अपने दुर्गुण का त्याग करना प्रत्याख्यान है। हम पापों के पिण्ड हैं अर्थात् हमारे अन्दर अनेक दुर्गुण हैं, हमने अनेक मूर्खतायें की हैं । मेरे पास अनेक छोड़ने योग्य, त्यागने योग्य भाव हैं उनके त्याग बिना हम कभी भी हीन भावों से, अपनी आलोचनाओं से अपनी अव्यवहारिक प्रवृत्तियों से निजात नहीं पा सकते हैं। अत: अपने दुर्गुणों का निष्पक्ष परीक्षण करें। आत्म निरीक्षण करें। प्रतिदिन एक बुरी आदत को नहीं करने का संकल्प लेकर हम इस प्रत्याख्यान से अपना मनोबल बढ़ा सकते हैं। यदि हम लिस्ट बनाकर एक बुरे भाव या आदत को नोट करके निरीक्षण करेंगे तो देखेंगे हमारा विकास हुआ है, लोगों ने मुझे पसन्द किया है और हम स्वयं में सन्तुष्ट हैं। अत: प्रत्याख्यान मनोवैज्ञानिक ढंग से आत्म उत्थान का सोपान है।

चतुर्थ सूत्र- प्रतिक्रमण यानि वैर कम- मैंने काम-क्रोध के वश होकर जो अतिक्रमण किया। मैं अपने स्वरूप से बहुत दूर चला गया था। उस सब कायिक-वाचिक-मानसिक विकारों का प्रायश्चित्त करके अपने आप में आने का यह एक प्रक्रम है । आत्म आलोचना से व्यर्थ के अभिमान से उगी घास-फूस रूपी बुराइयों को हम उसी दिन काट देते हैं, उस फसल को हम बढ़ने नहीं देते हैं। मैं ही अपना मित्र हूँ और मैं ही अपना शत्रु हूँ। अपनी बदकिस्मती का कारण भी मैं हूँ और अपने समुन्नत भाग्य का भी। अत: अपने में रहने के लिए लौटना ही प्रतिक्रमण है। हमने विगत में जो छोटी-छोटी बातों पे बड़ी-बड़ी उलझने बना ली, मन में वैर-बुराई का जहर भर लिया वह सब भूल जाना ही सच्चा प्रतिक्रमण है। हमें सबको क्षमा करना है। क्षमा ही आत्मा का बल बढ़ाता है। सबसे बड़ी हार उसी की है जो दूसरे से वैर रखता है। जिसका किसी से वैर भाव नहीं वही जीवित जीवन जीता है। मनोवैज्ञानिकों ने शोध करके इस तथ्य को उजागर किया है कि न्यायालय में चलने वाले पारिवारिक, सामाजिक मामलों में अधिकतर झगड़े भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्र के बीच छोटी-छोटी बातों से शुरू होते हैं। यदि उन छोटी-छोटी बातों को उसी समय भुला दिया जाय तो कोर्ट कचहरी तक झगड़ा कभी न पहुँचे। महान् वह है, जो बड़ी-बड़ी बातों को भी बहुत तुच्छ समझकर तनावमुक्त रहता है। जो लोग छोटी-छोटी बातों को तिल का ताड़ बनाने जैसी मानसिकता रखते हैं, वे न केवल दूसरों का समय बर्बाद करते हैं, बल्कि उससे अपने आपको कष्ट में ही बनाये रखते हैं। सही मायने में भाव सहित प्रतिक्रमण करना, मन को विशुद्ध, तरो-ताजा बनाने का सही आध्यात्मिक तरीका है। पुरानी बातों को मन में रखे रहना और उस विद्वेष के जहर को समय पर उगलने की आदत अनेक रोगों को जन्म देती है। दिल के तमाम रोगों पर रोक लगाने के लिए यह प्रतिक्रमण ही श्रेष्ठ तरीका है।

पंचम सूत्र कायोत्सर्ग यानी दूर है उपसर्ग- इसमें काय को छोड़कर मात्र श्वासोच्छास पर मन को

टिकाना होता है । श्वास हमारा सूक्ष्म प्राण है । जिस समय श्वास के आवागमन पर ध्यान दिया जाता है उस समय हम प्राणमय हो जाते हैं। प्राण एक शक्ति है, जिससे हमारा जीवन संचालित होता है। सही मायने में जीवन का आनन्द इसी प्रक्रिया में है। वे क्षण ही हमने जिये हैं, जो हमने प्राणों के साथ जिये हैं। कायोत्सर्ग में प्राण-ऊर्जा का संचार शरीर के एकएक अंग-उपांग के अन्तरङ्ग हिस्से तक होता है। मन एक नयी ऊर्जा से भर जाता है। योगासन में शवासन इसी कायोत्सर्ग का रूप है। महा प्राण शक्ति को दीर्घ आयाम के साथ सूक्ष्म अति सूक्ष्म बनाने वाला योगी इसी कायोत्सर्ग की प्रक्रिया से गुजरता है । यह प्राणायाम का एक अंग है । प्रत्येक श्रमण/मुनि के लिए दिन-रात में प्रत्येक आवश्यक क्रिया से पूर्व और पश्चात् कायोत्सर्ग नियामक है। प्रमाद वश कहें या स्थिरता के अभाव के कारण कहें या इस प्रक्रिया का स्थान बहुतायत में अब नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ने मात्र से पूरा किया जाता है। इस क्रिया ने कायोत्सर्ग का महत्त्व कम कर दिया है। श्रमण या श्रावक यदि नौ बार णमोकार मन्त्र को श्वासोच्छवास के आयाम के साथ पूर्ण करते हैं तभी वे सही कायोत्सर्ग का फल प्राप्त कर सकते हैं। आगम में इस कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों का वर्णन है। इस कायोत्सर्ग की कमी से ही आगे आने वाली आत्मिक प्रक्रिया- सामायिक निर्दोष नहीं हो पाती है। अतः समता, साम्य भाव की प्राप्ति के लिए कायोत्सर्ग करना प्रतिदिन मानसिक दोषों का अतिसार करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

छठवाँ सूत्र- सामायिक/अन्त: प्रज्ञा की परिचायक- हे भगवन्! मेरे साथ अच्छा या बुरा जो भी होना था, वह अच्छा हुआ। वह नियति थी। वह कर्म का और मात्र हमारे ही किए का फल है। आगामी समय में भी उन कर्मों का फल भोगने को मैं तैयार हूँ। जाग्रत रहकर सुख और दुःख को हर्ष-विषाद रहित लेकर मुझे अनुभव करना है। देह को छोड़कर मुझे किसी का संवेदन नहीं है। देह रोग सहित है तो भी मुझे पीड़ा से विचलित नहीं कर सकती है। प्रत्येक कर्म का फल भोगने की स्वीकृति ही सहज सामायिक है। आचार्य गुणभद्र जी कहते हैं कि- **"रोग को दूर होने का कोई उपाय हो तो कर लो और कोई उपाय न बचा हो तो समता-अनुद्वेग ही अन्तिम उपाय है।"** मैं इस उपाय को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। नश्वर देह में रहकर भी अविनश्वर आत्मा का संवेदन, उसकी प्राप्ति की लगन और अनुभव का आत्मिक आनन्द इस सामायिक में है। इसी प्रक्रिया की पराकाष्ठा ध्यान और समाधि है।

इस प्रकार यह छह आवश्यक वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रमण या श्रावक के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक हैं । मात्र शारीरिक स्वास्थ्य ही सब कुछ नहीं होता है जिसकी प्राप्ति के लिए आज का युग हर सम्भव प्रयत्न कर रहा है। शरीर को संचालित करने वाले शाश्वत तत्त्व आत्मा की ओर केन्द्रित करने वाली यह षट् आवश्यकों की प्रक्रिया बहु आयामी है। इस प्रक्रिया से चलने वालों को शरीर और मन, वचन की स्वस्थता स्वत: प्राप्त होगी। अत: सभी चिन्ता, तनाव, दैहिक रोग और अस्थिरता

के निवारण के लिए यह षटावश्यक मनोवैज्ञानिक विश्रूषण से बहुत महत्त्व के हैं। आत्म शान्ति प्रत्येक आत्मा का लक्ष्य होना चाहिए। जो इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने से स्वयं में स्वयं के द्वारा ही प्राप्त होती है। आचार्य समन्तभद्र जी कहते हैं- "**स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः**" अर्थात् अपने दोषों के दूर होने से ही आत्म शान्ति प्राप्त होती है।

आवश्यकों की पूर्णता और कैसे होती है? यह कहते हैं–

पडिदिवसं पडिरत्तं जदि कुव्वंतो वि सयलमावस्सं।
पेक्खदि णवं विसोहिं आवस्सयपुण्णदा तस्स॥७॥

प्रतिदिन प्रति रजनी में रहता श्रमण जागता खेद बिना
आवश्यक की हानि उसे तो नहीं सहन निर्वेद बना।
ढोता नहीं कर्म रज धोता नव विशुद्धि से मन भरपूर
उसके ही षट् आवश्यक का योग बना है संयम पूर॥७॥

अन्वयार्थ : [पडिदिवसं] प्रतिदिन **[पडिरत्तं]** प्रतिरात्रि **[सयलं आवस्सं]** सकल आवश्यक को **[जदि]** यदि **[कुव्वंतो वि]** करता हुआ भी **[णवं विसोहिं]** नई विशुद्धि को **[पेक्खदि]** अनुभव करता है **[तस्स]** तो उसके **[आवस्सयपुण्णदा]** आवश्यकों की पूर्णता होती है।

भावार्थ : रात्रि और दिवस सम्बन्धी आवश्यकों को करते हुए भी साधक की आत्मा में खेद-खिन्नता क्यों नहीं होती है? जानते हो आत्मन्! आत्मा में विशुद्धि जब बढ़ती है तो नया-नया आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। विशुद्धि बढ़ने से प्रशम भाव की वृद्धि भी होती है। प्रशम भावों से मन की निराकुलता उत्पन्न होती है। देखो ! सुखपिपासु! एक सुख इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होता है। दूसरा सुख मन की कामनाओं की पूर्ति से होता है। ये दोनों तो सांसारिक लोगों के सुख हैं, जो इन्द्रिय और मन की अधीनता से होते हैं।

मोक्षपथिक का सुख भी दो प्रकार का है। पहला तो प्रशम भावों से उत्पन्न सुख और दूसरा आत्मिक विशुद्धि का सुख। आवश्यकों का पालन करने से मुमुक्ष को दोनों ही प्रकार का सुख प्राप्त होता है। मन और आत्मा का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मन में उद्देश्य सम्यक् होने पर शुद्धि उत्पन्न होती है तो आत्मा में कर्म की निर्जरा भी होती है। कर्म की निर्जरा होने से आत्मा में विशुद्ध भाव बढ़ते हैं। कहा भी है–

उवसम भाव-तवाणं जह-जह वड्ढी हवेइ साहुस्स।
तह-तह णिज्जर वड्ढी धम्मे सुक्के विसेसेण॥

अर्थात् उपशम भाव रूपी तप की जैसे-जैसे वृद्धि होती है साधु की उसी प्रकार निर्जरा में वृद्धि होती है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में विशेष रूप से निर्जरा होती है।

अहो ! पंचम काल में भी धर्मध्यान से आत्म विशुद्धि बढ़ती है। पंचम काल में भी निर्जरा होती है। पंचम काल में भी आत्म चिन्तन होता है। देखा जाय तो उपशम भाव ही सबसे बड़ा तप है। तप भी उपशम भाव की वृद्धि के लिए ही किया जाता है।

धर्म ध्यान गृहस्थ भी कर सकता है और मुनि भी करता है। धर्म ध्यान के चार भेद हैं- आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। ये चारों ही धर्म ध्यान अविरति सम्यग्दृष्टि आदि उपरिम गुणस्थानों में होते हैं। धर्म ध्यान का पात्र कोई भी शान्तिप्रिय और शक्तिशाली, धीरज व्यक्ति हो सकता है। आज्ञा विचय आदि चार भेद ध्येय की अपेक्षा से हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा इन चार भेदों का विभाजन नहीं है।

और सुनो! विचय नाम चिन्तन का है। भगवान् के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, सात तत्त्व या अन्य भी प्रच्छन्न विषयों का चिन्तन करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है । प्रच्छन्न विषय द्रव्य, काल, भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। कालाणु द्रव्य प्रच्छन्न है। अलोकाकाश क्षेत्र प्रच्छन्न है। अनागत काल काल प्रच्छन्न है। प्रति समय उत्पन्न होने वाली षट् गुणी हानि वृद्धि से सहित अर्थ पर्याय भाव प्रच्छन्न है। ये प्रच्छन्न विषय केवली गम्य हैं। इनका यथार्थ श्रद्धान ही आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

इस जगत् में प्रत्येक आत्मा मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र से दुःखी है, उनके दुःख का चिन्तन करना या उनके दुःख दूर होने का उपाय क्या है? यह चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। यह अपाय विचय अविरति सम्यग्दृष्टि आदि कोई भी जीव करता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने से ही यह धर्मध्यान होता है।

कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से उदय और उदीरणा विपाक का चिन्तन करना विपाक विचय धर्मध्यान है। यह कर्म विपाक का चिन्तन दुःखी नारकी भी करता है । कष्ट के समय हे साधक! इसी धर्मध्यान का चिन्तन करके समता की आराधना करना।

अंजना, सीता, पाण्डव, राम जैसे महापुरुषों ने इसी धर्मध्यान से अभाव के समय में भी अपने परिणामों को निराकुल रखा था। ऐसे महापुरुषों के जीवन की कथा स्मरण करना भी विपाक विचय धर्मध्यान है।

जो जीव विपाक विचय धर्मध्यान में अभ्यस्त होता है, वही संस्थान विचय धर्मध्यान का अधिकारी होता है। यह चारों ही ध्यान क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं। साधक क्रम-क्रम से यदि इन ध्यानों को करता है तो वह कर्म निर्जरा को बढ़ाता चला जाता है।

संस्थान विचय धर्मध्यान में लोक के आकार का, और लोक में आधेयभूत द्वीप, सागर आदि का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

संस्थान विचय के ही पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेद हैं । सो पिण्डस्थ और पदस्थ भेद सभी श्रावकों के लिए करने योग्य हैं।

नित्य प्रतिदिन इन आवश्यकों से जो धर्मध्यान में निरत रहता है, वही धर्म का पालन करता है।

और भी कहते हैं–

वयणमयं पडिकमण-प्पहुडिव्ववहारदो दु आवस्सं।
जो कुणदि णिच्छयत्थं आवस्स्य पुण्णदा तस्स॥८॥

प्रतिक्रमण आदिक आवश्यक शब्द बोल जो करता है
आवश्यक व्यवहार कहे हैं उनसे भी मन भरता है।
मन भर कर फिर वचन बिना जो मौन ध्यान के आश्रय से
निश्चय को पा लेता मुनि जो पूर्ण हुआ आवश्यक से॥८॥

अन्वयार्थ : [वयणमयं] वचनमय **[पडिकमण-प्पहुदि]** प्रतिक्रमण आदि **[ववहारदो]** व्यवहार से **[दु]** भी **[आवस्सं]** आवश्यक **[णिच्छयत्थं]** निश्चय के लिए **[जो]** जो **[कुणदि]** करता है **[तस्स]** उसके **[आवस्सय पुण्णदा]** आवश्यकों की पूर्णता होती है।

भावार्थ : हे भव्यात्मन्! वचनमय प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है। जब यह भावों की विशुद्धि उत्पन्न करता है तो भाव प्रतिक्रमण होता है। यह द्रव्य प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ भावमय हैं । केवल समय गुज़ारने को या करना है इसलिए जो किया करता है, वह भाव प्रतिक्रमण नहीं करता है। यह द्रव्य-भावमय प्रतिक्रमण आदि व्यवहार चारित्र कहलाता है। इसी व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र की प्राप्ति होती है।

अरे स्याद्वादिन् ! सुनो! व्यवहार चारित्र क्रिया रूप है। यह क्रिया बाहर भी दिखाई देगी और भीतर भी महसूस होगी। जब तक यह बाह्य अभ्यन्तर क्रिया चल रही है तब तक समस्त चारित्र व्यवहार चारित्र नाम पाता है। जो इन बाह्य क्रियाओं में अभ्यस्त हो जाता है उसी का आत्मा में ठहरना होता है। आत्मा में स्थित हो जाने का नाम निश्चय चारित्र है।

कुछ एकान्तवादियों ने जिनवाणी के सिद्धान्तों को ही बदल दिया। कुछ लोग उलटा राग आलापते हैं । उनका कहना है कि पहले निश्चय चारित्र होता है, फिर व्यवहार चारित्र होता है। पहले चारित्र भीतर

उत्पन्न होता है, तब बाहर प्रकट होता है। पहले भीतर से कषायों का अभाव रूप निश्चय चारित्र प्रकट होगा तभी बाहर की क्रिया व्यवहार चारित्र का नाम पाती है। यदि भीतर कषायों का अभाव नहीं है तो बाहर से कोई भी व्रत, तप, चारित्र का नाम नहीं पाता है, वह सब मिथ्या चारित्र है। इसलिए पहले अन्तरङ्ग का निश्चय चारित्र प्राप्त करो, व्यवहार तो बाद में होता रहेगा।

भोले आत्मन्! कहीं तुम यह सब सुनकर भटक तो नहीं गए। सोच रहे होगे यह सब सत्य ही तो कहा जा रहा है। इसमें मिथ्या या असत्य जैसा कुछ भी नहीं है । ठहरो! एक दम निर्णय मत कर लेना। एकान्तपक्षी बहुत लुभावना बोलते हैं। उनकी जिह्वा शहद लिपटी तलवार की तरह चलती है। जब तक तुम आगम का समूचा अध्ययन न कर लो तब तक ऐसी बातें सुनकर निश्चय मत कर बैठना। तुम निर्णय और निश्चय में भेद नहीं समझ पाओगे। निश्चय तो आत्मा में आत्मा का स्थित हो जाना है। यह लक्ष्य है। यह लक्ष्य बाद में प्राप्त होगा। कभी भी साध्य की या लक्ष्य की प्राप्ति पहले नहीं होती है। पहले साधन की, लक्षण की प्राप्ति करनी होती है। दुनिया का प्रत्येक व्यक्ति साधन से साध्य की प्राप्ति करने का तरीका ही बताता है । जब बुद्धि में आग्रह और आत्मा में मिथ्यात्व का उदय रहता है तो वस्तु तत्त्व उलटा कर दिया जाता है। और उस उलटे तथ्य को ही रहस्य बनाकर प्रस्तुत किया जाता है।

आत्मन् ! जिसे तुम निश्चय चारित्र कह रहे हो, वह भी व्यवहार चारित्र ही है। यह तो सभी को स्वीकार्य है कि जब तक आत्मा में कषायों का अभाव नहीं होगा तब तक आत्मा में धारण किया गया व्रत, तप मिथ्या है किन्तु कषायों के अभाव से उत्पन्न आत्मा की परिणति को निश्चय चारित्र कहने की भूल मत करो। व्रत, तप, संयम धारण करने से ही आत्मा में कषायों का अभाव होता है। बिना व्रत, संकल्प के कभी भी कषायों का स्वतः अभाव नहीं हो सकता है। पहले कषायों का अभाव हो फिर हम व्रत, तप लेंगे, ऐसी उलटी गंगा पचास-साठ वर्ष से पहले कभी नहीं बही । यदि ऐसा माना जाएगा तो यह मानना पड़ेगा कि तीर्थंकर को जब वैराग्य होता है तो, कपड़े पहने हुए ही, आभूषण धारण किये ही, केश-लोंच करने से पहले ही उन्हें सातवाँ गुणस्थान हो गया। ऐसी स्थिति में कपड़ों में ही सातवाँ गुणस्थान मानना पड़ेगा। यदि वस्त्राभूषण पहने हुए ही संयम का भाव उत्पन्न हुआ मानोगे तो परिग्रह सहित दशा में ही निर्ग्रन्थता, अप्रमत्त गुणस्थान और संयम भाव मानना पड़ेगा। ऐसा तो किसी भी आचार्य ने नहीं माना। यह मानना तो श्वेताम्बर मत का समर्थन होगा। वस्त्र सहित को छठवाँ गुणस्थान, सातवाँ गुणस्थान मानना आगम के विरुद्ध है, जिनवाणी का गला घोंटना है।

विचार करो! यदि पहले ही कषायों का क्षय हो जाएगा तो फिर किसी-किसी को उसी अवस्था में केवलज्ञान भी हो जाएगा। श्वेताम्बर लोग वस्त्र सहित मुक्ति ऐसे ही सिद्ध करते हैं। भगवान् महावीर के लिए भी वे यही कहते हैं कि उनके शरीर पर एक कपड़ा था। उन्होंने उस कपड़े का त्याग नहीं किया था। वह

कपड़ा झाड़ियों में उलझकर हट गया था। भगवान् महावीर सचेल(वस्त्र सहित) थे। एकान्तवाद की यह उलटी धारा उसी व्यक्ति ने यहाँ आकर चलाई है जो पहले श्वेताम्बर था। वहाँ उसका कोई आदर नहीं हुआ तो उसने वह धर्म छोड़कर दिगम्बर धर्म अपना लिया। समयसार मात्र पढ़कर लुभावनी प्रवचन शैली से उलटी गंगा बहायी। उसके भीतर का वह संस्कार नहीं मिटा था सो यहाँ आकर भी युक्तियों से उसी श्वेताम्बर धारा का समर्थन किया। सच है ! संस्कार इतनी जल्दी नहीं मिटते हैं।

आचार्य समन्तभद्र देव रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावक के लिए महाव्रतों की कल्पना करते हैं किन्तु उसे महाव्रती नहीं कहते हैं। क्यों नहीं कहते? क्योंकि भीतर आत्मा में प्रत्याख्यान कषाय का अति सूक्ष्म, मन्दतर उदय भी जब तक चल रहा है तब तक आत्मा में छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान नहीं हो सकता है। उस श्रावक को जो सामायिक में बैठा है, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग से आरम्भ परिग्रह का त्याग करके बैठा है, निर्विकल्प है, आत्म ध्यान में सुदर्शन सेठ की तरह लीन है तो भी उसका सातवाँ गुणस्थान नहीं है। कषाय की अत्यन्त मन्द धारा टूट क्यों नहीं जाती? क्यों नहीं उसी सामायिक में वह संयम भाव प्रकट हो जाता? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि जब तक संकल्प पूर्वक आजीवन के लिए परिग्रह का त्याग नहीं होगा तब तक भीतर से प्रत्याख्यान कषाय का अभाव नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि भीतरी कषाय का अभाव बाहरी परिग्रह त्याग के संकल्प पर निर्भर है। मान लो सेठ सुदर्शन नग्न होकर श्मशान में खड़े हैं। उनके पास किसी भी तरह का परिग्रह नहीं है तो भी वह संयमी नहीं हो सकते हैं। मुनि नहीं कहला सकते हैं। जानते हो भव्यात्मन् ! ऐसा क्यों? क्योंकि उनके परिग्रह का त्याग आजीवन के लिए नहीं है। एक रात के लिए सामायिक करने तक के लिए ही उन्होंने वस्त्र त्याग किया है। वस्त्र पास में रखे हैं, सुबह होते ही इन वस्त्रों को पहनूंगा, यह भाव भी भीतर है। इसी कारण से उनको संयम भाव नहीं हो सकता है।

हे स्वाध्यायरसिक! वस्तु से बंध नहीं होता है, यह सत्य है किन्तु वस्तु त्याग के बिना आत्मा निर्बन्ध नहीं होता है, यह भी उतना ही सत्य है। बाहरी परिग्रह के त्याग से आत्मा में कषाय का अभाव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह अनिश्चितता (risk) का सौदा है किन्तु यह हमेशा ध्यान रखना कि **बाह्य परिग्रह के त्याग बिना अन्तरङ्ग में संयम भाव त्रिकाल में कभी नहीं होगा।** व्यापार करने के लिए पूंजी लगानी पड़ेगी। पूंजी लगाने से लाभ हो या न हो, यह बाद की बात है। किन्तु व्यापार करने की शर्त तो यही है कि बाजार में आओ, दुकान खोलो, पूंजी लगाओ। व्यापार चलना या न चलना तो और दूसरे कारणों पर निर्भर करता है। सेठ बनना, न बनना तो बाद की बात है। यह रिस्क संयम मार्ग में भी है। यदि दुकान खोले बिना ही सेठ बने बैठे हो, तो फिर दुकान खोलने की जरूरत ही क्या है? इसी तरह बाहर के कपड़े खोले बिना भीतर से तीर्थंकर को सातवाँ गुणस्थान हो जाता है तो फिर उन्हें गृह त्याग की जरूरत ही क्या है?

हे निश्चयैकान्तवादिन् ! अभी भी सँभल जा। उलटी दुकान मत चला। उलटी गंगा के बहाव में मत फँस। समयसार पढ़कर यदि बुद्धि उलटी चलने लगी है तो कोई बात नहीं। डर मत । कुछ देर के लिए समयसार की जगह द्रव्यसंग्रह का अध्ययन कर । रत्नकरण्ड श्रावकाचार और पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय का अध्ययन कर।

द्रव्यसंग्रह में आचार्य देव कहते हैं कि व्रत, समिति, गुप्ति यह सब व्यवहार चारित्र है। बाद में निश्चय चारित्र की परिभाषा कहते हैं। बाह्य, अभ्यन्तर क्रियाओं का रुक जाना निश्चय चारित्र है। आचार्य अमृतचन्द्र जी, जो कि समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की टीका करने वाले महान् आचार्य हैं, वह भी प्रवचनसार में कहते हैं कि हे व्यवहार पंचाचार ! मैं तुम्हारी शरण में तब तक रहता हूँ, जब तक कि मुझे शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चय चारित्र की प्राप्ति न हो जावे। इतने बड़े महान् आध्यात्मिक आचार्य इस व्यवहार चारित्र की शरण माँग रहे हैं। व्यवहार चारित्र से ही भीख माँग रहे हैं कि इस आत्मा को तब तक इस व्यवहार की शरण मिले जब तक कि निश्चय चारित्र की प्राप्ति न हो जावे। इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहार चारित्र की शरण लिए बिना निश्चय चारित्र की शरण नहीं मिलती है।

इतने बड़े आचार्यों के स्पष्ट कथनों को भुलाकर भी हठाग्रह से यदि अपनी मान्यता नहीं छोड़ोगे तो तीव्र मिथ्यात्व का बन्ध ही होगा। घोर श्वभ्रसागर में चिरकाल तक रोना पड़ेगा।

इसलिए स्पष्ट जानो कि भीतर का गुणस्थान बाह्य संकल्प के बिना नहीं बनता है और भीतर-बाहर का यह चारित्र व्यवहार चारित्र है। आत्मा में कषाय का अभाव होना निश्चय चारित्र नहीं अपितु व्यवहार चारित्र ही है। इसलिए व्यवहार चारित्र ऊपर-ऊपर से नहीं है, भीतर से है। व्यवहार चारित्र वास्तविक है। सत्य है। आत्मा में कषाय के अभाव से छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बना रहना भी व्यवहार चारित्र है। आत्मा की अप्रमत्त गुणस्थान की विशुद्धि भी व्यवहार चारित्र है । इस विशुद्धि को निश्चय चारित्र मानने की भूल मत करो। निश्चय चारित्र शुद्धोपयोग की दशा में होता है। शुद्धोपयोग तो ध्यान की अवस्था में होता है जो केवलज्ञान का कारण बनता है।

हे साधक! इन आवश्यक क्रियाओं को निश्चय चारित्र की प्राप्ति के लिए करो। यदि निश्चय चारित्र इस भव में प्राप्त न भी हो तो भी कोई बात नहीं। यह व्यवहार चारित्र ही प्रति समय गुणश्रेणी निर्जरा कराता रहता है । इस व्यवहार चारित्र को साध्य समझने की भूल मत करना। इस व्यवहार से निश्चय प्राप्ति की भावना बार-बार करना। जितना हो सके इस व्यवहार चारित्र को धारण कर निश्चय में जाने की रुचि करो। बार-बार आत्मा का स्पर्श करो। बार-बार उपयोग की धारा को उपयोग में ही स्थिर करने का भाव करो। वर्तमान में यही निश्चय चारित्र है। यही आत्मानुभूति है। यही षट् आवश्यकों की परिपूर्णता है।

अब आवश्यक अपरिहाणि भावना का उपसंहार करते हैं–

लोगाणुरंजे हिरवेक्खसाहू, आवासएसुप्पणिधाण सीलो।
जहाविसिस्सो सयलेसु बुद्धो पुण्णंककंखी विसएसु होदि॥९॥

जनरंजन का ध्यान छोड़कर नित्य निरंजन आतम में
मन वच तन के द्वारा रमता साधू षट् आवश्यक में।
ज्यों विशिष्ट विद्या का अर्थी पूर्ण अंक की चाह रखे
त्योंही श्रमण सभी आवश्यक पूर्ण करन की चाह रखे॥९॥

अन्वयार्थ : [लोगाणुरंजे] लोक का रंजन करने में **[णिरवेक्ख साहू]** निरपेक्ष साहू **[आवासएसु]** आवश्यकों में **[पणिधाण-सीलो]** प्रणिधान शील होता है **[जह]** जैसे **[विसिस्सो]** विशिष्ट शिष्य **[बुद्धो]** बुद्धिमान हुआ **[सयलेसु विसएसु]** सभी विषयों में **[पुण्णंक-कंखी]** पूर्णांक की चाह रखने वाला होता है।

भावार्थ : हे आत्मन् ! जैसे बुद्धिमान मेधावी छात्र सभी विषयों में पूर्णांक प्राप्ति की इच्छा रखता है उसी प्रकार मोक्ष पथ का पथिक प्रत्येक आवश्यक को आदर के साथ पूर्ण करता है। प्रत्येक आवश्यक का महत्त्व बराबर समझते हुए वह सभी आवश्यकों को रुचिपूर्वक समय पर करता है।

मोक्ष का पथिक पूर्णांक की चाह रखते हुए भी पुण्य की चाह नहीं रखता है। पुण्य की चाह नहीं होते हुए भी सर्वाधिक पुण्य भी ऐसे ही अप्रमत्त साधक की आत्मा में बंधता है। जो जितना-जितना अप्रमत्त बनता जाता है पुण्य का बंध उतने ही अधिक अनुभाग के साथ होता है । विशुद्धि से पाप प्रकृति का अनुभाग घटता है। इस सिद्धान्त के अनुसार क्षपक श्रेणी में सूक्ष्मसाम्पराय नाम के दशवें गुणस्थान में पुण्य प्रकृति का अनुभाग सर्वोत्कृष्ट होता है। ऐसी स्थिति में पुण्य कर्म के बंध से वही बच सकता है जो नरक-निगोद में अपरिमित काल तक पचता है।

बिना गुरु के अध्ययन किए कुछ लोग इस पुण्य से ऐसे बचते हैं जैसे विष्ठा को देखकर लोग बचते हैं। ऐसे लोगों ने तो इस पुण्य को विष्ठा कहने में संकोच नहीं किया है। अब बताओ मित्र! इस विष्ठा का लेप आत्मा में और अधिक होने से तो सर्वज्ञ भी नहीं बचा सकते हैं। स्वयं सर्वज्ञ भी जब इससे नहीं बचे तो अपने भक्तों को क्या बचाएँगे? इतना ही नहीं सर्वज्ञ अवस्था में तो जो सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव होता है, वह तो सर्वाधिक मिष्ट, सरस पुद्गल परमाणुओं का होता है । यह आस्रव इतना अधिक सशक्त होता है कि असाता वेदनीय का उदय भी यदि आत्मा में चल रहा हो तो उस असाता वेदनीय का प्रभाव

आत्मा पर किञ्चित् भी नहीं होता है। स्वयं अरिहन्त भगवान् ऐसे ही पुण्य का सेवन निरन्तर कर रहे हैं। स्वयं यह अरहन्त दशा उन्हें पुण्य के फल से प्राप्त हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं कि **'पुण्णफला अरिहन्ता'** अर्थात् अरिहन्त अवस्था पुण्य का फल है । उसी अरिहन्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए लालायित मुमुक्ष पुण्य से इतना बचते हैं जितना कि कोई कुलीन पुरुष नीच पुरुष के घर भोजन करने से बचता हो।

ऐसे पुण्य से बचने वालों को लगता है कि पूजा नहीं करना, आरती नहीं करना, भगवान् की भक्ति नहीं करना, जिनालय, जिनबिम्ब तो मात्र प्रतीक के रूप में मानना, इनकी आराधना से पुण्य बन्ध होता है और पुण्य बंध संसार का कारण है। जैसा पुण्य तैसा पाप। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अरे ! पाप के बंध से तो अज्ञानी भी डर जाता है किन्तु पुण्य बन्ध से डरने वाला तो ज्ञानी ही होता है। ऐसे ही न जाने कितने मनगढन्त प्रलापों से जिनवाणी का अपलाप करने में उन्हें किञ्चित् भी भय नहीं होता।

हे आत्मेच्छो! आचार्यों के अभिप्राय को अनेकान्त दृष्टि से समझने के कारण ही ऐसे एकान्त अभिप्राय जन्म लेते हैं। यदि तुम आत्म कल्याण की इच्छा रखते हो तो कभी भी भगवान् की पूजा-भक्ति से नहीं डरना। समीचीन आयतनों की अति आदर भाव से अर्चना करना। पूजा, अर्चना से जो पुण्यबंध होगा वह कभी भी संसार का कारण नहीं होगा। तुम्हारे लिए इस पंचम काल में भगवान् की पूजा-भक्ति से बढ़कर और कोई दूसरा सरल साधन आत्मा को पवित्र करने का नहीं है । महान् सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक आचार्य सर्वाथसिद्धि में कहते हैं- 'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।' पुण्य की परिभाषा तो देखो- जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र होवे वह पुण्य है । और पाप की परिभाषा है कि जो आत्मा को पुण्य से बचाए वह पाप है। श्रावकबन्धो ! पुण्य से बचोगे तो पाप का ही बन्ध होगा। अरे ! तुम क्या पुण्य के बन्ध से बच सकते हो जब तद्भव मोक्षगामी मुनिराज पुण्य के बंध से नहीं बच पा रहे हैं। ध्यान अवस्था में, शुद्धोपयोग में, शुक्लध्यान की अवस्था में उन्हें पुण्य का अति तीव्र अनुभाग वाला बन्ध हो रहा है। यह कथन सिद्धान्त शास्त्र श्री धवला आदि में स्पष्ट रूप से लिखा है। अरे मुमुक्षु ! जब शुद्धोपयोग में मुनिराज को भी पुण्य बन्ध हो रहा हे तो तुम शुभोपयोग की भूमिका में रहने वालों को पुण्य बन्ध से छुटकारा कैसे मिल सकता है? यदि शुभोपयोग की क्रिया से बचोगे तो एक ही शरण तुम्हारे लिए बचेगी, और वह है अशुभोपयोग की, क्योंकि शुद्धोपयोग अविरत अवस्था में नहीं होता है।

स्वाध्याय करते हुए अहो आत्मा, अहो भगवान् आत्मा! यह भाव कर लो या पूजा, जाप, दान कर लो होना तो शुभोपयोग ही है। स्वाध्याय भी शुभोपयोग की क्रिया है और पूजन भी शुभोपयोग की क्रिया है।

एक बार आचार्य विद्यासागर जी महाराज से एक ऐसे ही निश्चय एकान्तवादी ने आकर पूछा- महाराज! स्वाध्याय करने से ज्यादा बन्ध होता है या पूजन करने से? आचार्य महाराज ने कहा- स्वाध्याय

करने से। जितना बन्ध पूजन करने से होता है उससे तीन गुना बन्ध स्वाध्याय करने से होगा, क्योंकि पूजन तो दिन में एक बार की जाती है किन्तु स्वाध्याय तो तीन बार किया जा सकता है। पूजन में भी पुण्य का बंध है और स्वाध्याय में भी।

श्रावक के लिए स्वाध्याय अति आवश्यक क्रिया नहीं है किन्तु पूजन अति आवश्यक सर्वप्रथम करने योग्य क्रिया है।

कुछ लोग यह भी तर्क देते हैं कि स्वाध्याय परम तप है। तप से संवर, निर्जरा होती है। इसलिए संवर, निर्जरा करने के लिए तप करना चाहिए। सो यह तर्क भी अज्ञानता से भरा है। आचार्यों ने तपसा निर्जरा च' यह सूत्र किसके लिए लिखा है? जो व्रत, समिति, गुप्ति से परिपूर्ण है, उसी महाव्रती के लिए तप निर्जरा का कारण है। बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय भी एक तप है परन्तु यह तप उनके लिए है जो संवर, निर्जरा की योग्यता रखते हैं। संवर-निर्जरा की योग्यता उनके पास होती है जो हिंसा आदि पाँच पापों से सर्वथा सदा काल विरक्त होते हैं। 'संवर सहित करो तप प्रानी मिले मुकति रानी।' निर्जरा भावना में तप करना उनके लिए है जो संवर सहित हैं। संवर पाप आस्रव के रुकने से होता है। जिनके पाप का त्याग नहीं है वह संवर निर्जरा के पात्र नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष के लिए कारणभूत है। आस्रव पूर्वक होने वाली निर्जरा से कोई फल नहीं है। भगवती आराधना, मूलाचार जैसे ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है कि–

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हथिण्हाणं चुंदुच्छिदकम्म तं तस्स ॥

मूला. १०/५२

अविरत सम्यग्दृष्टि का तप भी महागुणकारी नहीं है। उसके निर्जरा से ज्यादा बंध है। अविरत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा हाथी के स्नान की तरह है। जैसे हाथी तालाब में स्नान करके निकलता है तो पुन: तट की धूलि अपने सिर पर डाल लेता है, उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि जितनी निर्जरा करता है उससे ज्यादा कर्म बंध की धूलि आत्मा में बाँध लेता है।

इसलिए स्वाध्याय को परम तप कहकर और पूजन में आनव-बन्ध दिखाकर श्रावक अपने आपको समीचीन मार्ग से वंचित कर रहा है। किसी भी ग्रन्थ की कोई भी पंक्ति उठाकर प्रमाण दिखलाकर अनपढ़ लोगों को भुलावे में डालने का यह कार्य हितकारी नहीं है।

अरे पाठक! पुनः सावधान कर रहा हूँ कि हमारे इस कथन से छल ग्रहण मत कर लेना। यह नहीं सोचना कि श्रावक के लिए स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय करना, खूब करना लेकिन पूजन

करने के बाद करना। पूजन में दोष दिखाकर स्वाध्याय की निर्दोषता बताना उचित नहीं। श्रावक का भी स्वाध्याय आवश्यक है किन्तु पूजन के बाद । स्वाध्याय प्रथम आवश्यक नहीं है किन्तु तीसरा आवश्यक है। स्वाध्याय तो मुनि महाराज के लिए भी आवश्यक नहीं है । षट् आवश्यक क्रियाओं में स्वाध्याय नहीं है। अट्ठाईस मूलगुणों में भी स्वाध्याय नहीं है। यह स्वाध्याय तो मुनिराज का एक तप का अंग है। स्वाध्याय विषय-कषायों के बचने के लिए, इन्द्रिय और चित्त की एकाग्रता करने के लिए किया जाता है। यदि यह एकाग्रता भगवत्पद की भक्ति से भी आती हो तो भी स्वाध्याय किए बिना मुनिराज अपनी आत्मा को पाप-पंक से बचाकर जीवन पर्यन्त संयम का निर्वाह कर सकते हैं।

भव्यात्मन्! निःसंकोच खूब पुण्य का बंध करो। खूब पुण्य की क्रिया करो किन्तु इतना ध्यान रखना कि उस पुण्य से कोई सांसारिक फल की चाह मत करना। पुण्य के फल से अपने आप बिन मांगे जो मिले, उसे मिलने दो। उससे तुम्हें कोई हानि नहीं होगी किन्तु उस पुण्य से संसार वृद्धि की, पुत्र, पुत्री, धन, वैभव, पद की लालसा नहीं करना, तुम्हें किसी न किसी भव में मुक्ति अवश्य मिलेगी। यही इस भावना का सार है।

जो तुम्हें पुण्य के बंध से डराए उस पापी से तुम डरना।

अरे ! बन्धो ! तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर, पाण्डव, राम सदृश महापुरुषों के चारित्र पढ़ो। पाण्डव, राम सदृश महापुरुष तो जिनेन्द्र भगवान् की पूजन-आराधना से ही वनवास काल में प्रसन्न रहे हैं। ये लोग भगवान् के समक्ष अपनी आत्मा का गुणगान नहीं करते थे अपितु भगवान् की आत्मा और शरीर का पुलकित शरीर होकर गुणानुवाद करते थे। इस भक्ति से उनका संसार बढ़ा नहीं किन्तु नष्ट ही हुआ है। इसलिए सम्यक् मार्ग पर चलो। **पहले भक्त बनो फिर भगवान् बनो।**

15. मग्गपहावणा

मार्ग प्रभावना क्या है? यह कहते हैं–

रयणत्तयं हि मग्गो तं पडिवजिऊण रोचेदि पुणो।
सो भवियो खलु मग्गी आसिय तं पहावणा मग्गस्स॥१॥

रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है मारग अन्तर आतम का
इसको प्राप्त करे जो रुचि से तिमिर भगाए आतम का।
भव्य वही जो इस मारग पर हो आरूढ, वही राही
उसी भरोसे मोक्षमार्ग की नित होती है बड़वाही॥१॥

अन्वयार्थ : [रयणत्तयं] रत्नत्रय **[हि]** ही **[मग्गो]** मार्ग है। **[तं]** उसको **[पडिवज्जिऊण]** प्राप्त करके **[पुणो]** पुनः **[रोचेदि]** रुचि करता है **[सो भवियो]** वह भव्य को **[आसिय]** आश्रय करके **[मग्गस्स पहावणा]** मार्ग की प्रभावना है।

भावार्थ : हे मोक्षमार्गिन्! रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। यह मार्ग भीतर है, बाहर नहीं है। बाहर दिखने वाले क्रियाकलाप आत्मा का मोक्षमार्ग नहीं है। यह मार्ग आत्मा से सम्बन्ध रखता है। जो क्रिया-कलाप मोक्षमार्ग की पहिचान हैं उन क्रियाओं को अज्ञानी, मोही जीव जानते ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उन अज्ञानी जीवों के मन को जो रुचता है उसे ही वह धर्म मान लेते हैं।

जो भव्य रत्नत्रय का आश्रय लेकर क्रियावान् दिखता है, उसको ही मोक्षमार्ग कहा है। हे भव्य! संसार से मुक्ति की भावना प्रत्येक आत्मा की नहीं होती है। संवर-निर्जरा करने के लिए मार्ग पर चलने की भावना भी प्रत्येक की नहीं होती है। संवर-निर्जरा तत्त्व का जो इच्छुक होगा वह साधक ज्ञान-ध्यान की प्रधानता रखता है, वही मोक्षमार्गी है।

आत्मन्! रत्नत्रय धारण कर लेना और बात है और रत्नत्रय में रुचि रखना और बात है। रत्नत्रय की प्रकृष्ट भावना ही प्रभावना है। रत्नत्रय तो दिखे नहीं और प्रभावना ही प्रभावना दिखे तो समझना यह स्वनाम की लोकैषणा है। साधक मार्ग की जब प्रभावना करता है तो मार्ग पर चलने वाले लोगों को उससे बल, साहस मिलता है।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

जीवादि पदार्थों का ज्ञान व्यवहार ज्ञान है और आत्मा का मात्र संवेदन होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

राग आदि का परिहार करना व्यवहार चारित्र है और आत्मा का आत्मा में स्थिति हो जाना निश्चय चारित्र है। व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्र व्यवहार रत्नत्रय है। यही व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक् चारित्र निश्चय रत्नत्रय है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्ग उपचार मार्ग है और निश्चय मोक्षमार्ग मुख्य मार्ग है।

निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए जीव आत्मस्थ होते हैं । निश्चय में सब कुछ आत्म रूप होता है। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का विषय आत्मा मात्र होता है। आत्मा को छोड़कर अन्य विकल्प होना, भले ही वह तत्त्व सम्बन्धी हो वह व्यवहार मोक्षमार्ग होता है।

'मुख्योपचार दुभेद यूं बडभागि रत्नत्रय धरें।'

अर्थात् जो मुख्य या उपचार रत्नत्रय धारण करते हैं, वह बड़े भाग्यवान् हैं । ऐसे भाग्यवान् जीव मुनिराज ही होते हैं। रत्नत्रयधारी मुनिराज ही होते हैं । गृहस्थ कभी रत्नत्रयधारी नहीं होता है । रत्नत्रय की पहिचान बाह्य में निर्ग्रन्थ रूप से होती है। बाहर से दिगम्बर हुए बिना रत्नत्रयधारी कहा ही नहीं जा सकता है। जहाँ दिगम्बरत्व नहीं है वहाँ रत्नत्रय नहीं है और जहाँ रत्नत्रय है वहाँ दिगम्बरत्व अवश्य है। यह अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति है।

अरे! प्रिय आत्मन् ! तुम भी बड़भागी बनो। बड़भागी बनना सभी को रुचता है परन्तु श्रावकपने में यह बड़भाग कहाँ? ऐ अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ! एक असंयमी श्रावक यदि अपने आप को रत्नत्रयधारी मानता है तो वह अपने को छल रहा है। ऊपर की भूमिका में जो घटित होता है उसे निचली भूमिका में बलात् मानना मोक्षमार्ग को मिटा देना है।

आज गृहस्थ अपने को रत्नत्रय का अधिकारी मानता है। वह भी सीधा निश्चय रत्नत्रय मानता है, व्यवहार नहीं। व्यवहार रत्नत्रय में तो अट्ठावीस मूलगुणों का पालन, व्रत, समिति आते हैं सो व्यवहार रत्नत्रय तो कहीं से कहीं तक सम्भव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या करें? क्योंकि बिना रत्नत्रय के मोक्षमार्गी नहीं कहला सकते हैं । दुनिया में अपने को मुमुक्ष कहा जाए और मोक्षमार्गी भी न हों, यह कैसे सम्भव है? और फिर शुद्धोपयोग भी बिना रत्नत्रय के नहीं होता है। अपने पास शुद्धोपयोग है, ऐसी सिद्धि नहीं कर पाएँगे तो फिर शुभोपयोग का विरोध करके अपनी ही हानि होगी। ऐसी बिगड़ी दशा को सुधारने का प्रयास कुछ चालाक लोगों ने किया। सीधा अपने को निश्चय रत्नत्रयधारी आत्मा मानो। सीधा अपने में निश्चय मोक्षमार्ग मानो। व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग तो क्रियाकाण्ड है । व्यवहार को मिथ्या सिद्ध

करो। बिना व्यवहार के निश्चय की सिद्धि करो। निश्चय को पहले रखो, व्यवहार को बाद में तो सारी बाजी पलट जाएगी और अपने घर बैठे शुद्धोपयोगी, निश्चय मोक्षमार्गी कहलाएँगे।

देखो! निश्चयैकान्तवादी लोग किस तरह अपने अन्दर निश्चय रत्नत्रय मानते हैं। उनका कहना है कि–

अपनी आत्मा का श्रद्धान होना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। सो अपनी आत्मा का हमें श्रद्धान है। अपनी आत्मा का ज्ञान होने से हमें निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और जितनी देर तक ऐसे आत्मा में उपयोग लगा रहे, लीनता रहे सो निश्चय चारित्र। हो गए तीनों अपनी आत्मा में, इसी को कहते हैं शुद्धोपयोग।

क्या समझे भोले प्राणी? मोही को तो घर बैठे मोक्ष दिखा दो, तो उसे क्या हानि है?

हे आत्मन्! यदि मोक्षमार्ग इतना ही सरल और सुलभ होता तो मुनियों को गृहत्याग करके बावीस परीषह सहन करने का कष्ट क्यों उठाना पड़ता?

हे आत्मन्! जैसे-जैसे आत्मा को उपरिम दशा का अनुभव होता जाता है, उस उपरिम दशा में कोई विशेष व्याख्यान नहीं होता है। उपरिम दशा की परिभाषा बहुत छोटी होती है।

निश्चय में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद ही नहीं है। सब कुछ आत्म रूप होता है। पेय-पानक-ठंडाई की तरह सब कुछ वहाँ एकमेक होता है। जो एकत्व विभक्त आत्मा का अनुभव एकत्व वितर्क नाम के दूसरे शुक्लध्यान में होता है, उस एकत्व, समरसीपने का आनन्द घर बैठे सिद्ध करना आत्मवंचना नहीं तो और क्या है?

निश्चय मोक्षमार्ग पानक की तरह है। जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में से कोई एक भी है वहाँ तीनों होते हैं। निश्चय में आत्मा मात्र का अनुभव है। निश्चय में तीनों अलग-अलग कहे जाने पर भी एक ही स्थिति का भान कराते हैं। जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन है वहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान, निश्चय सम्यक्चारित्र भी है। इसी तरह निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय चारित्र के साथ जानना। इस निश्चय मोक्षमार्ग का प्रारम्भ समस्त व्यवहार को छोड़कर अप्रमत्त अवस्था में ध्यान की स्थिति से होता है। सातवें गुणस्थान से यह निश्चय मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है और बारहवें गुणस्थान तक यह मार्ग चलता है तब कहीं अरिहन्त अवस्था प्राप्त कर आत्म वैभव की मंजिल पाता है।

आचार्य योगीन्दुदेव विरचित 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ एक उच्च कोटि का परम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा की अद्वितीय कृति है। इस ग्रन्थ पर श्री ब्रह्मदेव की संस्कृत वृत्ति ग्रन्थ के हार्द को बड़े सरल शब्दों में नयों की समायोजना के साथ स्पष्ट करती है। इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका आत्मा सम्बन्धी कई भ्रान्तियों को दूर करती है। वर्तमान में एकान्त निश्चय नय का आग्रह श्रावकों में बहुत जोर-

शोर से बढ़ रहा है। उन भ्रान्त आत्माओं को सम्यक् पथ दिखलाने के लिये यह टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम पर श्रद्धा रखने वाले मुमुक्षु को यह बहुत ही पठनीय, मननीय एवं प्रयोजनीय है। परमात्मप्रकाश और उसकी टीका के माध्यम से कुछ ऐसी ही प्रचलित भ्रान्त धारणाओं को दूर करने का यह किञ्चित् प्रयास है।

निकट भव्य जीव की भावना कैसी होती है?

आत्महित के इच्छुक प्रत्येक भव्य जीव की भावना संसार तट के निकट आने पर शुद्धात्मा को जानने, समझने और प्राप्त करने की होती है। जैसा कि ब्रह्मदेव सूरि परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के प्रथम अधिकार के ११वें दोहासूत्र में लिखते हैं–

"भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुधारसपिपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृत-विपरीतनारकादिदुःखभयभीता भव्यवरपुण्डरीका भरत-सगर राम-पाण्डवश्रेणिकादयोऽपि शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति।"

इस टीका से स्पष्ट है कि भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, राम बलभद्र, पाण्डव, श्रेणिक आदि भी भगवान् के समवसरण में शुद्धात्मा को पूछते हैं। ये भव्य आत्माएँ आसन्नभव्य होने के कारण भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना में अनुराग रखते हैं। परमात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृतरस के प्यासे होते हैं। वे इस अमृतरस से विपरीत नरक आदि चार गतियों के दुःखों से भयभीत रहते हैं।

इसलिए परमात्मा के स्वरूप को जानकर अपनी बहिरात्म वृत्तियों को छोड़कर अन्तरात्मा में स्थित होकर शुद्धात्मा की भावना करें, यह प्रत्येक मुमुक्षु का लक्ष्य होता है। ऐसी आत्मरुचि निर्मल आत्मा के भावों से उत्पन्न होती है। इस परमात्मा की भावना को वे महापुरुष तब पूछते हैं, जब अन्य सभी प्रकार के अनुयोगसम्बन्धी प्रश्नों को वह पूछ चुके हों। इस प्रसंग में एक बहुत अच्छी बात भी टीकाकार ने लिखी है कि '**सर्वागमप्रश्नानन्तरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति**' अर्थात् समस्त आगम के प्रश्नों के बाद सब तरह से उपादेय शुद्धात्मा की बात पूछते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक भव्य मुमुक्षु को, ज्ञानी आत्मा को सर्वप्रथम प्रथमानुयोग, फिर करणानुयोग, फिर चरणानुयोग, तदुपरान्त द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। इसी द्रव्यानुयोग में नय, न्याय और अध्यात्म ग्रन्थ भी आते हैं, इसलिए नयज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिए और पूछनी चाहिए।

तद्भवमोक्षगामी इन भरत आदि महापुरुषों की और एकादि भव के उपरान्त नियम से मोक्ष जाने वाले इन आसन्न भव्य जीवों की प्रवृत्ति कैसी होती है? इनका सम्यग्दर्शन सराग है या वीतराग है? इनको शुद्धात्मा की भावना होती है या अनुभूति होती है? इस तरह की जिज्ञासा का समाधान इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १३३ पर कुछ इस तरह है

"शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामह सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तव-रूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति।वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः।"

अर्थात्- शुद्धात्मा की भावना से रहित हुए वे भरत आदि निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धों के गुणस्तवन, वस्तुस्तवन, रूपस्तवन रूप स्तोत्र आदि करते हैं और उनके चरित्र, पुराण आदि को सुनते हैं। तथा इनके आराधक आचार्य, उपाध्याय, साधु जनों की भक्ति से दान, पूजा आदि करते हैं। यह शुभ कार्य विषयकषाय, दुर्ध्यान से बचने के लिए और संसार की स्थिति का छेद करने के लिए होता है। इसी कारण शुभराग का योग होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। फिर इन महापुरुषों के सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व की संज्ञा जो दी जाती है, वह वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व का परम्परा से साधक होने के कारण होती है। वस्तुतः तो उनका सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व नाम का व्यवहार सम्यक्त्व ही है।

इससे स्पष्ट होता है कि–

१. इन महापुरुषों का सम्यक्त्व भी वास्तव में सराग सम्यग्दर्शन है। सराग सम्यक्त्व को ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। इनके सम्यग्दर्शनों को यदि कहीं निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है, तो वह उपचार से है। निश्चित रूप से इनको निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी और उस निश्चय की प्राप्ति का परम्परा से साधक यह व्यवहार या सराग सम्यक्त्व है।

विचारणीय है कि भरत, सगर, राग आदि सभी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हैं। इन क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यग्दर्शन भी सराग सम्यग्दर्शन है, वीतराग नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन वीतराग-चारित्र के साथ होता है। वीतराग चारित्र का गृहस्थ अवस्था में अभाव है। यह वीतराग चारित्र इन्हें मुनि बनने के बाद अवश्य प्राप्त होगा, इसलिए परम्परा से कारण होने से सराग सम्यक्त्व को वीतराग कह दिया जाता है। इससे इस भ्रान्ति का निराकरण होता है कि क्षायिक सम्यक्त्व तो शुद्ध है। उसमें सराग, वीतराग का भेद नहीं करना चाहिए। यदि सराग, वीतराग का भेद न किया जाएगा, तो साध्य-साधक के बीच की भेदरेखा ही मिट जाएगी। कार्य-कारण व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी। जब क्षायिक सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन भी सराग, व्यवहार सम्यग्दर्शन है, तो वर्तमान में होने वाले उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व को निश्चय या वीतराग सम्यग्दर्शन कैसे कहा जा सकता है?

यह भी कितनी विचित्र बात है एक तरफ तो कुछ भगवान् आत्माएँ परम्परा कारण को ही महत्त्व

नहीं देती हैं, मात्र कार्य से पूर्व क्षणवर्ती साक्षात् कारण को ही कारण मानते हैं और इधर अपने सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन सिद्ध करने के लिए उपचार संज्ञा को ही मुख्य संज्ञा मान ली है। जो निश्चय संज्ञा भविष्य में प्राप्त होगी, अभी वस्तुत: वह उसका अधिकारी नहीं है, ऐसे कारण में कार्य का उपचार करके सराग सम्यक्त्व को वीतराग कह दिया है, वह भी उनके लिए जो निश्चित ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं और उसी भव में दीक्षा ग्रहण करके नियम से वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व को प्राप्त करेंगे। जिन्हें इस भव में मोक्ष नहीं है, उन्हें तो कदापि वीतराग सम्यग्दृष्टि उपचार से भी नहीं कहा जा सकता है।

२. इस टीका से यह भी स्पष्ट होता है कि भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी विषय, कषाय, दुर्ध्यान से आत्मा को बचाने के लिए पंच परमेष्ठी की पूजा और दान आदि शुभोपयोग की क्रियाएँ करते रहते थे। यह सराग चेष्टाएँ भी उनके संसार की स्थिति को छेदने के लिए होती हैं। संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति' इस वाक्य से अपनी बुद्धि में यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि **शुभ राग से होने वाली सराग चेष्टाएँ मात्र पुण्यबंध का कारण नहीं होती हैं, किन्तु उनसे संसार की स्थिति का घात भी होता है।** संसार की स्थिति का घात करने वाली दान, पूजा आदि क्रियाओं से यदि कोई गृहस्थ पुण्यबंध के भय से वंचित रहता है, तो उसका सराग सम्यग्दर्शन भी संशय की कोटि में आ जाएगा।

३. इस टीका से यह भी स्पष्ट होता है कि वे महापुरुष क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी स्तुति करते थे, वंदना करते थे और उनके चरित्र, पुराण आदि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को भी भक्ति से श्रवण करते थे। प्रथमानुयोग को मात्र कहानी किस्से कहकर जिनवाणी की अविनय नहीं करते थे।

४. इस टीका से यह भी स्पष्ट होता है कि निश्चय सम्यक्त्व उनके पास गृहस्थ दशा में नहीं होता है। निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व एक बात है। इस क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन की संज्ञा आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक ग्रन्थ में दी है। **'आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्'** अर्थात् वीतराग सम्यक्त्व में आत्मविशुद्धि मात्र रहती है। इसी वार्तिक में लिखा है कि सात कर्म प्रकृतियों का अत्यन्त क्षय होने पर उस क्षायिक सम्यग्दृष्टि के जो आत्मविशुद्धि मात्र रहती है, वह वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। बहुत समय से चली आ रही इस जिज्ञासा का समाधान नहीं मिल रहा था कि क्षायिक सम्यक्त्व क्यों कहा? परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की यह टीका स्पष्टत: इस समाधान को प्रस्तुत करती है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उन भरत आदि को यह संज्ञा उपचार से है, परमार्थ से नहीं, वास्तव में नहीं।

श्री षटखंडागम में इस मार्ग प्रभावना' नाम की भावना को **'पवयणप्पहावणदाए'** नाम से कहा है। इसकी व्याख्या में कहा है कि- प्रवचन प्रभावना से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। आगमार्थ का नाम प्रवचन

है। उसके वर्णजनन अर्थात् कीर्ति विस्तार या वृद्धि करने को प्रवचन की प्रभावना और उसके भाव को प्रवचन प्रभावना कहते हैं। उससे तीर्थंकर कर्म बंधता है।

आगे और भी कहते हैं–

सद्दिट्ठिणाणचरणं झायइ सयं पयच्छदि वा अण्णं।
मग्गपयासुजुत्तो मग्गपहावणा-परो सो हि॥२॥

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरण को जो नित ध्याता ध्यानी है
औरों को उपदेश दे रहा वो भविजन ही ज्ञानी है।
दुर्लभ से दुर्लभतम मारग जिनवर का सब को हो ज्ञात
शिव मारग रत वही सन्त ही स्वयंजगत में हो विख्यात॥२॥

अन्वयार्थ : [सद्दिट्टिणाणचरणं] सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को **[सयं]** स्वयं **[झायइ]** ध्याता है **[वा]** अथवा **[अण्णं]** अन्य को **[पयच्छदि]** प्रदान करता है **[मग्गपयासुजुत्तो]** मार्ग के प्रकाशन में उद्युक्त **[सो]** वह **[हि]** ही **[मग्गपहावणापरो]** मार्ग की प्रभावना में तत्पर है।

भावार्थ : हे आत्मन् ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपनी आत्मा में रुचिपूर्वक ध्यान का विषय बनाना। यह इसलिए कहा जा रहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान मात्र ज्ञान का विषय न बना रह जाए और सम्यक् चारित्र मात्र क्रिया का विषय न रह जाए इसलिए ध्यान में इन तीनों की अनुभूति करो। निश्चय रत्नत्रय से स्वात्मधर्म की प्रभावना करना स्वमार्ग की प्रभावना है। और इस रत्नत्रय को अन्य भव्यात्मा को प्रदान करना जिनधर्म की प्रभावना है। इस तरह जो जीव उद्यत रहता है वह मार्ग के प्रकाशन में उद्यत है। व्यवहार और निश्चय दोनों ही मार्ग हैं। दोनों तरह से धर्म का प्रकाशन करना ही मार्ग प्रभावना है। कहा भी है–

जइ जिणमयं पवजह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्कण विण छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

यदि तुम जिनमत की प्रभावना या प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय में से किसी को मत छोड़ना। क्योंकि एक के बिना तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा और दूसरे के बिना तत्त्व का उच्छेद हो जाएगा।

हे मोक्षमार्गिन् ! व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग का समादर करो। व्यवहार मोक्षमार्ग

झूठा नहीं है। व्यवहार को झूठा कहने पर निश्चय की प्राप्ति कभी नहीं होगी। जब कारण ही असत्य होगा तो कार्य सत्य कैसे होगा? व्यवहार को झूठा कहने से वस्तु व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी। अनेकान्त दर्शन की रीढ़ ही चरमरा जाएगी। अनेकान्त दर्शन उसी को कहते हैं जिसमें प्रत्येक गुणधर्म का समादर किया जाता है। प्रत्येक पहलू, प्रत्येक धर्म दूसरे धर्म की अपेक्षा रखता है। गौण-मुख्य व्यवस्था से यह दर्शन किसी का निराकरण नहीं करता है। यदि वस्तु के किसी एक धर्म को सच्चा कहोगे तो एकान्तवाद का प्रसंग आ जाएगा।

हे विज्ञात्मन्! जो कारण कार्य को सम्पादित कर देता है, उस कारण को झूठा कह देना बहुत बड़ी कृतघ्नता है। आचार्यों की उपकारी दृष्टि देखो कि प्रत्येक द्रव्य के उपकार का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र में किया है। काल द्रव्य, धर्म द्रव्य आदि उदासीन निमित्तों को उपकार के रूप में स्वीकारा है। उपकार व्यवहार में ही होता है निश्चय में नहीं।

कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं करता है, यह निश्चय नय का कथन है। निश्चय नय से एक द्रव्य के गुण किसी द्रव्य के गुणों में अन्तर नहीं कर सकते हैं। निश्चय से कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं करता है। यह कथन भी सच है ऐसा मानना अनेकान्त है और यह कथन ही सत्य है, ऐसा मानना एकान्त है। व्यवहार नय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित करता है । निमित्त कारणता व्यवहार नय से है। इसी व्यवहार की दृष्टि से सिद्ध भगवान् लोकाकाश के अग्रभाग पर स्थित हैं । अधर्मास्तिकाय का उपकार है जो शुद्ध आत्म द्रव्य लोक के अग्रभाग पर अनन्त काल तक स्थिर रहता है। इसी तरह धर्म द्रव्य का उपकार है कि वह सिद्ध भगवान् लोकाकाश से बाहर नहीं गए। इस निमित्त कारणता को यदि हम स्वीकार नहीं करेंगे तो वस्तु तत्त्व की प्ररूपणा अधूरी रहेगी। भगवान् सिद्ध अपने गुणों, अपनी पर्यायों से सतत परिणमनशील हैं, यह निश्चय से सत्य है तो भगवान् सिद्ध धर्मास्तिकाय के अभाव में और ऊपर गमन नहीं कर सकते हैं, यह व्यवहार नय से सत्य है।

निश्चय मोक्षमार्ग अभेद, अखण्ड रूप है तो व्यवहार मोक्षमार्ग भेद, विकल्प रूप है। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है।

श्री समयसार में निश्चय की मुख्यता से कथन होता है। वहाँ लिखा है कि कोई जीव किसी जीव को दुःख नहीं दे सकता है, कोई जीव किसी को सुखी नहीं कर सकता है। निश्चय नय की अपेक्षा से यह कथन सत्य है। वहाँ यह भी लिखा है कि दु:खी और सुखी तो जीव अपने कर्म के उदय से होता है। यह भी सच है किन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है।

जब हम किसी जीव को सुखी बनाने के लिए सहायता कर रहे हों, उसकी हर प्रकार से मदद कर

रहे हों फिर भी वह जीव जब सुखी नहीं हो पाए तो उसके लिए यह सिद्धान्त सत्य है कि कोई जीव किसी को सुखी नहीं कर सकता है। इसी तरह दुःख के विषय में जानना।

व्यवहार नय से आचार प्रधान ग्रन्थों में कहा जाता है कि दूसरों को पीड़ा मत दो। दूसरों को दुःखी मत करो। किसी का दिल मत दुखाओ। किसी का वध मत करो। यह कथन भी सत्य है । यदि इस व्यवहार को झूठा मानोगे तो चारों ओर हिंसा, झूठ आदि पापों का ही बोलबाला होगा, फिर धर्म-अधर्म में अन्तर क्या रहेगा?

जब हम किसी को सुखी होने के लिए सहायता करते हैं तो वह जीव सुखी होते हुए भी देखा जाता है। डॉक्टर, वैद्य के द्वारा रोगी जीव निरोगी होते हुए देखे जाते हैं। यह सच है कि जो जीव अपने आत्मा में साता के उदय से सहित होंगे उन्हीं को सुख मिलेगा। यह सच होते हुए भी आचार्यों ने यह भी कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्मों का उदय होता है। किसी जीव के असाता कर्म का उदय चल रहा है। किसी निमित्त से उसके द्रव्य, क्षेत्र आदि में परिवर्तन कर दिया तो कर्म का उदय साता में भी बदल जाता है। अन्यथा हाथ, पैर दबाने से, अनुकूल भोजन मिलने से रुग्णता दूर कैसे हो जाती है?

कर्म सिद्धान्त में नोकर्म (अर्थात् सहायक सामग्री) के माध्यम से कर्म की उदीरणा का सिद्धान्त कहा है। यह सिद्धान्त व्यवहार नय से सत्य है।

देखो! यशोधर राजा को उसी की पत्नी ने जहर खिला दिया वह मर गया। यहाँ व्यवहार नय से मरण का कारण विषाक्त भोजन और रानी बन गई । इसलिए यहाँ नोकर्म की मुख्यता है जो व्यवहार नय से सच है । भीम को दुर्योधन ने विष खिलाया, उसे कुछ नहीं हुआ। इस दृष्टान्त में निश्चय नय से दुर्योधन भीम की असाता की उदीरणा में निमित्त नहीं बन पाया। इसलिए निश्चय की दृष्टि से यह कथन भी सच है कि जब तक साता का उदय है कोई दुःखी नहीं कर सकता है।

इस विषय में यह भी एकान्त नहीं है कि भीतरी कर्म के उदय से ही वैसे ही नोकर्म मिलते हैं । यशोधर राजा के तीव्र असाता का उदय होना था, या उसका मरण होना था, इसलिए रानी ने उसको जहर खिला दिया। यदि ऐसा एकान्त से मानेंगे तो अकाल मरण नहीं हो सकेगा। यह सिद्धान्त विरुद्ध मान्यता होगी। कर्म की उदीरणा में नोकर्म सहायक है, इस कर्मकाण्ड की अवधारणा में असत्यता सिद्ध होगी।

हाँ, यह कथंचित् सत्य है कि कभी-कभी तीव्र असाता का उदय होता है तो उसी तरह के निमित्त मिलते जाते हैं । यह सर्वथा सत्य नहीं है । इसे कथंचित् सत्य मानना ही उचित है । कभी-कभी निमित्तों के द्वारा तीव्र असाता का उदय भी दूर हो जाता है। यह भी कथंचित् सत्य मानेंगे तभी हम स्याद्वादी और अनेकान्त दर्शन के मर्मज्ञ बन पाएँगे।

कर्मकाण्ड में स्पष्ट लिखा है कि निद्रा की उदीरणा का निमित्त भैंस का दही आदि बासा भोजन है। इससे स्पष्ट है कि यदि हम ऐसा गरिष्ठ भोजन लेंगे तो निद्रा आएगी। अब हम यदि कहें कि भोजन से कुछ नहीं होता है, निद्रा तो निद्रा कर्म के उदय से आती है, सो यह कथन असत्य सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में तत्त्वार्थ सूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए गरिष्ठ भोजन नहीं करना आदि और अहिंसा की रक्षा के लिए दी गई भावनाएँ व्यर्थ सिद्ध होंगी।

हम विचार करें कि ऐसी एकान्त मान्यता से तो भक्ष्य, अभक्ष्य का विचार, सदाचार कैसे पालन होगा और कैसे उसकी रक्षा हो सकेगी।

व्यवहार मोक्षमार्ग को माने बिना व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा और परीषहजय आदि का मतलब नहीं होगा। व्यवहार को सर्वथा हेय और अभूतार्थ मानने पर समस्त मूलाचार आदि ग्रन्थ अप्रयोजनीय सिद्ध होंगे। इसलिए कारण-कार्य व्यवस्था को समझकर उभय मार्ग पर चलकर मार्ग प्रभावना करना चाहिए।

कर्म के उदय में जो होना है, वह तो हमें दिखता नहीं है। यदि कर्म का उदय दिखता होता तो हम निश्चिन्त होकर भले ही बैठ सकते हैं। कर्म का उदय एक जैसा नहीं होता है। कर्म के उदय अनुभाग के अनुरूप फल देते हैं। इन अनुभागों का उदय असंख्यात लोक प्रमाण है। द्रव्य से द्रव्यान्तर होने पर, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने पर, काल से कालान्तर होने पर और भाव से भावान्तर होने पर कर्म के उदय में कथंचित् परिवर्तन होते हैं। कर्म की उदय और उदीरणा में परिवर्तन भावों के निमित्त से होता है। कर्म के संक्रमण, अपकर्षण आदि क्रियाओं से क्या फल मिलने वाले हैं, उन फलों के परिवर्तन को देखकर कर्म क्रियाओं से क्या फल मिलने वाले हैं यह हम नहीं जानते हैं किन्तु उन फलों के परिवर्तन को देखकर कर्म परिवर्तन का अनुमान लगाया जाता है। कर्म के उदय में कार्य अपने आप होगा, इस एकान्त से हम भाग्यवादी बन जाएँगे। जो होना है वह ही होगा, ऐसी सोच से हम अकर्मण्य बन जाएँगे। पुरुषार्थ के बिना कर्मों का अपकर्षण, कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा कभी सम्भव नहीं है । संवर, निर्जरा के बिना मोक्ष त्रिकाल में सर्वथा असम्भव है। इसलिए मोक्ष पुरुषार्थ कहा है, मोक्ष भाग्य नहीं कहा है।

पुरुषार्थ करने का एक पौराणिक उदाहरण द्रष्टव्य है–

एक दिन पोदनपुर में एक साधारण मनुष्य आया। उसने राज्य सभा में पहुँचकर घोषणा की- हे राजन् ! आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर वज्रपात होगा। इसलिए प्राणरक्षा का योग्य उपाय करें। राजा ने उस व्यक्ति के निमित्तज्ञान की परीक्षा ली। उसके निमित्तज्ञान को सही समझकर राजा चिन्तित हो उठा। उसने मन्त्रियों को बुलवाया तथा यह समाचार कह सुनाया। एक मन्त्री ने कहा-

राजन्! चिन्ता की काई आवश्यकता नहीं है। मैं एक लौह मंजूषा में आपको सुरक्षित करके समुद्र में प्रवाहित कर दूंगा। दूसरा मन्त्री बोला- महाराज को विजयार्ध की गुफा में क्यों न सुरक्षित रखा जाय? इन युक्तियों को सुनकर एक अन्य मन्त्री ने कहा- राजन्! मुझे एक सुन्दर कथा का स्मरण हो आया है, उसके आधार पर मेरी युक्ति यह है कि- 'निमित्त ज्ञानी ने कहा है कि- पोदनपुर के राजा के ऊपर वज्रपात होगा। किसी विशेष व्यक्ति पर नहीं।' मेरी राय है कि आगामी सात दिन पर्यन्त तक किसी अन्य को राजा बनाकर सिंहासन पर बैठा देना चाहिए। यह युक्ति शेष मन्त्रियों को भी उचित लगी। सभी ने सर्वसम्मति से राजसिंहासन पर राजा का प्रतिबिम्ब रख दिया। सब ने उसी को 'पोदनपुर का राजा' ऐसी मान्यता दी एवं उसी मूर्ति को नमस्कार भी करने लगे।

पोदनपुर के राजा श्रीविजय धर्मसाधन में निमग्न हो गये। राजा ने निर्धनों को दान दिया। मन्दिरों में शांतिपाठ करवाया। सर्वत्र प्रजाजन पूजा आदि कार्यों में संलग्न हो गए। धीरे-धीरे सप्तम दिवस भी आ गया। निमित्तज्ञानी के अनुसार बिजली राजा के प्रतिबिम्ब पर गिरी। जब समस्त उपद्रव शान्त हो गया तो नगर वासियों ने बहुत धूमधाम से उत्सव मनाया। उस निमित्तज्ञानी को सौ गाँव उपहार में देकर पद्मिनीखेट नाम का क्षेत्र भी दिया।

पुरुषार्थ करने से भाग्य भी बदलता है। पूर्वबद्ध कर्मों के अनुभाग में परिवर्तन होता है। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो कभी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा से धनञ्जय सेठ अपने पुत्र का विष दूर नहीं कर पाता। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो मैना सुन्दरी अपने पति का कुष्ठ रोग जिनगंधोदक और आष्टाह्निक विधान की पूजा से दूर नहीं कर पाती। यदि ऐसा न होता तो पाण्डव कभी भी जलते हुए लाक्षागृह से बाहर नहीं निकल पाते। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो नेमिनाथ विवाह के लिए जाते हुए रास्ता बदलकर सहस्रार वन की ओर नहीं जाते। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो गोम्मटेश बाहुबली की प्रतिमा के अलौकिक दर्शन नहीं हो पाते। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो दुनिया से आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष शास्त्र व्यर्थ होकर अभाव रूप हो जाते। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो मरण समय साधक को निशल्य करने के लिए आचार्यों को प्रेरणा नहीं देनी पड़ती। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो कोई भी क्षपक (सल्लेखना लेने वाला) बारह वर्ष तक निर्यापकाचार्य की खोज नहीं करता। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो बारह व्रत की पाँच-पाँच भावना भाने का और अतिचार रहित व्रत पालने की प्रेरणा नहीं दी जाती। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो कोई भी दुराचार करने पर दण्डित नहीं किया जाता। यदि पुरुषार्थ से ऐसा न होता तो मन्दिर और जिन बिम्ब स्थापन की विधि-विधान के शास्त्र नहीं होते। इस पुरुषार्थ के पीछे भी भाग्य साथ रहता है और भाग्य के आगे चलकर पुरुषार्थ कार्य सिद्धिकारक होता है।

मार्ग प्रभावना में तत्पर कौन है? यह पुन: कहते हैं–

मिच्छत्तं सोहित्ता विस्सासमुप्पाइ यूण मग्गे य।
उवगृहदि परदोसं मग्गपहावणा-परो सो हि॥३॥

पहले जिसने दूर किया है निज आतम का मिथ्या मल
वही दूसरों में भर सकता मारग पर चलने का बल।
दोष छिपाकर गुण प्रशंसकर सम्बल देकर बढ़ा रहा
सन्मारग की प्रभावना का पाठ मौन रह पढ़ा रहा॥३॥

अन्वयार्थ : [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व का [सोहित्ता] शोधन करके **[मग्गे]** मार्ग में **[विस्सासं]** विश्वास **[उप्पाइयूण]** उत्पन्न कराके **[य]** जो **[परदोस]** पर दोष को **[उवगृहदि]** छिपाता है **[सो]** वह **[हि]** निश्चित ही **[मग्गपहावणपरो]** मार्ग प्रभावना में तत्पर है।

भावार्थ : मार्ग प्रभावक साधु साधक में उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य आदि गुण भी होते हैं । मिथ्यात्व और मूढ़ता के भावों से बचकर, जिनमार्ग में विश्वास उत्पन्न कराके अन्य को मार्ग में लगाना भी प्रभावना है। चेतना का यही सबसे बड़ा उपकार है कि उसे सन्मार्ग पर विश्वास हो गया। सन्मार्ग पर लगाकर यदि उस साधक में कोई दोष दिखता है तो उसे छिपाते हुए युक्ति से सन्मार्ग पर स्थिर करना बहुत बड़ी प्रभावना है। इसमें स्व-पर धर्म की भावना वृद्धिंगत होती है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही भव्य जीवों का सही समुद्धार होता है। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महान् आध्यात्मिक, आचार्य ऐसे मुनिवरों की स्तुति करते हैं जिन्होंने दर्शन, ज्ञान के आलम्बन से भव्य जीवों को पार लगाया है। भावपाहुड़ में लिखा है–

धण्णा ते भयवंता दंसण णाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं॥ १५७॥

अर्थात् जिन्होंने विषय रूप समुद्र में पड़े हुए भव्यजीवों को दर्शन, ज्ञान रूपी मुख्य हाथों से पार उतार दिया है, वह मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रदिक से पूज्य ज्ञानी धन्य हैं।

धन्य हैं वह वारिषेण महाराज जो अपने मित्र को जिनदीक्षा देकर अपने पास रखकर धर्मध्यान कराते रहे। जब उस मित्र को अपनी कानी स्त्री की याद में व्याकुल देखा तो उसे स्थितिकरण करने का प्रयोगात्मक मार्ग विचारा । मात्र उपदेशात्मक मार्ग से परिणति सुधरने का कई बार संयोग नहीं बनता है। किसी के लिए उपदेश से स्थिरता आ जाती है, तो कोई प्रयोगात्मक रहस्यमय तरीके से मार्ग पर स्थिर होता है । मुनि वारिषेण का नाम इसीलिए स्थितिकरण अंग में लिया जाता है कि उन्होंने कितनी धैर्य से

एक आत्मा को जगत् की स्थिति का ज्ञान कराकर मोह से अलग किया। बिना बुलाए अपने घर में जाना और अपनी सुन्दर रानियों को बुलावा भेजना। उन्हें अपना कहकर भी उनसे विरक्त रहना और मित्र मुनि की आँखों से मोह का पट्टा हटाकर वापस आ जाना। कितनी बड़ी युक्ति और कितना बड़ा भेद विज्ञान है?

जहाँ स्थितिकरण की भावना है, वहाँ मार्ग प्रभावना अवश्य है । महान् आचार्यों ने, महायोगियों ने यथासम्भव पुरुषार्थ करके मार्ग को सुदृढ़ और निष्कलंक बनाए रखने का प्राणप्रण से प्रयास किया है। एक आत्मा का कितना महत्त्व है जो मोक्षमार्ग पर आया है, वह अब इस मार्ग से डिगने न पाए, यही सच्चा स्थितिकरण और आत्मा की प्रभावना है । भाग्य के भरोसे छोड़ देना उसे रास्ते में लाकर बीच में छोड़ देना है । भटकते हुए उस राही को जिनमार्ग पर भटकना न पड़े, ऐसा पुरुषार्थ करना ही मार्ग के प्रति सच्चा लगाव है।

अहो! वह जिनेन्द्र भक्त सेठ का धर्म और धार्मिक के प्रति गुणानुराग और उपगूहन गुण का उत्कृष्ट उदाहरण भी देखो। चोर क्षुल्लक को अपने मन्दिर में रख लेना। युक्तिपूर्वक उसके पापकृत्य को समझ लेना तथा जगत् में जिनधर्म की निन्दा न हो जाए ऐसा विवेकपूर्ण समाधान देकर धर्म को निन्दा से बचाना। धार्मिक की निन्दा धर्म की निन्दा है । वास्तव में जिनेन्द्र भगवान् का सच्चा भक्त जिनेन्द्र भक्त ही है जो चोर को भी चोर नहीं कहा क्योंकि उसका वेष क्षुल्लक का था। सम्यग्दृष्टि श्रमण हो या श्रावक हो, किसी के अज्ञान दशा में किए गए दुष्कृत्य का ढिंढोरा कभी नहीं पीटता। हे आत्मन् ! मुनियों या आचार्य संघ के विषय में पत्र-पत्रिका और टी.वी. पर निन्दा प्रसारण यदि तुम्हारे निमित्त से हो तो ध्यान रखना वह सच भी असत्य है । वह धर्म का बचाव नहीं, धर्म की हानि करना है। ऐसा करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कदापि नहीं हो सकता है। उपगूहन अंग का पालन करके धर्मप्रभावना का कार्य वही कर सकता है जो अपनी मान बढ़ाई, ख्याति-पूजा से ज्यादा जिनशासन की प्रभावना करने का अनुपम भाव रखता हो।

मार्ग प्रभावना का और भी कारण बताते हैं–

रइऊण णवं सत्थं जिण्णं रक्खेदि पुण पयासेदि।
सुत्तत्थमणुसरंतो मग्गपहावणापरो सो हि॥४॥

जिनवाणी के पोषण हेतू नव श्रुत रचना श्रुत अनुरूप
तथा जीर्ण श्रुत की रक्षा भी नव प्रकाश का भी प्रारूप।
किन्तु सूत्र, पद, अर्थ, भाव को नहीं बदलता एक प्रवाह
धर्म बढ़ाता प्रभावना भी उसकी जग में होती वाह॥४॥

अन्वयार्थ : [णवं सत्थं] नये शास्त्रों की **[रइऊण]** रचना करके **[पुण]** पुन: **[जिण्णं]** जीर्ण की **[रक्खेदि]** रक्षा करता है और **[पयासेदि]** प्रकाशित करता है **[सुत्तत्थं अणुसरंतो]** सूत्र, अर्थ का अनुसरण करता हुआ **[सो]** वह **[हि]** निश्चय से **[मग्गपहावणापरो]** मार्ग प्रभावना में तत्पर है।

भावार्थ : मार्ग की प्रभावना जिनवाणी की रक्षा से होती है। जिनवाणी की रक्षा जीर्ण का उद्धार करने से होती है। जो जीर्ण-जर्जर शास्त्रों का उद्धार करके उनका प्रकाशन कराके बहुत काल तक के लिए उनका संरक्षण करता है, वह अतिशयपुण्य का बन्ध करता है। पुराने शास्त्रों की रक्षा करने के साथ जो नवीन शास्त्रों की रचना करके साहित्य की समृद्धि करता है, वह जिनशासन का उपकारी सरस्वतीपुत्र है। नए शास्त्रों की रचना आगामी इतिहास के लिए नवीन प्रकाश स्तम्भ होती है। यह शास्त्रों की रचना सूत्रार्थ के अनुरूप ही हो । पूर्वाचार्यों के अभिप्राय को गुरु के निकट रहकर जिसने गुरु वचनों को हृदयंगम किया है, वह पुण्यवान जीव ही इस महनीय कार्य में अपना योगदान दे सकता है । जैन दर्शन का साहित्य आज इतना समृद्ध इसलिए है कि पूर्व के समय में प्राचीन आचार्यों, मुनियों, मनीषियों ने इसमें अपना बहुमूल्य समय लगाया है। वर्तमान में अभिनव रचनाओं, प्रामाणिक कृतियों और मौलिक कार्यों की बहुत अधिक कमी है। इसके दूरगामी परिणाम प्रभावना में अवश्य कमी लाएँगे। साहित्य ही समाज की धरोहर होती है । साहित्य का आदर ज्ञानार्जन के बिना नहीं होता है । ज्ञानी, विद्वानों की कमी के कारण ही साहित्य की उपयोगिता में कमी आ रही है। काव्य रसिक, सिद्धान्तवेत्ता, अनेकान्तदर्शी, न्यायवित्, व्याकरणज्ञ, साहित्य समालोचक, अध्यात्ममर्मज्ञ जैसे व्यक्तित्व जब तक समाज में नहीं उभरेंगे तब तक धर्म प्रभावना का कार्य प्राणरहित प्राणी की तरह ढकोसला मात्र बना रहेगा।

हे आत्मन् ! सुना जाता है कि सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम ग्रन्थ पर, अनेक पूज्य, विज्ञ आचार्यों ने टीका, व्याख्या लिखी थी।आज अपने समक्ष वह व्याख्यायें उपलब्ध नहीं हैं । आचार्य श्री वीरसेन जी महाराज ने उन समस्त कृतियों से मिलान करके एक नवीन व्याख्या टीका श्रीधवला नाम से रची। इसी धवला टीका में कुछ प्राचीन पोथियों के नाम मिलते हैं। आचार्यों के भिन्न-भिन्न अभिमत उल्लिखित हैं । आचार्य वीरसेन महाराज ने प्राचीन की रक्षा करते हुए नवीन टीका की रचना कर आज जो हमें ज्ञान प्रकाश दिया है, उस उपकार की महत्ता का वर्णन किसी के वश की बात नहीं है।

ऐसे ही अनेक आचार्यों के अनेक योगदानों की कृतज्ञता हमें रखनी चाहिए। वर्तमान के गृहस्थ विद्वानों ने जो पूर्वाचार्यों की संस्कृत-प्राकृत प्रधान कृतियों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करके हमें दिया है, वह भी स्मरणीय कृत्य है। कुछ विद्वानों ने संस्कृत भाषा का अक्षरशः अनुवाद न करके केवल भावार्थ मात्र दिया है। उनमें कुछ अनुवाद त्रुटिपूर्ण हैं । अनुवादक ने अपने एकान्त अभिप्रायों को भी उसमें जोड़ा है। प्रवचनसार ग्रन्थ पर हेमराज पाण्डे का भाषानुवाद इस दिशा में एक उदाहरण है। यह अनुवाद भ्रमपूर्ण है।

आज के समय का पाठक अपने मतलब के, समझने योग्य प्रवचन को पढ़ने का शौक रखता है। उसे गहराई से वस्तु स्थिति को समझने का मन नहीं होता है। जैनदर्शन का वास्तविक रूप से अध्ययन जिस व्यक्ति का हो जाता है उसे दुनिया अपने से भिन्न प्रतिभासित होने लगती है। उसे अन्य दर्शन की वास्तविकता का बोध स्वतः हो जाता है। दुनिया में शरण योग्य क्या है, अपने आप यह ज्ञान हो जाता है।

हे ज्ञानाराधक! जैसे जीर्ण-शीर्ण जिन मन्दिरों का उद्धार कराने में अपार पुण्य का बन्ध होता है, उसी तरह प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों का उद्धरण कराने का पुण्य होता है। श्री इन्द्रनन्दि सूरि ने लिखा है कि–

जीर्णं जिनगृहं बिम्बं पुस्तक ञ्च सुदर्शनम्।
उद्धार्य स्थापनं पूर्व- पुण्यतो लभ्यमुच्यते॥४९॥

अर्थात्- जीर्ण जिनगृह, जीर्ण जिनबिम्ब, जीर्ण शास्त्र और दर्शनीय स्थानों का उद्धार करके स्थापना करना पूर्व में किए गए पुण्य से प्राप्त होता है।

मार्ग प्रभावना के लिए और आवश्यक सामग्री कहते हैं–

संजमबंधणबद्धो जिणसासण-गुरुजणाणाणिबद्धो।
बद्धो होइ णिबंधो मग्गपहावणा परो सो हि॥५॥

जिनशासन आज्ञा का बन्धन गुरु आज्ञा का भी बन्धन
संयम पालन का भी बन्धन बन्धन माने भाग्य सघन।
बन्धन ही निर्बन्ध मुक्ति का बीज रहा ज्यों तरु एरण्ड
प्रभावना हो जैन धर्म की भाव यही है शुद्ध प्रचण्ड॥५॥

अन्वयार्थ : [संजमबंधणबद्धो] संयम के बंधन में बंधा हुआ और **[जिण-सासण-गुरुजणाणाणिबद्धो]** जिनशासन तथा गुरुजनों की आज्ञा से निबद्ध **[बद्धो]** बद्ध हुआ जीव भी **[णिबंधो]** बंध रहित है [सो] वह [हि] निश्चय से **[मग्ग पहावणा परो]** मार्ग की प्रभावना में तत्पर है।

भावार्थ : जिनशासन से बंधे रहना मार्ग प्रभावना के लिए आवश्यक है । हे भव्य ! जिस मार्ग की प्रभावना में तत्पर हो, पहले उस मार्ग पर तो रहो । जो जिनशासन की आज्ञा है और जो गुरुजनों की आज्ञा है उस आज्ञा को बंधन मत समझो किन्तु बन्धन रहित होने के लिए आवश्यक सहारा समझो। जिनशासन में मूलाचार आदि ग्रन्थों के माध्यम से जो आचरण विधि कही है वही विधि धर्म है । वही बन्धन से बचाने

का उत्कृष्ट अवलंबन है। आज्ञा का बंधन मार्ग का महान् अवलंबन है। जिनशासन की आज्ञा के अनुरूप ही गुरु आज्ञा मान्य होती है। स्वयं उन्मार्ग पर चलने वाले यदि शिष्यों को वैसी ही सीख देते हैं तो वह गुरु आज्ञा उल्लंघनीय है। उन्मार्ग गामी उन शिष्यों की गुरुभक्ति भी स्वार्थ साधनी है, परमार्थदायिनी नहीं है। संयम के बन्धन में जकड़ा हुआ आत्मा निश्चय से मार्ग प्रभावक है।

जो दीक्षा प्रदान करते हैं, वह गुरु हैं। जो विद्या अध्ययन कराते हैं, वह भी गुरु हैं। जो आचार-शास्त्रों की शिक्षा देते हैं, वह गुरु हैं। प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य गुरु हैं। समाधिमरण कराने वाले भी गुरु हैं।

इन गुरुओं के बन्धन में बंधे बिना लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती है। गुरु चित्त को शुद्ध करके साधक को लक्ष्य की ओर बढ़ाते हैं। गुरु आज्ञा बंधन का यह व्यवहार जिनाज्ञा है। जिनाज्ञा निश्चय से आत्महितंकरी है। आज्ञा में रहना अनुशासन है, यही जिनशासन है।

अनुशासन में रहे बिना जब लौकिक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकते तो संसार से उत्तीर्ण होने की बात जिनाज्ञा के बिना कैसे सम्भव है?

मार्ग प्रभावना में तत्पर श्रमण या श्रावक जिनशासन के अनुसार ही चलता है। जिनशासन की आज्ञा में तत्पर रहता हुआ कोई नया शासन बनाने का दम्भ नहीं रखता है। अहो! शुद्धात्मन्! विचार करो, इस हुण्डावसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। उन तीर्थंकरों के द्वारा तीर्थ का प्रवर्तन तो हुआ किन्तु किसी ने अपने अनुसार नया तीर्थ नहीं चलाया। सभी तीर्थंकरों ने जिनशासन को आगे बढ़ाया है। जो नये नाम देकर नयी नियमावली बनाकर अपना प्रभाव जनता में दिखाकर नये मार्ग को चलाये हैं, वे छद्मस्थ जीव जिनशासन का विच्छेद करके गये हैं। अपने नाम के व्यामोह से अपनी अलग पहिचान तीर्थंकरों जैसे महान् पुण्यशाली आत्माओं ने नहीं बनाई तो तुम क्यों जिनशासन में नए भेद डालकर जिनशासन से हट रहे हो। एक तीर्थंकर ने अन्य तीर्थंकर के तीर्थ का कभी खण्डन नहीं किया है। सभी तीर्थंकरों ने एक समान दिव्यध्वनि से जिनशासन को आगे बढ़ाया है। जिनशासन रूपी रथ के चालक बनकर कुछ समय तक चौबीस तीर्थंकरों ने मोक्षमार्ग पर दूसरों को चलाया है और स्वयं चले हैं। जिस किसी ने अपने अहंकार से इस तीर्थ पर अपनी नई छाप लगाने की कोशिश की वे छद्मस्थ जीव तो इस जिनशासन से अलग हो गए हैं। वे स्वयं मोक्षमार्गी नहीं रहे और न दूसरे जीवों के लिए मोक्षमार्ग में सहायक हो सके हैं।

पुन: विचार करो कि 'जिन शासन' में 'जिन' संज्ञा उन आत्माओं की है जिन्होंने इन्द्रियों और कषायों को जीता है। जिन्होंने आत्मा के दुष्कर्मों पर विजय प्राप्त करके 'अर्हन्' पद प्राप्त किया है ऐसे महान् सर्वज्ञ भगवन्तों के शासन को 'जिनशासन' कहा जाता है। सभी तीर्थंकर विशिष्ट संज्ञा, विशिष्ट पुण्य को धारण करते हुए भी 'जिन' इस सामान्य संज्ञा में समाहित हो जाते हैं। इसलिए यह जिन शब्द व्यक्तिवाची नहीं है, क्रियावाची नहीं है किन्तु गुणवाची है।

भगवान् महावीर ने अपने शासन को 'वीरशासन' नाम नहीं दिया। उन्होंने तो 'जिनशासन' की ही महिमा गाई है। उन्होंने दिव्यध्वनि के द्वारा इस कलिकाल के जीवों पर महान् उपकार किया है, इसलिए भक्त लोग उनके प्रथम दिव्यध्वनि के दिन को वीरशासन जयन्ती के रूप में मनाते हैं। परन्तु वह जयन्ती मात्र पंचम काल के २१००० हजार वर्षों के लिए ही है। ऐसा होते हुए भी शासन तो 'जिनशासन' ही है। जिनशासन, जैनशासन, अर्हत्शासन, आर्हतशासन आदि नाम अनन्त चतुष्टय गुणवाची आत्माओं के हैं। यह व्यापक संज्ञा है।

अथवा शास्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते जीवादिपदार्थाः यै स्तत् शासनम् । इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे सर्वज्ञ भगवान् प्रणीत तत्त्वों का या पदार्थों का कथन किया जाता है, वह शासन है । इसके अनुसार अनेकान्तशासन, स्याद्वादशासन, युक्त्यनुशासन आदि नाम जिनशासन के पर्यायवाची बन जाते हैं।

सर्वत्र आचार्यों का उद्घोष इस तरह किया गया है। या तो गुणवाचक 'जिन' शब्द को विशेषण बनाया है या पदार्थ वाचक, वस्तु धर्मवाचक अनेकान्त' जैसे शब्दों को विशेषण बनाया है। पाठकबन्धो ! देखो कुछ सन्दर्भ–

प्रधानं सर्व धर्माणां जैनं जयतु शासनम्- प्राचीन मंगलाचरण

जेण मित्ती पभावेज तंणाणं जिणसासणे- मूला. ८६

जेण अत्ता विसुज्झेज तंणाणं जिणसासणे- मूला. ८५

जिनशासन- माहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना- रत्न. श्रा. १८

आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः- रत्न. श्रा. ७८

नृसुरश्रीप्रसूनस्य जिनशासनशाखिनः- हरि. पु.३/१७६

चउहि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।- दर्शन पा.३०

णहि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।- सूत्र पा. २३

रायादिदोसरहिओ जिणसासण मोक्खमग्गुत्ति।- चारित्र पा.३९

पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो।- भाव पा.७८

परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो - भाव पा.११६

सो तेण दु अण्णाणी जिणसासण दूसगो भणिदो - मोक्ष पा.५६

जिनशासनवात्सल्यभक्तिभारवशीकृतः- ह. पु. ११/१०५

जिनशासन सत्प्रदीपभासुरमूर्तीन् - आचार्य भक्ति २

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्- ईर्या. भ.३

जाणि काणि वि सल्लाणि गरहिदाणि जिणसासणे- बृहत् प्रतिक्रमण

अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।- समयसार

नमोऽनेकान्ताय शान्तये-ई-पथ भक्ति

इत्यादि सन्दर्भो से आचार्य का 'जिनशासन' के प्रति गहरा आस्था भाव जहाँ प्रकट होता है वहीं उसकी व्यापकता का भाव भी प्रकट होता है। कोई भी गुण, क्रिया, धर्म जब वस्तु के एकदेश(अर्थात् किसी हिस्से में, थोड़े क्षेत्र में) में रहता है तो वह 'व्याप्य' कहलाता है और जो सर्वदेश में रहे वह 'व्यापक' कहलाता है। पूर्वाचार्यों ने शासन से पहले जो विशेषण किसी एक क्रिया, एक गुण, एक धर्म का वाचक व्याप्यभूत नहीं है। ज्ञानी साधकों की इस व्यापक, विशाल दृष्टि से ही 'जिनशासन' को गरिमा प्राप्त हुई है और उसके किसी भी तथ्य या कथ्य को तो क्या उस शीर्षक 'जिनशासन' को भी कोई प्रवादी खण्डित नहीं कर पाया।

संसार की चेतन-अचेतन समस्त वस्तुएँ अनेक धर्मात्मक हैं । उस वस्तु का कथन स्याद्वाद शैली से किया गया है। अनेकान्त का द्योतक यह 'स्यात्' शब्द वस्तु के विवक्षित धर्म को कहता है । यह 'स्यात्' शब्द एकान्त का निराकरण करके अनेकान्त का निरूपण करता है। इसलिए स्यात् पूर्वक वाद(या कथन) करना स्याद्वाद है। इस स्याद्वाद के द्वारा ही समस्त पदार्थों का यथार्थ विवेचन होता है। इसलिए शुद्ध-अशुद्ध, चेतन-अचेतन, लोक-अलोक सर्वत्र व्याप्त पदार्थों में यह अनेकान्त धर्म और स्याद्वाद शैली की उपयोगिता है। इसी कारण से आचार्यों ने इस जिनशासन को अनेकान्त शासन या स्याद्वाद शासन कहकर भी पुकारा है। शासन के ये विशेषण व्यापकता लिए हुए हैं। प्रमाण और नयों की युक्ति से वस्तु का जहाँ विवेचन हो वह युक्त्यनुशासन कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र देव ने जिनशासन को 'युक्त्यनुशासन' नाम दिया है। इसी नाम से उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचा है। यह संज्ञा भी व्यापक है। इसी युक्त्यनुशासन ग्रन्थ के अन्त में कहा है कि भगवन् ! आपका यह तीर्थ सर्वोदयी है । अर्थात् समस्त जीवों का अभ्युदय, वैभव बढ़ाने वाला है, इसलिए उन्होंने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' नाम दिया। सर्वोदय शासन भी इसे हम कह सकते हैं यह संज्ञा भी व्यापक है । महान् तार्किक, जिनशासन के मर्मज्ञ, जिनमत के संरक्षक, उद्भट दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र की चिन्तन धारा से ये व्यापक नामकरण भगवान् की भक्तिवश प्रकट हुए। उन्होंने ये संज्ञाएँ, ये नाम जिनशासन की भक्ति में कुलाचे भरते हुए निश्छल हृदय से निःसृत किए हैं। इसी कारण से इन नामों को सभी आचार्यों ने स्वीकारा है। ये सभी विशेषण 'जिनशासन' के गौरव का सर्वांगीण विकास और माहात्म्य दिखलाते हैं।

जिनशासन में श्रमण और श्रावक दोनों धर्मसमान रूप से व्याख्यायित हैं। दोनों धर्मों का पालन करने वाले 'जिनशासन' के भक्त और जिनशासन में दीक्षित कहे जाते हैं। श्रमण और श्रावकों के भक्त की अनेक क्रियाएँ हैं। उन क्रियाओं में 'समाचार' की क्रिया मुख्य है। 'समाचार' से तात्पर्य आपसी व्यवहार से है। श्रावक, क्षुल्लक, आर्यिका, मुनिराज आदि की समाचार की क्रियाओं के भिन्न-भिन्न संज्ञा शब्द हैं। इन शब्दों को बोलते हुए पता चलता है कि यह किस पद पर स्थित है और इसके साथ क्या शब्द बोलकर व्यवहार किया जाता है? इन्द्रनन्दिसूरि ने सभी दों पर आरूढ़ व्यक्ति के लिए अलग-अलग क्रियावाची शब्द कहे हैं।

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणाञ्च वन्दना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते ॥५१॥

अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु को नमोऽस्तु, आर्यिकाओं को वन्दना और उत्तम श्रावकों को इच्छाकार कहा जाता है।

यदि इनमें से किसी एक क्रिया को लेकर शासन नाम दिया जाता है तो वह क्रिया व्यापक विशेषण नहीं बन सकती है। क्रिया विशेषण का प्रयोग भाषा साहित्य में क्रिया की विशेषता बताने के लिए किया जाता है। जैसे कि वह शीघ्र जा रहा है, तो जाने की क्रिया का विशेषण 'शीघ्र' हुआ। वस्तुतः यह विशेषण कभी भी किसी 'संज्ञा' के विशेषण नहीं बनते हैं। कोई भी संज्ञा शब्द सदैव क्रियावान नहीं रहता है। जैसे कि 'जाना' सदैव नहीं होता है, उसी तरह सदैव वन्दना' क्रिया नहीं होती है। जिस समय पर वह क्रिया नहीं हो रही है, उस समय पर वह विशेषण निरर्थक है। नमन करना' भी क्रिया है, यह क्रिया वाची शब्द कभी जिनशासन को पूर्ण अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। जैसे 'जिनशासन' में 'जिन' शब्द सदैव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से अवस्थित है, व्याप्त है, जैसे 'अनेकान्त शासन' का अनेकान्त शब्द सदैव सभी पदार्थ में सर्वत्र, सर्वकाल अवस्थित है, व्याप्त है, वैसे ही नमन' क्रिया सदैव, सर्वत्र व्याप्त नहीं रहती है अतः यह क्रिया शासन का विशेषण बनकर कभी भी उस शासन को गौरान्वित और महत्त्वपूर्ण नहीं बना सकती है। यह नमन क्रिया श्रमण में भी सदैव, सर्वत्र नहीं पायी जाती है। इस क्रिया से तीर्थंकरों, अर्हन्तों, सिद्धों का कोई वास्ता नहीं है। श्रावक आदि सभी की आपसी व्यवहार की क्रियाएँ हैं। आज यदि श्रमण की नमस्कार क्रिया पर शासन बनने का आग्रह है तो कल आर्यिका, क्षुल्लक और श्रावक भी अपनी-अपनी नमस्कार क्रिया के नाम अनुसार एक और नया शासन बनाने का बीड़ा उठा सकते हैं। इस जिनशासन को यदि इन्हीं क्रियाओं से छिन्न-भिन्न करने में आनन्द आ रहा है तो यह भी हुण्डावसर्पिणी काल का एक और दोष समझना।

हे आत्मन् ! जिनशासन की आज्ञा में बंधे रहना ही आज्ञा सम्यक्त्व है। जिनशासन की महिमा का प्रकाशन करना ही प्रभावना है। आचार्य समन्तभद्र देव ने प्रभावना अंग में जिनशासन' की महिमा को दिखाना प्रभावना कहा है। किसी अन्य शासन की महिमा दिखाना प्रभावना नहीं कहा है । जिनशासन की इस आज्ञा में बंधे रहना ही उत्कृष्ट संयम है। अनादि से चले आए इस जिनशासन की जयकार करना ही सम्यग्ज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर, समन्तभद्र आदि प्रामाणिक आचार्यों की परम्परा ने जिस जिनशासन की छाया में स्वयं शीतलता प्राप्तकर अन्य अनेक भव्यों को भी उसी छाया में शीतलता प्राप्त करा कर तथा उसी छाया में बिठाकर आनन्दित किया है, वह 'जिनशासन' पंचम काल के अन्त तक सदैव जयवन्त रहे, जयवन्त रहे, जयवन्त रहे।

मार्ग प्रभावना में रत व्यक्ति की और विशेषताएँ भी हैं–

अणुवीचिभासकुसलो कुव्वंतो अणलसेण सामइयं।
समधम्मे खलु णिरदो मग्गपहावणापरो सो हि॥६॥

विकथा वचन नहीं जो करता आगम के अनुरूप वचन
बिना गिने सामायिक करता मन रहता निरपेक्ष चमन।
साम्य भाव है धर्म हमारा वह ही आतम का सुखकन्द
निरत रहा जोइसी भाव में उसी श्रमण को है आनन्द॥६॥

अन्वयार्थ : [अणुवीचिभासकुसलो] अनुवीचि भाषण में कुशल **[अणलसेण]** बिना आलस्य के **[सामइयं कुव्वंतो]** सामायिक करने वाला **[खलु]** निश्चय से **[सम धम्मे]** समता धर्म में **[णिरदो]** निरत **[हि]** ही **[सो]** वह आत्मा **[मग्गपहावणापरो]** मार्ग प्रभावना में तत्पर है।

भावार्थ : जो श्रमण या श्रावक यद्वा, तद्वा नहीं बोलता है। अशिष्ट, ग्राम्य, असभ्य, भंड वचनों का प्रयोग नहीं करता है, वह ही मनोगुप्ति या वचनगुप्ति का अभ्यासी है । वचन गुप्ति का धारक आत्मा सदैव आगम-अनुरूप वचन बोलने में कुशल होता है। कलह, हिंसा, व्यंग्यात्मक वचन शैली पाप बन्ध की है। मार्ग प्रभावक की यह बहुत ही अनिवार्य कुशलता है कि वह आगमानुसार बोलने वाला हो। प्रभावना और अप्रभावना का मुख्य कारण व्यक्ति की वाक्पटुता है।

हे भव्यात्मन् ! बड़े-बड़े उपवास, व्रत, तप करना एक तरफ और हित-मित-प्रिय बोलना एक तरफ है। बड़े-बड़े तपस्वी भी कषायाविष्ट होकर जब अप्रिय भाषण करते हैं तो तप की प्रभावना भी अप्रभावना में बदल जाती है। विचार करो! आपने दश दिन तक तप किया। लोगों ने आपकी प्रशंसा, भक्ति करके

आपको और जिनधर्म को खूब सराहा। पारणा के दिन अन्त में श्रावक के निमित्त, भोजन के निमित्त, अहंकारवश कषायात्मक प्रवृत्ति कर ली तो सारा किये कराये पर पानी फेर दिया। दश दिन तक जो प्रभावना हुई अन्तिम दिन अप्रभावना में बदल गई। कषाय की परिणति कितनी हानिकारक और अशुभ है कि समस्त शुभ प्रवृत्ति को अशुभ क्षणभर में बना देती है।

हे साधक! गुरु महाराज कहते हैं कि वचन गुप्ति को अहिंसा महाव्रत की भावना में रखा है। अहिंसा की रक्षा के लिए भोजन कथा, स्त्री कथा आदि व्यर्थ कथाओं की विकथा से दूर रहो। दुनिया के व्यवहार और परिवार के प्रपंचों की चर्चा में अहिंसा महाव्रत की भावना कमजोर हो जाती है। मन से अशुभ विचार न करना ही मनोगुप्ति है और वचन में मन ही मन अशुभ व्यापार न चलाना ही वचनगुप्ति है।

फिर सत्य महाव्रत की भावना में अनुवीचि भाषण की भावना कही है। क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भीरुता का त्याग, हास्य का त्याग ये चार भावना त्याग रूप हैं और अनुवीचिभाषण करना विधेय रूप हैं। इसलिए सत्य महाव्रत को पालने के लिए अनुवीचि भाषण करना ही श्रेयस्कर है।

गुरु महाराज कहते हैं कि बोलने से पहले विचार करो कि हम किस लिए बोल रहे हैं। बोलना आकुलता है। हमारा मुख से निकला हुआ एक शब्द एक समय में ही लोकाग्र तक पहुँच जाता है । तरंगायित होते हुए उससे मध्य रास्ते के असंख्य स्थावर, त्रस जीवों का घात भी सम्भव है।

जब हम नहीं बोलेंगे तो हमारा प्रत्येक पल निराकुल और सामायिकमय होगा। श्रमण का साम्य भाव ही चारित्र है । यह चारित्र ही उसका आभूषण है। जिस तरह मैं त्यागी हूँ यह अहंकार भी त्याग देना योग्य है उसी तरह मैंने इतने घंटे की इतनी सामायिक की हैं यह अहंकार भी त्याग देना चाहिए। सामायिक आलस्य और प्रमाद रहित होना चाहिए।

श्रेष्ठ साधक साम्य भाव में रत रहकर निरन्तर सामायिक करता है। सामायिक, सामायिक चारित्र को निर्दोष बनाने के लिए और विशुद्धतर करने के लिए है। सामायिक चारित्र रूपी धन की सुरक्षा के लिए सामायिक ताला है। ताला तभी शोभता है जब हमें धन की महत्ता का ज्ञान हो । बड़ा ताला तिजोरी में ही शोभा पाता है। मार्ग की प्रभावना बहिर्मुखी वृत्ति से नहीं अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से होती है।

कौन मार्ग प्रभावक नहीं है? यह कहते हैं–

केणावि विहाणेण खुधम्मं विराहिऊण चरइ णग्गो।
अंते समाहिरहिओ मग्गपहावणा-परो णेव॥७॥

धर्म ग्रहण कर प्रभावना के हेतु छोड़ता जो निज धर्म
वो मूरख जग-वैद्य बना है रुग्ण कह रहा औषध मर्म।
ज्ञानी जन को हास्य पात्र जो मरण समाधि रहित मुआ
अन्त नहीं खुद का यदि संभला क्या प्रभावना अर्थ हुआ?॥७॥

अन्वयार्थ : [केणावि] किसी भी **[विहाणेण]** विधान से **[खलु]** निश्चित ही **[धम्मं]** धर्म की **[विराहिऊण]** विराधना करके **[णग्गो]** नग्न होकर **[चरइ]** जो प्रवृत्ति करता है **[अंते]** वह अन्त में **[समाहिरहिओ]** समाधि रहित होता हुआ **[मग्गपहावणा परो]** मार्ग प्रभावना में रत **[व]** नहीं होता है।

भावार्थ : जो नग्न श्रमण बनकर किसी भी तरह प्रवृत्ति करता है, जो धर्म की विराधना कर देता है, जो किसी भी तरह ईर्यापथ समिति को छोड़कर गमन करता है, जो एषणा समिति को छोड़कर मन चाहे भोजन में मनमाने ढंग से प्रवृत्ति करता है, जो एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करने में नि:संकोच है, जो प्रतिक्रमण, सामायिक अन्य लोगों को भीड़ में कराता है किन्तु स्वयं नहीं करता है, जो अस्नान व्रत, अपरिग्रह व्रत को महत्त्व न देकर शरीर श्रृंगार से लोगों का मन मोहता है, जो ज्ञात भाव से पाप करके भी खुश होता है, वह मुनिभेष को लजाकर मात्र नग्नमुद्रा धारण करके अपना जीवन निर्वाह कर रहा है। ऐसा नग्न साधु अन्त समय में समाधि के बिना ही मरता है। समाधिमरण के बिना प्राण त्यागने वाला मार्ग की अप्रभावना करता है।

सम्यक् समाधिमरण करने से धर्म की अत्यधिक प्रभावना होती है। सच्ची धर्मभावना दीन-हीन जीवों में किसी साधक का समाधिमरण देखने से ही आ जाती है।

हे श्रमण ! बाह्य जिनलिंग को धारण करके तूने कभी रत्नत्रय की भावना नहीं की, तूने कषायों का दमन करने की भावना नहीं की, तूने जीवों में दया भाव धारण नहीं किया, तूने आत्मा की भावना नहीं की, तूने वैराग्य भावना का चिन्तन नहीं किया, तूने स्त्रियों का अवलोकन त्याग कर शील की रक्षा नहीं की, तूने पूजा-लाभ के व्यामोह में उग्रतप, उपवास आदि किये, तूने मायाचारी से जिनभेष धारण किया, तूने भीतर से मिथ्यात्व, असंयम का त्याग नहीं किया, तूने कभी बारह भावनाओं से चित्त वासित नहीं किया, अरिहन्त, चैत्य और गुरु की भक्ति नहीं की, तूने षोड़शकारण भावनाओं में मन नहीं लगाया, मद छोड़कर, गारव को नहीं जीता, तूने श्रुत अभ्यास में मन नहीं भावनाओं से व्रतों की सुरक्षा नहीं की, तूने जिनवर कथित तत्त्व का अभ्यास नहीं किया, तूने पंच परावर्तन के दु:खों की भावना अन्तःकरण में नहीं की, तूने जिनलिंग को धारण करके भी भावशुद्धि का विचार नहीं किया, ध्यान और स्वाध्याय से आत्मा की भावना नहीं की, तूने जिनवाणी के उपकार को भक्तिपूर्वक नहीं भाया, तूने जिनलिङ्ग की महत्ता को नहीं जाना।

अरे द्रव्य श्रमण! तू अभी तक इसी कारण से भाव श्रमण नहीं बन पाया। अब तू निरन्तर भाव श्रमण बनने की भावना कर। भाव श्रमण से ही श्रामण्य है । भाव श्रमण या भाव लिङ्गी का सातवाँ-छठवाँ और छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान किसी के देखने में नहीं आता है। पहले गुणस्थान के आधार पर जो भाव श्रमण की पहचान बताई थी, वह करणानुयोग के अनुसार जानना । गुणस्थान का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य है । द्रव्यानुयोग के अनुसार और चरणानुयोग के अनुसार भाव पाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जो भावों की प्रधानता पर जोर दिया है, वही भाव श्रमण या भावलिङ्ग है । जो उपर्युक्त क्रियाओं और भावनाओं से आत्मभावना करता है, आचार्य कुन्दकुन्द देव उसे भावलिङ्गी साधु कहते हैं। इस श्रामण्य के बिना अनेक बार कुमरण हुआ है। एक बार सुमरण कर। एक बार समाधि की भावना कर।

महाव्रतों की हानि करके, पराश्रित होकर, अनेक औषधियों का सेवन करके तू कितना और जीने की इच्छा करता है । मूलगुणों की महीनों, वर्षों तक विराधना करके कायर की मौत क्यों मरना चाहता है । वीर मरण की भावना कर। एक बार विधिपूर्वक, निर्यापक गुरु के सान्निध्य में समाधिमरण करने का उत्साह बना। एक बार मरणोत्सव मनाने के लिए तैयारी कर । हजार वर्ष तक लाचार बन कर जीने की अपेक्षा एक दिन शेर की तरह जीना श्रेष्ठ है। अरे श्रमण ! तू एक बार सुमरण करेगा तो प्रभावना का कारण बनेगा। सड़-सड़ कर मर गया तो आगे भी कुयोनियों में पड़कर सड़ना पड़ेगा। आचार्य कुन्दकुन्द देव समझा रहे हैं कि–

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव॥

भाव पा.३२

अर्थात् हे जीव! इस संसार में अनेक जन्मान्तरों में अन्य कुमरण जैसे होते हैं, वैसे तू मरा। अब तू जिस मरण से जन्म-मरण का नाश हो जाय, ऐसा सुमरण अर्थात् समाधिमरण कर।

देख ! आचार्य शान्तिसागर जी, आचार्य ज्ञानसागर जी आदि साधकों ने समाधिमरण करके अपूर्व प्रभावना की है। इस प्रभावना के प्रकरण में समाधिमरण की बात इसीलिए कही जा रही है कि प्रभावना लक्षण वाला यह समाधिमरण बहुत दुर्लभ है। तू प्रभावना करना चाहता है तो सुन, जीवन भर जो प्रभावना की है, उससे कई गुनी प्रभावना, सैकड़ों वर्षों के लिए इस समाधिमरण से होगी। आचार्य पूज्यपाद देव ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है– **'विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिश्र्दुरवापः।'** अर्थात् जो विषयसुख से विरक्त है उसको तपभावना, धर्मप्रभावना और सुख से मरण आदि लक्षणों वाली समाधि बहुत कठिन है।

अब मार्ग प्रभावना नाम की भावना का उपसंहार करते हैं–

धम्मं चरंतं दु अवेक्खमाणो
वच्छल्लभावेण सिणेहचित्तो।
अणाचरंतं करुणाद्दबुद्धी
सम्मंपयासेज यतंजिणुत्तं॥८॥

धर्माचरण निरत भविजन को नेह भाव से लखता है
उनकी संगति की भी इच्छा, वत्सल भाव झलकता है।
धर्माचरण विमुख जग जन से करुणा की बुद्धि धारे
श्री जिनवाणी उन्हें सुनाकर उपकृत करता जन सारे॥८॥

अन्वयार्थ : [धम्मं चरंतं] धर्म का आचरण करने वाले के प्रति **[दु]** तो **[वच्छल्लभावेण]** वात्सल्य भाव से **[सिणेहचित्तो]** स्नेह चित्त हुआ **[अवेक्खमाणो]** उसकी अपेक्षा करता है **[य]** और **[अणाचरंतं]** अनाचार करने वाले के प्रति **[करुणाहबुद्धी]** करुणा से आई बुद्धि वाला होता हुआ **[जिणुत्तं]** जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए **[तं]** उस उपदेश को **[सम्मं]** सम्यक् रूप से **[पयासेज]** दिखाता है।

भावार्थ : धार्मिक जीव को सहधर्मी जीव दो प्रकार के मिलते हैं । १. धर्म का निश्छल भाव से आचरण करने वाले और २. धर्म का आचरण नहीं करने वाले। इनमें पहले वाले जीवों के प्रति धार्मिक का रुझान वात्सल्य भाव और स्नेह से पूर्ण रहता है। ऐसे सधर्मी की वह उपेक्षा न करके अपेक्षा करता है। उसे अपेक्षा भाव से आगे बढ़ाता है। जो धर्म का सम्यक् आचरण न करके अनाचार मार्ग पर बढ़ता है उसे करुणा से अपनी बुद्धि और भावों को आर्द्र करके जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए तत्त्व को दिखाकर समझाता है । यदि वह सधर्मी समझने की मानसिकता वाला हो तो ही कुछ कहे, अन्यथा नहीं। उसके प्रति करुणा बुद्धि रखकर जब उचित अवसर कहने का मिले तो बहुत ही मृदुता के साथ कुछ समझाया जावे अन्यथा उसे सुधारने की जल्दी न करे। स्वयं ही उपदेशक को यदि वह भलाबुरा कहे तो उसे भी सुनने की क्षमता रखें। उतावली करते हुए बाद में उसके बारे में बुरा न कहें । धर्म मार्ग पर स्थितिकरण करने के लिए स्वयं उस बन्धु को बहुत सहिष्णु और हितोपदेश में कुशल होना आवश्यक है। मार्ग की प्रभावना के आयाम बहुत से हैं, दृष्टि को समीचीन रखें।

16. पवयण वच्छलत्त भावणा

जो कुणदि वच्छलत्तं दंसणवरणाणचरणलग्गेसु।
पूयालाहविमुक्को पवयणवच्छलत्त तस्सेव॥ १॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरण में जो भविजन रत रहते हैं
वे भविजन प्रवचन कहलाते उनमें वत्सल धरते हैं।
निश्छल वत्सल भाव कहाता ख्याति लाभ ना पूजा चाह
प्रवचन वत्सलताकाधारक श्रमण चले तीर्थंकर राह॥१॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[पूयालाहविमुक्को]** पूजा-लाभ से रहित होकर **[दसण-वरणाण-चरण लग्गेसु]** दर्शन, श्रेष्ठ ज्ञान चारित्र में लगे जीवों पर **[वच्छलत्तं]** वात्सल्य **[कुणदि]** करता है **[तस्सेव]** उसके ही **[पवयणवच्छलत्त]** प्रवचन वत्सलत्व भावना है।

भावार्थ : हे जीवात्मन्! प्रवचन वात्सल्य नाम की यह सोलहकारण भावनाओं में अन्तिम भावना है। प्रवचन शब्द शास्त्र के लिए आता है और प्रवचन शब्द सहधर्मी भव्य आत्माओं को भी कहा जाता है। यहाँ मोक्षमार्ग पर चलने वाले सभी प्राणी प्रवचन नाम से कहे हैं। इनमें पूजा-ख्याति-लाभ की भावना के बिना निश्छल वात्सल्य रखना प्रवचन वत्सलत्व है।

श्रीधवल ग्रन्थ में कहा है कि- उन प्रवचनों अर्थात् देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टियों में जो अनुराग, आकांक्षा अथवा 'ममेदं' अर्थात् यह मेरे हैं, यह बुद्धि होती है उसका नाम प्रवचन वत्सलता है। उससे तीर्थंकर कर्म बंधता है। इसका कारण यह है कि पाँच महाव्रत आदि रूप आगमार्थ विषयक उत्कृष्ट अनुराग का दर्शनविशुद्धता आदि के साथ अविनाभाव है। अर्थात् यह प्रवचन वत्सलता विशुद्धता आदि के साथ अविनाभाव है। अर्थात् यह प्रवचन वत्सलता दर्शनविशुद्धता आदि शेष गुणों के बिना नहीं बन सकती है। आचार्य अकलंक कहते हैं कि जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन वत्सलत्व है। जो धार्मिकों में स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है।

जो जीव संसार सुख से पराङ्मुख है, वह भव्य जीव ही मोक्षमार्गी है । जो संसार सुख की इच्छा रखता है, वह श्रावक या श्रमण कोई भी हो मोक्षमार्गी नहीं है। जिसने आत्मा को जाना है और उसे ही उपलब्ध करने का उद्यम रखता है वह धर्मात्मा जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में लगे

हुए सभी आत्माओं से स्नेहिल भाव रखता है । सम्यग्दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं, जो इन्हें अपनाता है वह स्वयं भी सम्यक्त्व धारक धर्मात्मा है। ऐसे धर्मात्मा के प्रति अनुराग वस्तुतः उसके सम्यक्त्व आदि गुणों से ही अनुराग है। ये सभी गुण आत्मा में हैं, इसलिए आत्मा से ही अनुराग हुआ। जो इन आत्मिक गुणों में लीन हैं वह पंच परमेष्ठी हैं। पंच परमेष्ठी की वात्सल्य भाव से पूजा, गुणानुराग की भावना भी प्रवचन वत्सलत्व है। कहा भी है–

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥

मोक्ष पा.१०४

अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी आत्मा में ही तिष्ठते हैं, इसलिए आत्मा ही मुझे शरण है। इसलिए पंच परमेष्ठी की शरण में रहना आत्मा की शरण में रहना ही है। इन पंच परमेष्ठी में अनुराग रखना ही आत्मा से अनुराग करना है । पंच परमेष्ठी से वात्सल्य अपनी आत्मा से वात्सल्य है । जो जीव इन आत्मिक गुणों में अनुराग रखता है, उसी के प्रवचन वात्सल्य की भावना है।

यह वात्सल्य भाव शुभ राग है। प्रशस्त राग से भी धर्म होता है। प्रशस्त राग को एकान्त से बंध का कारण मानना बहुत बड़ी भूल है। इस प्रशस्त राग से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है। यह बन्ध स्वयं आत्मा को मुक्त तो कराता ही है, अन्य असंख्य जीवों के लिए भी मुक्ति दिलाता है।

आत्मन् ! प्रशस्त राग उनके लिए संसार का या संसार के कारणभूत कर्म बन्ध का कारण है जो मोक्ष चाहते ही नहीं है। जिन्हें मोक्ष की वाञ्छा है उनके लिए यह अनुराग मोक्ष का ही कारण है। यह अनुराग मोक्ष के लिए बाधक नहीं किन्तु सहायक है।

सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य कारण में कार्य का उपचार करने से धर्म है। कुछ लोग पुण्य को धर्म नहीं मानते हैं और धर्म को पुण्य नहीं मानते हैं। 'शुभ क्रिया में पुण्य होता है, धर्म नहीं। व्रतों से पुण्य होता है, धर्म नहीं। पूजा आदि से पुण्य होता है, धर्म नहीं। इसलिए धर्म करो, पुण्य नहीं। पुण्य तो संसार का कारण है और धर्म कर्मक्षय का कारण है।' ऐसी मान्यता रखने वाले एकान्त निश्चयवादी जीवों का अन्तरङ्ग अभिप्राय कितना कलुषित है? यह इसी बात से ज्ञात होता है कि वे जीव पूजा करते हुए भी हेय बुद्धि से ही पूजा करते हैं । अरे ! पूजक! जब हेय बुद्धि से ही पूजा करना है तो अपना समय क्यों व्यर्थ कर रहा है? हेय बुद्धि से की गई पूजा से तेरी आत्मा में पुण्य का बंध नहीं होगा तो निश्चित ही पाप का बंध ही होगा। क्योंकि पाप और पुण्य दो ही आस्रवगत पदार्थ हैं। यदि तुझे पुण्य हेय है तो निश्चित समझ ले कि तुझे पाप उपादेय हो रहा है। पाप-पुण्य से रहित आत्मा तो उनको उपादेय है जो पाप और पुण्य की समस्त क्रियाओं को

छोड़कर शुद्धात्म स्वभाव में स्थित हैं। ऐसे श्रमणों की शुद्धोपयोग की कर्मरहित स्थिति को तो तू पा नहीं सकता। पुण्य क्रिया रूप शुभोपयोग तेरी मान्यता में हेय है तो अब तेरे लिए एक मात्र शरण अशुभोपयोग की ही है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भाव पा. की गाथा ८३ में पुण्य और धर्म को परिभाषित किया है। कहा है कि–

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ने जिनशासन में पूजादिक में व्रत सहित होने को पुण्य कहा है तथा मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।

सो, इस गाथा को लेकर अन्यथा अर्थ निकालकर अपनी धारणाओं को और दृढ़ करना अभिप्राय को नहीं समझना ही है। विचार करो! यहाँ पुण्य और धर्म को अलग-अलग कहते हुए भी उस पुण्य को हेय तो नहीं कहा है। यह भी इस गाथा से अभिप्राय नहीं निकलता है कि पूजा आदि में, व्रत आदि में धर्म नहीं है । यह तो अपने मन का अर्थ करना है । मोह, क्षोभ से रहित परिणाम क्या अपने आप हो जाता है? मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को 'चारित्र' प्रवचनसार में कहा गया है। इस चारित्र की प्राप्ति में जो कारण हैं, उन कारणों को भी अनेकान्तवादी कारण में कार्य का उपचार करके धर्म मानते हैं, चारित्र मानते हैं।

हे आत्मीय बन्धो ! मोह, क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम पूजा आदि और व्रत आदि के बिना नहीं होगा। कारण के बिना कार्य की कल्पना करना आकाश में कुसुम देखना है। बिना कारण के कार्य का होना बिना मातापिता के पुत्रोत्पत्ति का हर्ष मानना है।

अनेकान्त के दार्शनिक आचार्य कथन विवक्षा से कारण और कार्य को अलग-अलग भी कहते हैं और कारण और कार्य को एकरूप भी कहते हैं। कथंचित् दोनों तरह से कथन पद्धति को अपनाकर वह स्याद्वाद का निरूपण करते हैं। उसमें से मात्र एकान्त अभिप्राय को पुष्ट करने वाले किसी एक कथन को स्वीकारना और अन्य को असत्य कहना एकान्त मिथ्यात्व है।

यदि तुम वास्तव में जानना चाहते हो कि धर्म क्या है? तो प्रवचनसार की आचार्य कुन्दकुन्द की यह गाथा भी पढ़ो–

चारित्तंखलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिहिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

अर्थात् चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है वह साम्य भाव है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम

ही साम्य है। अब समझो ! कि मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम कब होता है? आचार्य अमृतचन्द्र जी और आचार्य जयसेन जी की टीका को देखो। वह कहते हैं कि समस्त चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृति के क्षय से आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होता है वह धर्म है, वही साम्य है। अब सोचो कि यह धर्म कहाँ पर हो रहा है? चारित्र मोहनीय की सभी कर्म प्रकृतियों का अभाव कौन से गुणस्थान में होता है? बारहवें गुणस्थान में । जिसे क्षीणमोह नाम का गुणस्थान कहते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि धर्म तो १२वे गुणस्थान में ही होता है उससे पहले तो पुण्य ही होता है इसलिए छोड़ दो पुण्य को और प्राप्त कर लो सीधा १२वाँ गुणस्थान। इस जन्म में तो यह सम्भव नहीं है।

तो इसका अर्थ क्या लगाएँ? क्या अभी धर्म नहीं होता है? ऐसा भी नहीं है। आज भी धर्म है। और आज भी धर्म ध्यान है। धर्म मोह, क्षोभ के अभाव का ही नाम है। अब जितना मोह, क्षोभ का अभाव आत्मा में हुआ, उतना धर्म हुआ। यह अभाव कैसे होगा? करने से होगा। क्या करने से होगा? पुण्य क्रिया करने से होगा। शुभोपयोग से होगा।

देखो! जब तुम भगवान् जिनेन्द्र देव के दर्शन करते हो, उनकी पूजन करते हो, उनको श्रद्धा से नमन करते हो, तो इन क्रियाओं से जो थोड़ी भी परिणामों में शान्ति आई। थोड़ा मोह, क्षोभ का अभाव हुआ, वही परिणाम आत्मा का धर्म है । यदि तुमने भगवान् की पूजा आदि क्रिया संसार की विषय इच्छा पूर्ति के लिए की तो वह धर्म नहीं हुआ क्योंकि उससे आपकी आत्मा के परिणामों में मोह, क्षोभ(क्षुब्धता, व्याकुलता) की कमी नहीं हुई। बस! आपकी क्रिया पर ब्लेम(blame), दोष लग गया और तुरन्त उसी भाव पाहुड़ की अगली गाथा ८४ में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा–

पुण्णं भोगणिमित्तंण हु सो कम्मक्खय णिमित्तम्।।

अर्थात् इस तरह का पुण्य भोग का निमित्त है, कर्म क्षय का निमित्त नहीं है। यदि आत्मा से कुछ लोभ आदि कषाय कम हो जाती तो कर्म क्षय का निमित्त भी हो जाता किन्तु वैसा हुआ नहीं। इसलिए पुण्य फल की वाञ्छा संसार है और आत्मा का कालुष्य रहित परिणाम धर्म है।

यदि एकान्त से शुभोपयोग की पुण्यात्मक क्रियाएँ, वन्दना, पूजन आदि पुण्य ही देती तो स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव उसी भाव पाहुड़ में भगवान् अरिहन्तों के चरण कमलों की भक्ति करने नहीं बैठते। और उसका फल अष्ट कर्म का क्षय नहीं लिखते। देखो उसी भाव पाहुड़ की गाथा १५३, जो इस प्रकार है–

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मबेल्लिमूलं खणंति वरभाव सत्थेण।।१५३।।

अर्थात् जो जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमल को परम भक्ति और अनुराग के साथ नमन करते हैं वे जीव श्रेष्ठ भावों के शस्त्र से जन्म बेल की जड़ काट देते हैं।

विचार करो! यह भी कुन्दकुन्द की वाणी है, जो परम भक्ति और परम (श्रेष्ठ) राग से भगवान् के चरणों को नमन करने की आज्ञा दे रहे हैं। परम भक्ति से अर्थात् उत्कृष्ट भक्ति के साथ। भक्ति कभी बिना राग के नहीं होती है। इसलिए परम भक्ति-राग के साथ नमन करने को कहा है। क्या हेय बुद्धि से नमन करने में भक्ति राग रह सकता है? हेय बुद्धि से नमन करना तो झूठी क्रिया, झूठी पूजा करना है। यह तो पूजा करने के ढोंग से भी बढ़कर ढोंग है। इस गाथा के भावों से भी स्पष्ट होता है कि परम भक्ति राग ही श्रेष्ठ भाव रूपी शस्त्र है। परम भक्ति में फिर सांसारिक विषयाभिलाषा का कोई स्थान नहीं रह जाता है। यह परम भक्ति राग ही श्रेष्ठ शस्त्र है जो आत्मा के मोहनीय आदि कर्मों की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक फैलने वाली बेल को जड़-मूल से काट देता है। एक अन्तर्मुहूर्त में इतनी अपार कर्म-स्थिति का क्षय हो जाता है। यह परम भक्ति से ही होगा। हेय बुद्धि से ऐसा कभी नहीं होगा।

भक्ति से जब आत्मा की शक्ति बढ़े तो वह भक्ति ही धर्म है। भक्ति से जब कर्म शक्ति बढ़ेगी तो वह अधर्म है। भक्ति शुभोपयोग में ही होती है। राग के साथ ही भक्ति होती है, वीतरागता के साथ भक्ति नहीं होती है। इस अनुराग में, भक्ति में और शुभोपयोग की क्रिया में जब इतनी शक्ति है कि जन्म बेल कट जाती है तो मानतुंग आचार्य के ४८ ताले टूट गये इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

इसलिए भव्यात्मन्! पुण्य और धर्म में अन्तर कथंचित् उनके लिए कहा है जो आत्म परिणामों की ओर ध्यान न देकर मात्र पुण्य बंध के लोभ में पूजा आदि करते हैं। यदि तुम सांसारिक इच्छा पूर्ति के बिना पूजा आदि शुभोपयोग में प्रवृत्ति कर रहे हो तो तुम्हारा पुण्य ही धर्म है। धर्म पुरुषार्थ से ही मोक्ष पुरुषार्थ है। तुम पूजा, व्रत आदि क्रियाएँ खूब करो और उद्देश्य कर्म क्षय का रखो। उद्देश्य आत्म विशुद्धि बढ़ाने का रखो। इसी उद्देश्य से प्रत्येक पुण्य क्रिया धर्म हो जाएगी।

थोड़ा और समझो- काम पुरुषार्थ भी श्रावक के लिए होता है। जानते हो यह पुरुषार्थ नाम तब पाता है जब धर्म के साथ हो। अब काम-भोग की क्रिया में धर्म कहाँ है? पुत्र की उत्पत्ति के अभिप्राय से यह क्रिया धर्म है और मात्र वासना की पूर्ति के साथ यह क्रिया पाप है, अधर्म है। विचार करो! क्रिया एक ही है किन्तु अभिप्राय विशेष के कारण वह धर्म और अधर्म दोनों रूप है। जब पुत्र की उत्पत्ति हुई तो मानो कि धर्म की प्राप्ति हुई। अब यदि कोई कहे कि पुत्र की उत्पत्ति सो तो धर्म है और भोग क्रिया सो तो अधर्म है। इसलिए भोग क्रिया छोड़ो, वह हेय है, पुत्र की ओर देखो, वह उपादेय है। क्या उसे बिना भोग, संयोग के पुत्र की प्राप्ति हो सकेगी? नहीं। सम्यग्दृष्टि श्रावक भी इस क्रिया को पुत्र उद्देश्य की उपादेय बुद्धि से करता है, हेय बुद्धि से नहीं। हेय बुद्धि से यदि क्रिया करने का विधान किया जाएगा तो संसारी जीव वासना को बढ़ाता

जाएगा और कहेगा हम तो हेय बुद्धि से संभोग कर रहे हैं। ऐसा अनर्थ मत कर बैठना। भव्यात्मन्! ख्याति-पूजा-लाभ के बिना स्वाध्याय, वन्दना, ध्यान आदि क्रिया को करके रत्नत्रय की वृद्धि करना भी प्रवचन वात्सल्य भावना है। गुणी जनों से अनुराग तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।

आगे कहते हैं–

दसविहधम्मे णिच्च सागारणगारचरियजुत्तेसु।
विणओ हि जहाजोग्गंपवयणवच्छलत्त तस्सेव॥२॥

दश प्रकार के धर्म भाव में विनय भाव से रमता है
सद्दृष्टि श्रावक साधु की योग्य विनय भी करता है।
विनय भाव वात्सल्य भाव है जो साधक यह जान रहा
प्रवचन वत्सल धारक साधक तीर्थंकर पथ मान रहा॥२॥

अन्वयार्थ : [दसविहधम्मे णिच्चं] नित्य ही दश प्रकार के धर्म में और **[सागारणगारचरियजुत्तेसु]** सागार, अनगार चर्या में युक्त जीवों में **[जहाजोग्गं]** यथायोग्य **[विणओ]** विनय **[हि]** निश्चित ही **[तस्स]** उस जीव की **[पवयणवच्छलत्त एव]** प्रवचन वत्सलत्व भावना ही है।

भावार्थ: हे आत्मन्! जो अपनी आत्मा में दश प्रकार के धर्म को बढ़ाता है, उन धर्मों में अनुराग रखता है वह अपने आत्मा से वात्सल्य रखता है। सागार चर्या से युक्त गृहस्थ श्रावक और अनगार चर्या से युक्त श्रमण संघ में यथायोग्य विनय रखना प्रवचन वात्सल्य भावना है। दश धर्म में रुचि रखना ही धर्म की विनय है। धर्म की और धर्मी की विनय वात्सल्य भावना है।

हे श्रमण! यदि गृहस्थ को यथायोग्य आर्शीवाद देकर उस गृहस्थ की विनय स्वीकार कर लेते हो तो यही उस गृहस्थ की श्रमण द्वारा विनय है। और जब 'धर्मवृद्धि का आशीष दोगे तो तुम्हारी आत्मा में भी धर्मानुराग बढ़ेगा। इसी तरह यथायोग्य क्षुल्लक, आर्यिका, मुनि के विषय में जानना।

अपने से गुणों में बड़े साधुजन के लिए मात्सर्य भाव से रहित हो विनय में प्रवृत्त होना भी प्रवचन वात्सल्य है।

प्रवचन वात्सल्य और क्या है?

भूदेस साणुकंपो णोकम्मकम्मरायदो मुक्को।
सुद्धप्पपेक्खमाणो पवयणवच्छलत्त तस्सेव॥३॥

सब जीवों में करुण हृदय है, दया भाव से सिंचित है
तन नो-कर्म राग से हटकर कर्म राग से वंचित है।
शुद्धातम की छटा निरखता प्रवचन वत्सल धारक है
तीर्थंकर पद पाने हेतु भाव यही शुभ कारक है॥३॥

अन्वयार्थ : [भूदेसु] जीवों में जो **[साणुकंपो]** अनुकंपा सहित है **[णोकम्म-कम्मरायदो मुक्को]** और जो नोकर्म तथा कर्म के राग से मुक्त है **[सुद्धप्प-पेक्खमाणो]** शुद्धात्मा को देखने वाला है **[तस्स एव]** उसको ही **[पवयणवच्छलत्त]** प्रवचन वात्सल्य भावना है।

भावार्थ : जो सभी प्राणियों में अनुकम्पा भाव रखता है, वह सभी प्राणियों के प्रति वात्सल्य भाव रखता है । जीवदया से वासित हृदय सभी जीवों की रक्षा करता है। समस्त आत्माओं को व्यवहार नय से देखकर, जानकर भी निश्चय से उनकी दया भावना से रक्षा करता है। जब वही आत्मा अपने आत्म तत्त्व को देखता है तो निश्चय से अपनी आत्मा पर वात्सल्य भाव रखता है। कर्म और नोकर्म से रहित शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करना निश्चय नय से प्रवचन वात्सल्य है।

जब यह आत्मा शुद्धात्म तत्त्व की रुचि रखता है तब अपनी आत्मा को पुण्य, पाप कर्म से रहित देखता है। शुद्धात्म स्वभाव में स्थिर रहने वाले आत्मा के लिए ही पुण्य और पाप एक समान होता है। लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी दोनों का बन्धन छोड़ने वाला शुद्धोपयोगी श्रमण होता है। उसी के लिए दोनों कर्म समान है। जब तक पुण्यपाप की क्रिया चल रही है तब तक आत्मानुभव नहीं होता है। श्रमण पाप की क्रियाओं से तो जीवन पर्यन्त तक दूर रहता ही है किन्तु पुण्य क्रिया को छोड़क जब शुद्ध नय से मात्र ज्ञानमय आत्मानुभूति करता है तो वह पुण्य, पाप दोनों से उपयोग हटाकर ज्ञान नय में रमता है। यही स्थिति शुद्धोपयोग की है। इसे ही नैष्कर्म्य की दशा कहा है। श्रमण के लिए कहीं शुभोपयोग की क्रिया से ही सन्तुष्टि न हो जाए इसलिए उसे शुद्धोपयोग में रमाने के लिए समयसार आदि ग्रन्थों में प्रेरित किया है। जिन्होंने पाप छोड़ दिया है उन्हें ही पुण्य क्रिया छोड़ने के लिए कहा जाता है ताकि आत्म स्वभाव की अनुभूति हो। जिन्होंने पाप को नहीं छोड़ा है ऐसे श्रावकों के लिए पुण्य छोड़ना कदापि सम्भव नहीं है। जो श्रावक पाप छोड़ने से पहले ही पुण्य छोड़ने का श्रद्धान करता है, वह अक्रम से चलकर लक्ष्य पर पहुंचना चाहता है।

गुरु महाराज ने एक बार कहा कि बताओ! पाप और पुण्य एक हैं या अलग-अलग। उत्तर मिला- एक हैं। फिर गुरु जी ने पूछा- पदार्थ कितने हैं? उत्तर मिला- नौ । गुरु जी ने कहा- आप स्ववचन बाधित हैं । जब आपकी दृष्टि में पुण्य-पाप वास्तव में एक हैं तो पदार्थ नौ क्यों कह रहे हो? पदार्थ आठ होते हैं, ऐसा

कहना था। कितना सटीक तर्क गुरु महाराज ने दिया। वास्तव में यदि पुण्य-पाप एक हैं तो दो पदार्थ पृथक्-पृथक् क्यों कह रहे हैं?

हे आत्मन्! समझ ले यह रहस्य। नौ पदार्थ भी व्यवहार नय से कहे हैं। व्यवहार नय से जब भी पदार्थ की संख्या पूछी जाएगी तो नौ उत्तर ही मिलेगा। यदि कहो कि निश्चय से पदार्थ तो आठ हैं, यह कहना भी मूर्खता होगी। निश्चय से पदार्थ तो एक मात्र आत्मा ही है। यदि पदार्थ नौ नहीं होते तो आचार्य क्यों कहते कि छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ पर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके ज्ञान में पुण्य-पाप व्यवहार नय से भी एक हैं तो उसे नौ पदार्थ पर श्रद्धान ही कहाँ? पाप-पुण्य को सर्वथा समान मान लेने वाले को नौ पदार्थ ही नहीं मान्यता में आए तो उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे होवे?

पाप का पाप रूप श्रद्धान कर, पुण्य का पुण्य रूप श्रद्धान कर तभी पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान कहलाएगा। यहाँ पाप कर्म या पुण्य कर्म के आस्रव की बात नहीं है किन्तु पाप क्रिया और पुण्य क्रिया की बात कही है। पुण्य कर्म के आस्रव को रोकने या निर्जरा करने को नहीं कहा गया है किन्तु पुण्य क्रिया को रोककर आत्मानुभूति करने को कहा है। इसी भाव को छहढाला में इस प्रकार कहा है–

'जिनपुण्य-पाप नहिं कीना, आतम-अनुभव चित दीना'

आचार्य अमृतचन्द्र जी कहते हैं–

'संन्यसतव्यमिदं समस्तमपि तत्कमैव मोक्षार्थिना'

अर्थात् मोक्षार्थी को समस्त शुभाशुभ रूप कर्म से सन्न्यास ले लेना चाहिए। संन्यास कर्म से लेना है या क्रिया से लेना है? क्रिया से संन्यास लेना ही सम्भव है। कर्म से संन्यास लेना अपने वश की बात नहीं है। हाँ! इतना अवश्य है कि बुद्धिपूर्वक आने वाले शुभाशुभ कर्म आस्रव को रोका जाता है, अबुद्धिपूर्वक तो शुभाशुभ कर्म का बन्ध होता ही रहता है।

मोक्षार्थिन्! तुम तो व्यवहार और निश्चय दोनों मार्ग पर वात्सल्य अपनाकर प्रवचनवात्सल्य भावना को भाओ। यथावसर दोनों पहलू का आश्रय लो और तीर्थंकर प्रकृति सदृश पुण्य कर्म का निराबाध बन्ध करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में श्रमण को इन पुण्य-पाप क्रियाओं से दूर होने की प्रेरणा दी है, न कि पुण्य, पाप के कर्म बन्ध से। यह बात अलग है कि क्रिया छूटने पर कर्म बन्ध भी छूट जाता है परन्तु पुरुषार्थ क्रिया से दूर रहने का होता है, कर्म से दूर रहने का नहीं। पुण्य-पाप को एक समान मानकर शद्धात्म ध्यान में लीन होने की पात्रता श्रमण की है। उसी श्रमण के लिए कहा गया है कि अब तू पुण्य क्रिया की इच्छा भी मत कर।

अप्पाणमप्पणा सँधिदूणदो पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि द्विदो इच्छाविरदो य अण्णमि॥१९४॥

अर्थात्- श्रमण पुण्य और पाप के कारणभूत दोनों प्रकार की शुभाशुभ क्रियाओं में अपनी आत्मा को अपने संवेदन ज्ञान के बल से दूर हटाकर दर्शन और ज्ञान में स्थित होता हुआ अन्य द्रव्यों में इच्छा रहित होता है।

शुद्धोपयोग की इस स्थिति में भी ज्ञानावरण आदि पाप कर्म का और साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म का बन्ध तो होता ही रहता है। पाप-पुण्य का यह बन्ध दशवें गुणस्थान तक अनवरत चलता है। ऐसी स्थिति में एक श्रावक यदि पुण्य कर्म के बन्ध से अपने आपको रहित करने की बात कहे तो वह हास्य का पात्र ही है।

प्रवचन वात्सल्य रखने वाले का मन सुन्दर होता है–

चित्तस्स य कालुस्सं धोयदि पवयणवच्छलत्तजलेण।
जो समणो सुमणो सो पवयणवच्छलत्त तस्सेव॥४॥

सहधर्मी स्नेह सलिल से चित्त कलुषता को धोता।
अन्तरमन से कोमल इतना सुमन श्रमण का मन होता।
जिसके मन में प्रेमभाव है, क्षमाभाव है, सुन्दर है
सहधर्मी वात्सल्य भाव ही प्रवचन का नित आदर है॥४॥

अन्वयार्थ : [पवयण-वच्छलत्तजलेण] प्रवचन वत्सलत्व के जल से **[जो]** जो **[चित्तस्स]** चित्त की **[कालुस्सं]** कलुषता को **[धोयदि]** धोता है **[सो समणो]** वह श्रमण **[सुमणो]** श्रेष्ठ मन वाला है **[तस्स एव]** उसका ही **[पवयणवच्छलत्त]** प्रवचन वत्सलत्व है।

भावार्थ : आत्मन्! जिसका मन साधर्मी के प्रति सद्भाव से भरा रहता है, उसके चित्त में कलुषता उत्पन्न नहीं होती है। सहधर्मी को देखकर सदैव हर्षित और प्रफुल्लित होने वाला हृदय ही धर्म को जानता है। मन सहित (अर्थात् समन) तो हर कोई होता है किन्तु फूल की तरह मन वाला(सुमन) कोई-कोई ही होता है। श्रमण का मन सदैव कुसुम की तरह प्रफुल्लित रहता है तभी वह प्रवचन वात्सल्य की भावना निरन्तर भाता है। सहज उत्पन्न हुए मात्सर्य और कालुष्य जनित परिणामों को प्रवचन वत्सलत्व के जल से धोकर अपनी आत्मा को निर्मल बनाए रखना कलिकाल के दोष को जीतना है। विधर्मी से संवाद और

सहधर्मी से विसंवाद होना कलिकाल की विडम्बना है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में अचौर्य महाव्रत की भावना में सधर्मी अविसंवाद की भावना रखी है।

भव्यप्राणिन्! आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि **'समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।'** अर्थात्- शुद्धात्मा परिणत आत्मा ही लोक में सर्वत्र सुन्दर है । ऐसी सुन्दर आत्मा का ध्यान सुन्दर मन वाला ही करता है। कलुषित चित्त तो विक्षिप्त चित्त है। ऐसा चित्त आत्मध्यान में कभी भी एकाग्र नहीं होता है।

हे श्रमण ! सधर्मी की उन्नति से मन मैला नहीं करना। आत्मचिन्तन करना कि- हमारा स्वभाव समतामय है। मलिनता कर्मादय से उत्पन्न हुआ विभाव परिणाम है। कर्म के उदय से सभी जीव अपनी-अपनी उपलब्धियाँ हासिल करते हैं। कोई भी उपलब्धि शाश्वत नहीं है। यह दुनिया तो बैण्ड बाजे बजाने वाले की तरह है, जिसकी बारात में गए उसी के सामने बाजे बजाने लगते हैं। यह दुनिया किसी की न कभी हुई और न होगी। बड़े-बड़े चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसों का नाम यह दुनिया याद नहीं करती तो तू कितना सा नाम-पहचान अर्जित कर पाएगा। अपनी सोच को व्यापक बनाकर तू संकीर्ण विचारों की गलियों से बाहर निकल। **संकीर्ण विचारों की घुटन निश्चय से आत्महत्या है।** तू अहिंसक है- इसलिए 'जिओ और जीने दो' का मन्त्र जाप कर। तेरे मन की मलिनता अवश्य दूर होगी।

आचार्य पूज्यपाद देव कहते हैं कि- आत्मन् ! अपमान-सम्मान उस चित्त के पास होते हैं, जिसका चित्त विक्षिप्त होता है। विक्षिप्त चित्त में साम्य भाव नहीं रहता है। जिसके मन में साम्य भाव नहीं, वह तत्त्व से बहिर्भूत है। अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वम्' आचार्य कहते हैं, अविक्षिप्त मन ही तत्त्व है। अपने आत्मतत्त्व को महत्त्व दो। जिसको अपना महत्त्व ज्ञात है उसे दुनिया में कोई भी विस्मयकारी या महत्त्वपूर्ण नहीं दिखता है। अपने आत्म स्वभाव को विभाव में बदलकर, अपनी आत्मा को कर्म से लिप्त करके और अपने स्वसमय की हानि करके तू रत्नत्रय को मलिन कर रहा है। 'परचिन्ताधमाधमा' अर्थात् पर की चिन्ता आत्मा को अधम से भी अधम बना देती है। हे रत्नत्रयपूतात्मन्! तू ही तत्त्व है, तू ही परमात्मा है, तू ही सर्वशक्तिमान् है, ऐसा अनुभव में ला।

प्रवचन वात्सल्य की भावना कैसे विचारक के मन में होती है, यह कहते हैं–

को वि ण परो णिओ णो सचित्ताचित्तदव्वमज्झत्थो।
सव्वाण सोक्खकंखी पवयणवच्छलत्त तस्सेव॥ ५॥

कोई भी ना अपना जग में कोई नहीं पराया है
सभी अचेतन चेतन पन में समता भाव सुहाया है।

जो सब का सुख चाह रहा है राग, द्वेष से दूर रहे
उसके मन में सहधर्मी से वत्सलता का पूर बहे॥५॥

अन्वयार्थ : [को वि] कोई भी **[परोण]** पर नहीं है **[णिओणो]** अपना भी नहीं है **[सचित्ताचित्तदव्वमज्झत्थो]** जो सचित्त-अचित्त द्रव्यों में मध्यस्थ है **[सव्वाण]** सभी जीवों के **[सोक्खकंखी]** सुख की इच्छा रखता है **[तस्सेव]** उसके ही **[पवयणवच्छलत्त]** प्रवचन वत्सलत्व होता है।

भावार्थ : हे आत्मन्! वात्सल्य का अर्थ दूसरे से स्नेहपूर्ण व्यवहार है। परन्तु यह परिभाषा पूर्ण और स्वाश्रित नहीं है। यदि ऐसा होगा तो जो मुनिराज एकाकी विहार करते हुए पर सम्पर्क से दूर नितान्त एकान्त में रहते हैं, उनके पास प्रवचन वात्सल्य नहीं है, यह सिद्ध होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसी उग्र तपस्या करने वाले श्रमणों को भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। भगवान् आदिनाथ, पार्श्वनाथ आदि जिन महापुरुषों ने पूर्व भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है, वह ऐसे ही श्रमण रहे हैं।

दूसरी बात यदि इस परिभाषा को ही पूर्ण मान लिया जाय तो पराश्रिता बढ़ती जाएगी और इस कलिकाल के श्रमण या श्रावक स्नेहपूर्ण व्यवहार में ही आनन्द मानेंगे। लौकिकता में आकण्ठ डूबा साधु भी कहेगा कि मेरे प्रवचन वात्सल्य की भावना से ये लौकिक लोग मेरे पास मुझे घेरे हुए रहते हैं । यह तो अभिप्राय को न समझने से छल होगा। लौकिक व्यवहार में असंयमी लोगों से सम्पर्क प्रवचन वात्सल्य नहीं है। यदि ऐसा हो जावे तो फिर जितना ज्याद स्नेह होगा उतना ही प्रवचन वात्सल्य की भावना अधिक होगी, किन्तु ऐसा नहीं है । हे श्रमणराज! अपने सधर्मी जन, मुनि आदि मात्र से समाचार के समय स्नेह भाव से युक्त होना और उनकी आपत्ति को दूर करना प्रवचन वात्सल्य नहीं है। विकथा, हँसी मजाक से स्नेहिल व्यवहार करना प्रवचन वात्सल्य नहीं है। इसी प्रकार असंयमी जनों के प्रति राग होना भी प्रवचन वात्सल्य नहीं है। आस्रव की पच्चीस क्रियाओं में यह क्रिया भी वर्जनीय है। इसलिए असंयमी जनों को लुभाना और उनसे राग रखना भी प्रवचन वात्सल्य नहीं है।

यह तो अत्यन्त विशुद्ध भावना है। विशुद्ध भावना से आत्म विशुद्धि बढ़ती है। रागादि से तो मन में संकल्पविकल्प बढ़ते हैं। चूँकि पर को निमित्त बनाकर आत्मा में प्रसाद गुण (सहज प्रसन्नता) होना तो तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण हो सकता है किन्तु रागान्वित होकर व्यवहार करना इस प्रकृति के बन्ध का कारण नहीं होता है।

जो सभी जीवों के सुख की कांक्षा करता है, भावना करता है और अपाय विचय धर्मध्यान करता है, वह प्रवचन वात्सल्य करता है।

ऐसा करने वाल श्रमण या श्रावक सचित्त, अचित्त सभी द्रव्यों में मध्यस्थ रहता है, उसके लिए कोई अपना नहीं, कोई पराया नहीं। 'सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय' की उदार वृत्ति रखने वाला आत्मा ही इस भावना का समीचीन पात्र है।

अब विनय और वात्सल्य में सम्बन्ध दिखाते हैं–

विणओ य वच्छलत्तं परोप्परं वत्थुदो दु एयटुं।
एक्कण विणा णाण्णं तम्हा दोण्णं वि समासेज॥६॥

विनय और वात्सल्य भाव दो, गुण हैं पर सापेक्षित हैं
जहाँ एक है वहीं दूसरा नयन मार्ग सम ऐच्छिक हैं।
दोनों में से एक भाव भी जिसमें उसमें दूजा भी
प्रवचन वत्सलता में रहते प्रेमभाव गुण पूजा भी॥६॥

अन्वयार्थ : [विणओ] विनय **[य]** और **[वच्छलत्तं]** वात्सल्य **[परोप्परं]** परस्पर में **[वत्थुदो]** वस्तुतः **[दु]** तो **[एयट्ठं]** एकार्थवाची हैं **[एक्केण]** एक के **[विणा]** बिना **[णाण्णं]** दूसरा नहीं है **[तम्हा]** इसलिए **[दोण्णं]** दोनों का **[वि]** ही **[समासेज]** आश्रय लेना चाहिए।

भावार्थ : भव्यात्मन्! विनय और वात्सल्य वस्तुत: एकार्थवाची हैं। व्यवहार में इन्हें भिन्न-भिन्न देखा जाता है। विनय में लघुता का व्यवहार होता है पर उसमें वात्सल्य भाव छिपा रहता है। बिना वात्सल्य के विनय चापलूसी होती है। इसी तरह जहाँ वात्सल्य है वहाँ विनय भी है । वात्सल्य में भी घुलना-मिलना होता है, जो बिना झुके नहीं होता है। भावात्मक स्तर पर दोनों एक ही हैं किन्तु क्रियात्मक स्तर पर थोड़ा सा भेद दिखता है।

बड़ों के अन्दर छोटों के लिए वात्सल्य होना भी एक तरह से उनकी विनय करना है। जैसे मुख्य-गौण भाव से वस्तु के भीतर अनेक धर्म रहते हैं, वैसे ही आत्मा के ये दोनों धर्म रहते हैं। एक के बिना दूसरे का अभाव है, इसलिए किसी एक का सहारा लेने से दूसरा गुण भी विकसित होने लगता है।

अपनी भावना का प्रभाव दीर्घायामी इन्हीं गुणों के विकास से होता है। हनुमान के मन में राम-सीता के लिए विनय और वात्सल्य दोनों ही गुण उच्चतम स्तर पर थे, तभी तो सुग्रीव आदि अनेक सेवकों की अपेक्षा हनुमान् का प्रभाव आज तक अबाधित है। भगवान् महावीर के भीतर विश्व कल्याण की अपूर्व भावना का प्रभाव आज तक उन्हें पूज्य और सर्वोपरि बनाये हुए है। जगत् के प्राणिमात्र पर जैसा वात्सल्य भाव तीर्थंकर प्रभु के भीतर होता है वैसा अन्य किसी के पास नहीं होता है।

प्रवचन वत्सलत्व से रहित कौन होता है? यह कहते हैं–

जो हीलदि सहधम्मिं सो हीलदि धम्ममप्पणो साहू।
मच्छरिओ मोक्खरिऊ पवयणवच्छलत्तेण चुदो॥७॥

तिरस्कार सहधर्मी का जो करता है, वह मानी है
ऐसा कर निज धर्म घट रहा ना जाने अज्ञानी है।
ईर्ष्या दाह कलुषता रखकर शिव मारग का शत्रु बना
क्लेशभावसे शिवपथ चलना गिर-गिर पंगुगिरिचढ़ना॥७॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[साहू]** साधुपुरुष **[सहधम्मिं]** सहधर्मी की **[हीलदि]** अवहेलना करता है **[सो]** वह **[अप्पणो]** अपने आत्मा के **[धमं]** धर्म की **[हीलदि]** अवहेलना करता है **[मच्छरिओ]** मात्सर्य से सहित **[मोक्खरिऊ]** मोक्ष का शत्रु **[पवयणवच्छलत्तेण]** प्रवचन वात्सल्य से **[चुदो]** दूर है।

भावार्थ : हे आत्मन्! यह वीतराग भगवान् का कहा मार्ग है। इस मार्ग पर द्वेष, मात्सर्य का किञ्चित भी स्थान नहीं है। जिसने अभी वैर भाव या ईर्ष्या भाव नहीं जीता, वह वीतराग मार्ग पर आरूढ़ कैसे हो सकता है? वीतराग होने से पहले वीतद्वेष होना आवश्यक है। यद्यपि राग, द्वेष साथ-साथ रहते हैं किन्तु मोक्षमार्ग पर द्वेष के बिना राग तो रह सकता है । यह राग प्रशस्त राग है जो मोक्षमार्गी के लिए आवश्यक है। ध्यान रहे कि द्वेष कभी भी प्रशस्त नहीं होता है। किसी के हित की भावना से भी कषायवश मनसा वाचा शरीरेण प्रहार करना भी प्रशस्त द्वेष नहीं है। माँ का पुत्र के लिए ताड़न द्वेष नहीं किन्तु राग की परिणति है । गुरु का शिष्य के लिए ताड़न भी द्वेष नहीं किन्तु प्रशस्त राग की परिणति है। द्वेष में हित नहीं होता है। राग के साथ हित छिपा रहता है। और सुनो ! प्रशस्त राग बढ़ने पर अहित नहीं करेगा और उससे अप्रभावना नहीं होगी किन्तु प्रशस्त निमित्तों में किया गया द्वेष बढ़ने पर अहित करेगा और अप्रभावना करेगा।

प्रशस्त राग के साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बना रहता है। सराग सम्यग्दर्शन, सराग ज्ञान और सराग चारित्र शुभोपयोग की दशा में रहते हैं। सराग रत्नत्रय ही व्यवहार मोक्षमार्ग है। इस सरागता से वीतरागता की प्राप्ति होती है। किसी की अवमानना का भाव द्वेष से आता है। द्वेष से ही मात्सर्य उत्पन्न होता है। हे साधक! जीवन की आधारशिला से द्वेष की कीली निकाल फेंको । समिति-गुप्ति-व्रत-नियम से फले फूले संयम वृक्ष की जड़ों में ईर्ष्या का कीड़ा नहीं लगने दो। 'अप्रभावना से बचो तो प्रभावना हो जाएगी।' आचार्य गुरुदेव का यह मूलमन्त्र वृद्ध गुरु परम्परा से आया है। प्रवचन वात्सल्य से ही ऐसे सूत्र शिष्यों के हितार्थ गुरु-मुख से निःसृत होते हैं।

आचार्य समन्तभद्र देव का यह वाक्य सदैव स्मरणीय है कि- **'न धर्मो धार्मिकैर्विना'** अर्थात्- धर्म धार्मिक के बिना नहीं होता है। धार्मिक की निन्दा और अवहेलना से तो अपने आत्मधर्म की अवहेलना होती है। ऐसा विचार कर प्रवचन अर्थात् सधार्मिक जनों से वात्सल्य भाव की भावना करो।

अब इस प्रवचन वत्सलत्व की भावना का उपसंहार करते हैं–

सम्मत्तसुद्धो समदासमेदो वच्छल्लभावेण सुहोवजुत्तो।
तेलोक्कजीवाणसुहाकरं सो कम्मं समायादि हु मोक्खमग्गी॥८॥

जो विशुद्ध समकित भावों से समता सुख में डूब रहा
प्रेम भाव सब आतम पर रख शुभ भावों में खूब रहा।
इसी भाव से आतम बांधे तीन लोक सुखकारक कर्म
जिसके उदय फलों में होता जगजीवोंकोअनुपम शर्म॥८॥

अन्वयार्थ : [मोक्खमग्गी] जो मोक्षमार्गी जीव **[सम्मत्तसुद्धो]** सम्यक्त्व से शुद्ध **[समदासमेदो]** समता से सहित और **[वच्छल्लभावेण]** वात्सल्य भाव से **[सुहोवजुत्तो]** शुभोपयोग से सहित है **[सो]** वह **[हु]** निश्चित ही **[तेलोक्क जीवाणसुहाकरं]** त्रैलोक्य के जीवों को सुख का आकर **[कम्मं]** कर्म का **[समायादि]** आस्रव करता है।

भावार्थ : मोक्षमार्गी जीव ही इन षोड़श कारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन कही है। सम्यग्दृष्टि जीव अविरत अवस्था में भी भावों की विशुद्धि से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। सम्यक्त्व की विशुद्धि से इस कर्म प्रकृति का आस्रव होता है। समत्व भाव से सहित जीव शुद्धोपयोग के निकट होता है। प्रवचन वात्सल्य के शुभ राग से वह शुभोपयोगी भी यदि होता है, तो इस भावना के प्रभाव से इस महान् पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है। यह कर्म सभी द्रव्य कर्म में अतिशय पुण्य वाला कर्म है। इस कर्म के फल से तीर्थंकर के तीर्थ की प्रवृत्ति चिरकाल तक होती रहती है। इस कर्म का उदय अरिहन्त दशा प्राप्त कर लेने पर तेरहवें गुणस्थान में होता है। अरिहन्त दशा में यह कर्म अपना सही फल देता है। अरिहन्त दशा से पूर्व जिस भव में इस कर्म का उदय आना निश्चित है, उस मनुष्य पर्याय में गर्भ से पहले ही कर्म का प्रभाव दिखने लगता है। सत्त्व दशा में रहकर भी कर्म का प्रभाव इतना तीव्र होता है कि गर्भ में आने के छह मास पूर्व से ही माता-पिता के आंगन में रत्नवृष्टि होने लगती है। यह रत्नवृष्टि पन्द्रह मास तक प्रतिदिन तीनों संध्या कालों में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की होती है। जन्म के समय इन्द्र का ऐरावत हाथी से आना, बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाना और अभिषेक कराके

वापस लाना, माता-पिता को पुत्र सौंपकर हर्षित होकर ताण्डव नृत्य करना, तदनन्तर देवों का आना, तप कल्याणक मनाया जाना। यह सब अरिहन्त अवस्था से पूर्व की अवस्था में उस कर्म प्रकृति के उदय नहीं होने पर भी फल दिखने लगते हैं। इतना ही नहीं जो जीव तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व के साथ नरक पर्याय में दुःख भोग रहे हैं आगामी मनुष्य पर्याय की आयु बन्ध का काल जब नरक में आता है तो नरक में अन्त के छह मास पर्यन्त देव लोग वज्रकपाट की रचना करके उन्हें नरक के दुःखों से बचाते हैं।

ऐसे सर्वातिशय पुण्य बन्ध का कारणभूत कर्म का आस्रव समस्त भव्य जीवों के लिए सुख का भण्डार है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी इस कर्म की प्रशंसा करते हुए भाव पाहुड़ में लिखा है कि–

विसय विरत्तो समणो छ।सवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयर णाम कम्मं बंधइ अइरेण कालेण॥

भाव पाहुड़ ७९

अर्थात् विषयों से विरक्त श्रमण सोलह कारण भावनाओं को भाकर शीघ्र ही तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लेता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इस काल में भी तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का उल्लेख किया है, इसलिए यह सम्भावना की जाती है कि आज भी इस पंचम काल में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। अन्य किसी के लिए यह सम्भव हो या न हो किन्तु विषयों से विरक्त श्रमण के लिए यहाँ अवश्य कहा गया है । इस पंचम काल में भी ऐसे विषय विरक्त श्रमणों की इतनी पवित्र मनोदशा है और पंचम काल के अन्त तक भी बनी रहेगी। उन वीतराग श्रमणों के चरणों में यह वीतराग श्रमण प्रणाम करके इस कृति को पूर्ण करके अपार आनन्द का अनुभव कर रहा है। इस आत्मा को आनन्द, कार्य की पूर्णता का नहीं आ रहा है किन्तु इन पवित्र भावनाओं के आलम्बन का आ रहा है, जिससे शुभोपयोग के ये क्षण उत्कृष्ट प्रशस्त भावों से गुजरते हुए शुद्धोपयोग को स्पर्श करने में सहायक हुए हैं।

आचार्य गुरुदेव के चरणों में ११ फरवरी १९९८ को दीक्षा धारण करके गुरु वात्सल्य की अद्भुत छाया में इस आत्मा ने भव सन्तापित मन को अतीव शान्ति के प्रसाद से भर लिया। १९ मई २००७ को पावन सिद्ध क्षेत्र श्री सम्मेद शिखर जी के लिए गुरु चरणों से दूर होकर २०१० में बीनाबारहा में विराजमान गुरु चरणों में पुन: आते समय महावीर जयन्ती के बाद बण्डा(सागर) के शान्तिनाथ जिनालय में दोपहर सामायिक के उपरान्त सोलह कारण भावनाओं को मूल प्राकृतगाथा में १ अप्रेल २०१० से लिखना प्रारम्भ किया। तदुपरान्त गुरु चरणों में पहुँचकर १३ दिन तक गुरु सान्निध्य के साक्षात् प्रभाव से आत्मा के सामायिक चारित्र सम्बन्धी लब्धिस्थानों को बढ़ाकर पुनः गमन करते हुए सहजपुर, तेंदुखेड़ा(राजमार्ग) से होकर करेली के अल्प प्रवास में २७ जून २०१० को १३० प्राकृतगाथा मात्र लिखने का यह कार्य पूर्ण हुआ।

२०१० ई. का वर्षायोग नरसिंहपुर में सम्पन्न हुआ। तदुपरान्त २०११ ई. के घंसौर(सिवनी) वर्षायोग में इस ग्रन्थ का अन्वयार्थ, भावार्थ लिखने का भाव हुआ, ताकि हिन्दी भाषी समस्त भव्य जीवों के लिए भी यह ग्रन्थ स्वाध्याय में सहायक हो। उस दिन एक अद्भुत संयोग ११-११-२०११ का था। तदुपरान्त यथासमय इस कार्य को गति मिलती रही। बरेला' नगर में ग्रीष्म प्रवास के समय तक यह कार्य चलता रहा । सभी गाथाओं का पद्यानुवाद करने का भाव भी हुआ सो वह भी पूर्ण हो गया। इस तरह मूल प्राकृतगाथा, उनका हिन्दी में पद्यानुवाद, अन्वयार्थ और भावार्थ के साथ यह ग्रन्थ श्रुतपंचमी २६-५-२०१२ को 'बरेला' में परिसमाप्त हुआ। सोलहकारण भावना' से सम्बन्धित यह ग्रन्थ सभी भव्य जीवों को अपार पुण्य की प्राप्ति कराके उन्हें जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की सम्पत्ति से भर दे, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ परम पूज्य आचार्य श्री गुरुदेव के कर कमलों में समर्पित उन्हीं के ज्ञान-विद्या-वारिधि-सम्प्राप्त-लेशशब्द-शिल्पाकृतिरचना 'तित्थयर भावणा'।

श्रुतपंचमी

२६-५-१२

बरेला(जबलपुर)

(म.प्र.)